

जैन न्याय प्रदीपिका

लेखक

प्रो. वीरसागर जैन

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110016

ई-मेल : veersagarjain@gmail.com

मोबाईल : 9868888607

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003

जैन न्याय प्रदीपिका

लेखक : प्रो. वीरसागर जैन
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली
मुद्रक : आर.के. ऑफसेट, दिल्ली-110032
संस्करण : श्रुतपंचमी, 2022 ई., 1000 प्रतियाँ
मूल्य : 335/- रुपये

© लेखक के पास सर्वाधिकार सुरक्षित

JAIN NYAY PRADEEPIKA

Writer : Prof. Veersagar Jain
Publisher : Bhartiya Jnanpitha, 18, Institutional Area, Lodi Road,
New Delhi-110003
Printed at : R.K. Offset, Delhi-110032
Edition : 1st May, 2022, 1000 Copies
Price : Rs. 335/-

अनुक्रम

प्राक्कथन	5
1. जैन न्याय का प्राथमिक परिचय	13
2. न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता	19
3. न्यायशास्त्र के अध्ययन की दैनिक जीवन में उपयोगिता	30
4. जैन न्याय का वैशिष्ट्य	33
5. जैन न्याय ग्रन्थों का सूचीकरण	35
6. जैनदर्शन में संशय का स्वरूप	45
7. जैनदर्शन में ज्ञानमीमांसा	51
8. जैनदर्शन में चेतना एक, नाम अनेक	54
9. क्या दर्शनोपयोग अप्रमाण है?	56
10. क्या धारावाहिक ज्ञान अप्रमाण है?	59
11. प्रमाण क्या है— ज्ञान या आत्मा?	61
12. सभी प्रमाणों से एक वस्तु का ज्ञान	63
13. असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्	65
14. अन्य दर्शनों के ज्ञान की आवश्यकता	68
15. वैशेषिक दर्शन की पदार्थ-व्यवस्था	73
16. सूत्र के बत्तीस दोषों का संक्षिप्त विवेचन	84
17. आप्तमीमांसा : एक अनुशीलन	91
18. अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी : एक संक्षिप्त विवेचन	107
19. स्याद्वाद : निष्पक्ष विद्वानों की दृष्टि में	110
20. सभी शास्त्रों में मिलता है स्याद्वाद	117
21. स्यात् पद का महत्त्व	119

22. स्याद्वाद : कतिपय प्रश्नोत्तर	122
23. अनेकान्तदृष्टि से सामाजिक सौहार्द	127
24. आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के ज्ञान की उपयोगिता	134
25. समयसार में न्यायशास्त्र के प्रयोग	139
26. सर्वज्ञसिद्धि	144
27. सर्वज्ञसिद्धि : महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर	150
28. ख्यातिवाद : प्रमेयकमलमार्तण्ड के प्रकाश में	156
29. जैनदर्शन की कारण-कार्य-व्यवस्था	161
30. चतुरंग वाद	166
31. जैनदर्शन में अभाव की अवधारणा	168
32. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में हेतु एवं हेत्वाभास	174
33. पृथक्त्वैकान्त की समीक्षा	181
34. प्रमेयरत्नमाला में प्रतिपादित बौद्धदर्शन	185
35. जैन न्यायग्रन्थों में उपलब्ध सूक्तियाँ	191
36. न्यायविद्या की प्रगति कैसे हो?	194
37. न्यायशास्त्र के अध्ययन से लाभ	199
38. मिथ्यात्व के नाश में न्यायशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता	206
39. अज्ञान ही दुःख का मूल कारण है	211
40. धर्म, दर्शन और न्याय में अन्तर	216
41. आधुनिक युग के प्रमुख जैन नैयायिक	220
42. साधन और कारण में अन्तर	226
43. प्रमेय का स्वरूप	229
44. निक्षेप-विमर्श	237
45. जैन न्याय परिचर्चा	250
46. प्रकीर्णक	268
47. जैन न्याय का संक्षिप्त लक्षणकोश	280
48. जैन न्याय का संक्षिप्त शब्दकोश	284
परिशिष्ट : विद्यार्थी के षट् आवश्यक	287

प्राक्कथन

जैन न्याय मेरा प्रिय विषय है। मैंने इस विषय पर हजारों कक्षाएँ ली हैं और न्याय-मन्दिर, आप्तपरीक्षा-व्याख्या आदि कुछ कृतियाँ भी लिखी हैं, जिनसे आप सब परिचित ही हैं।

इसके अतिरिक्त मैंने समय-समय पर अनेक लेख भी जैन न्याय से सम्बन्धित लिखे हैं। प्रस्तुत कृति 'जैन-न्याय-प्रदीपिका' में मेरे इन्हीं लेखों का संग्रह है। यद्यपि अभी भी मेरे पास अनेक लेख और बचे हैं, परन्तु वे अभी आधे-अधूरे-से हैं, उनमें संशोधन, परिवर्द्धन आदि होना है, अतः उन्हें बाद में कभी संकलित किया जाएगा।

'जैन-न्याय-प्रदीपिका' के ये सभी लेख कोई क्रमशः नहीं लिखे गये हैं, अपितु अपने अध्ययन-अध्यापन के क्रम में जब जैसी आवश्यकता हुई, उसी के अनुसार सहज लिखे गये हैं। इसलिए आप भी इन्हें क्रमशः ही पढ़ें—यह आवश्यक नहीं है, अपितु विषय-सूची देखकर अपनी आवश्यकतानुसार किसी भी लेख को आगे-पीछे पढ़ सकते हैं, कोई आपत्ति नहीं है। लेखों का क्रम तो मैंने अभी पुस्तक-प्रकाशन के अवसर पर ऐसे ही स्थूल दृष्टि से निश्चित करने का प्रयास किया है, ताकि प्रारम्भ से अंत तक पढ़नेवाले पाठकों का भी कुछ प्रवाह बना रहे; यद्यपि अभी भी कोई क्रम ठीक से नहीं बन पाया है।

सभी लेख अपने अध्ययन-अध्यापन के क्रम में विषयवस्तु को भलीभाँति समझने की पवित्र भावना से ही लिखे गये हैं। अध्ययन, अध्यापन और लेखन के सम्बन्ध में सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि अध्ययन तो स्वयं के लिए किया जाता है और अध्यापन एवं लेखन दूसरों के लिए किये जाते हैं, किन्तु मेरे लिए तो अध्यापन एवं लेखन भी वास्तव में अध्ययन के ही प्रकारान्तर हैं। मुझे अंग्रेजी भाषा की एक सूक्ति बहुत अच्छी लगती है कि Teaching is the best way of learning अर्थात् अध्यापन भी अध्ययन का ही एक उत्तम मार्ग है। न्याय जैसे विषय का अध्ययन करने के लिए तो अध्यापन एवं लेखन मुझे विशेष रूप से लाभकारी सिद्ध हुए हैं, क्योंकि इनसे विषय का ऊहापोह, स्पष्टीकरण बहुत अच्छा होता है, ज्ञान में परिपक्वता आती है, उसका कच्चापन दूर होता है।

अध्यापन एवं लेखन में भी लेखन से तो और भी अधिक लाभ होता है, क्योंकि लिखने से विषय में विशेष प्रामाणिकता, क्रमबद्धता, स्पष्टता, सरलता आदि अनेक

गुण उत्पन्न हो जाते हैं। यही कारण है कि मैं अपने विद्यार्थियों को भी अध्यापन एवं लेखन की बहुत प्रेरणा देता रहता हूँ। मैंने एक लेख भी इस विषय पर लिखा है— ‘विद्यार्थी के षट् आवश्यक’, जो इसी कृति के परिशिष्ट में संकलित है।

इस प्रकार यद्यपि इन लेखों को लिखते समय मेरी भावना स्वयं को ही समझाने की प्रमुख रही है, परन्तु मैं स्वीकार करता हूँ कि अनेक बार दूसरों को समझाने की भावना भी प्रबल हुई है, जैसा कि इन लेखों की पृष्ठभूमि से स्पष्ट होता है—

कृति का पहला लेख ‘जैन न्याय का प्राथमिक परिचय’ उन लोगों के लिए लिखा गया है, जो जैन न्याय के क्षेत्र में एकदम नये-नये आये हैं, अभी उसमें प्रवेश ही कर रहे हैं और कोई भी न्यायग्रन्थ पढ़ें तो कठिन-सा, उलझा-सा महसूस करते हैं। इस लेख में जैन न्याय का एकदम प्रारम्भिक परिचय दिया गया है। मैंने इस लेख के माध्यम से हजारों लोगों को जैन न्याय के क्षेत्र में प्रवेश कराया है। सामान्य जनता को भी और विदेशी विश्वविद्यालयों के ऐसे छात्रों को भी, जो जैन न्याय से एकदम अनभिज्ञ होते हैं, इस लेख के माध्यम से जैन न्याय का बुनियादी साँचा समझने में बड़ी सहायता प्राप्त हुई है। यही कारण है कि इस लेख के अंग्रेजी और संस्कृत भाषा में भी अनुवाद प्रचलित हैं।

दूसरा लेख ‘न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता’ न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता और उपयोगिता को गहराई से रेखांकित करने के लिए लिखा गया है, ताकि उसमें हमारी ठीक से प्रवृत्ति हो, क्योंकि जबतक उसकी आवश्यकता और उपयोगिता ही समझ में नहीं आएगी, तबतक उसमें ठीक से प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। तथा समाज में भी कुछ लोग ऐसे दिखाई देते हैं, जो तरह-तरह से न्यायशास्त्र के अध्ययन को अनावश्यक, अनुपयोगी, अप्रयोजनभूत एवं आत्महित में बाधक बताते हैं। वे न तो स्वयं न्यायशास्त्र पढ़ते हैं और न ही दूसरों को पढ़ने देते हैं। प्रस्तुत लेख में उनकी सभी शंका-आशंकाओं का शास्त्राधारपूर्वक समाधान करने का प्रयास किया गया है। मुझे विश्वास है कि यदि वे इस लेख को शांतिपूर्वक पढ़ेंगे तो उन्हें न्यायशास्त्र के अध्ययन की गहरी आवश्यकता और आत्महित में उपयोगिता समझ में आएगी और उनका बड़ा हित होगा, उन्हें अमृत की प्राप्ति होगी। इस लेख को मैंने किञ्चित् संशोधन-परिवर्द्धन के साथ अपनी पुस्तक ‘न्यायमन्दिर’ में भी ‘भूमिका’ के रूप में जोड़ा है।

तीसरा लेख ‘न्यायशास्त्र के अध्ययन की दैनिक जीवन में उपयोगिता’ यह बताने के लिए लिखा गया है कि न्यायशास्त्र के अध्ययन से केवल पारमार्थिक लाभ ही नहीं होते, अपितु वह दैनिक या व्यावहारिक जीवन में भी अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है। उससे हमारा व्यावहारिक/लौकिक जीवन भी मंगलमय होता है, हमारा पूरा ही चिन्तन, कथन और व्यवहार व्यवस्थित होता है। न्यायशास्त्र की

व्यावहारिक उपयोगिता को समझने से न्यायशास्त्र नीरस नहीं लगता, उसमें रुचि लगती है और एक बड़ी बात यह है कि इससे समाज एवं शासन में भी उसकी स्वीकार्यता बढ़ती है।

चौथा लेख ‘जैन न्याय का वैशिष्ट्य’ यह बताने के लिए लिखा गया है कि वैसे तो अन्य दर्शनों में भी न्यायशास्त्र पाया जाता है, परन्तु जैन न्याय का अपना अलग वैशिष्ट्य है। वह वाद-विवाद या जय-पराजय की भावना को नहीं, अपितु तत्त्वाधिगम की भावना को ही मुख्य करके लिखा गया है, उसका प्रयोजन समीचीन तत्त्वज्ञान ही है, तत्त्वनिर्णय ही है। जैन न्याय की ओर भी अनेक विशेषताएँ हैं, जो इस लेख को पढ़ने पर समझ में आएँगी। इस लेख में उन सबको संक्षेप में बिन्दुशः प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पाँचवाँ लेख ‘जैन न्यायग्रन्थों का सूचीकरण’ यह बताने के लिए लिखा गया है कि जैन न्याय-ग्रन्थों की परम्परा अत्यंत समृद्ध है। उनकी संख्या कोई दो-चार-छह ही नहीं हैं, जैसा कि प्रायः लोग समझ लेते हैं। एक बार तो मुझे न्यायदर्शन के एक वरिष्ठ प्रोफेसर ने ऐसा कहा था कि न्यायग्रन्थ तो हमारे यहाँ हैं, तुम्हारे यहाँ तो केवल परीक्षामुख, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि दो-चार ही ग्रन्थ हैं। तब मुझे बहुत पीड़ा हुई कि अरे इन्हें जैन न्याय-ग्रन्थों के सम्बन्ध में इतनी बड़ी भ्रान्ति है और मैंने उनके लिए ही इस लेख को लिखा था। वे इस लेख से बहुत अधिक प्रभावित हुए। कहने लगे कि जैन न्यायग्रन्थों की ऐसी समृद्ध परम्परा का तो हमें पता ही नहीं था। मेरा अनुभव है कि हमें जैनतर विद्वानों को भी जैन ग्रन्थों से परिचित कराना चाहिए। इससे अद्भुत लाभ होता है।

छठा लेख ‘जैन दर्शन में संशय का स्वरूप’ एक ऐसे सेमिनार के लिए लिखा गया था, जिसमें न्यायदर्शन के संशयवाद की ही मुख्यतः चर्चा हो रही थी। मैंने उसमें इस लेख के माध्यम से जैन मत को प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। यह लेख मूलतः संस्कृत भाषा में लिखा था, जो हमारे विश्वविद्यालय श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय नई दिल्ली से ‘संशयवादः’ नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है।

सातवाँ और आठवाँ लेख जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित है। जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा अत्यन्त व्यापक एवं गूढ़-गम्भीर विषय है। जैन शास्त्रों में इस विषय पर बहुत विस्तार से चर्चा हुई है। इन दोनों लेखों में उसी चर्चा को अतिसंक्षेप में बिन्दुशः लिखने का प्रयास किया है, ताकि पूरी बात सरलता से समझ में आ सके। ये दोनों लेख जैनदर्शन की ज्ञानमीमांसा को समझने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। मैंने इनके आधार से अनेक कक्षाएँ ली हैं।

नौवाँ लेख ‘क्या दर्शनोपयोग अप्रमाण है?’, दसवाँ लेख ‘क्या धारावाहिक ज्ञान

अप्रमाण है?’ और ग्यारहवाँ लेख ‘प्रमाण क्या है— ज्ञान या आत्मा?’ प्रश्नात्मक शीर्षक के हैं, क्योंकि इनमें विवादित विषयों को सुलझाने का प्रयास किया गया है। विद्वज्जनों से अनुरोध है कि वे इन पर विशेष ध्यान दें और यदि इनमें कहीं कुछ स्खलन हो रहा हो तो अवश्य ही संशोधन/समाधान करने की कृपा करें।

बारहवाँ लेख ‘सभी प्रमाणों से एक वस्तु का ज्ञान’ प्रमाण के सभी भेद-प्रभेदों को समझने का एक रोचक अभ्यास (Practice) है। ऐसा अभ्यास करने से हमारे ज्ञान में विशेष निर्मलता उत्पन्न होती है। मैं अपने छात्रों से ऐसा अभ्यास कराता रहता हूँ।

तेरहवाँ लेख ‘असाधारणधर्मवचनं लक्षणं’ न्यायदीपिका के एक कठिन प्रकरण को सरलता से समझने-समझाने का प्रयास है।

चौदहवाँ लेख ‘अन्य दर्शनों के ज्ञान की आवश्यकता’ सभी दर्शनों के अध्ययन की प्रेरणा देने के लिए लिखा गया है, जो न्यायशास्त्र के विद्यार्थी के लिए तो एकदम अनिवार्य ही है, क्योंकि उसके बिना न्याय का एक सूत्र भी गम्भीरता से नहीं समझा जा सकता। न्यायशास्त्र कठिन लगने का भी एक मुख्य कारण यही है कि छात्रों को अन्य दर्शनों का परिचय नहीं होता है, जबकि वह तो जितना अधिक होगा उतनी ही सुविधा होगी, क्योंकि न्यायशास्त्र में मुख्यतः अन्य दर्शनों की ही गहन समीक्षा होती है। समीक्षा ही नहीं, सर्व कथन भी अन्य दर्शनों की मुख्यता से होते हैं, जैसा कि ‘वृहद्द्रव्यसंग्रह’ में भी कहा है— ‘तर्क मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानम् । —(वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 44)। मुझे विश्वास है कि इस लेख से सभी को सभी दर्शनों के परिचय की प्रेरणा प्राप्त होगी।

पन्द्रहवाँ लेख है— ‘वैशेषिक दर्शन की पदार्थ-व्यवस्था’। इसमें वैशेषिक दर्शन में निरूपित पदार्थ-व्यवस्था को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। जैन दर्शन की द्रव्य-गुण-पर्याय-व्यवस्था के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन करना विशेष लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

सोलहवाँ लेख ‘सूत्र के बत्तीस दोष’ यद्यपि सीधे तौर पर न्यायशास्त्र से सम्बन्धित नहीं है, किन्तु न्यायशास्त्र की प्रकृति जैसा ही है और न्यायशास्त्र को समझने-समझाने में कितनी अधिक सावधानी अपेक्षित होती है —इसका अनुभव कराता है।

सत्रहवाँ लेख ‘आप्तमीमांसा : एक अनुशीलन’ आचार्य समन्तभद्रस्वामी कृत ‘आप्तमीमांसा’ को एक समग्र दृष्टि में समझने का लघु प्रयास है। ‘आप्तमीमांसा’ प्रायः सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है और अनेक दृष्टियों से बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यदि इस लेख को पढ़कर उस ग्रन्थ को पढ़ा जाएगा तो वह बहुत सरल प्रतीत होगा।

अठारहवाँ, उन्नीसवाँ, बीसवाँ, इक्कीसवाँ, बाईसवाँ और तेईसवाँ —ये छह लेख जैन दर्शन के केन्द्रिय सिद्धांत स्याद्वाद को समर्पित हैं। इनमें स्याद्वाद के स्वरूप एवं व्यावहारिक पक्ष को विशेषरूप से रेखांकित किया है। स्याद्वाद जैनदर्शन का प्राण है। जिसने इसे नहीं समझा, उसने कुछ नहीं समझा। अतः उसे अनिवार्य रूप से सबको समझना चाहिए। ये लेख इसमें आपकी कुछ सहायता कर सकते हैं।

चौबीसवाँ लेख ‘आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता’ न्यायविद्या की आध्यात्मिक प्रकृति को उजागर करता है। जो लोग कहते हैं कि न्यायशास्त्र आत्महित में उपयोगी नहीं है अथवा बाधक है, उन्हें यह लेख अवश्य ध्यान से पढ़ना चाहिए। यह लेख मैंने जैना कन्वेंशन-2019, लॉस एंजल्स, अमेरिका में भी प्रस्तुत किया था।

पच्चीसवाँ लेख ‘समयसार में न्यायशास्त्र के प्रयोग’ भी इसी तरह का है, जो न्याय और अध्यात्म के घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रकाशित करता है। दरअसल, मैं इस बात से बड़ा दुखी रहता हूँ कि कुछ लोग न्याय तो पढ़ते हैं, पर अध्यात्म नहीं पढ़ते और कुछ लोग अध्यात्म तो पढ़ते हैं, पर न्याय नहीं पढ़ते, जबकि ये दोनों परस्पर पूरक हैं, दोनों के समन्वय से ही साधना सफल-सार्थक होती है।

छब्बीसवाँ और सत्ताईसवाँ लेख सर्वज्ञसिद्धि जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को शान्ति से समझने-समझाने के लिए लिखा गया है। यद्यपि यह विषय भी शास्त्रों में बहुत विस्तार से आया है, जहाँ बड़ी गूढ़-गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है, परन्तु यहाँ इसे एकदम सरलता से हृदयंगम करने का प्रयास किया गया है।

अट्ठाईसवाँ लेख ‘ख्यातिवाद : प्रमेयकमलमार्तण्ड के प्रकाश में’ में ‘प्रमेयकमल-मार्तण्ड’ में समागत एक विशेष प्रकरण ‘ख्यातिवाद’ को समझने का प्रयास किया गया है। यह प्रकरण वस्तुतः ज्ञानमीमांसा का ही है, परन्तु छात्रों को बहुत कठिन लगता है, इसलिए इसे कुछ सरल करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकरण में विपर्ययज्ञान में वस्तुतः किसकी ख्याति होती है —इसका विमर्श किया गया है।

उनतीसवें लेख ‘जैनदर्शन की कारण-कार्य-व्यवस्था’ में पंच समवाय का आश्रय लेकर जैनदर्शन की कारण-कार्य-व्यवस्था को समग्रता से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साथ ही उसके गहन भंगों को समझने के लिए नयज्ञान की आवश्यकता को भी सिद्ध किया गया है।

तीसवें लेख ‘चतुरंग वाद’ में परार्थानुमान के अंतर्गत होनेवाले वाद या कथन के व्यवहार की पद्धति को समझने का प्रयास किया गया है।

इकतीसवें लेख ‘जैनदर्शन में अभाव की अवधारणा’ में जैनदर्शन की अभाव

सम्बन्धी अवधारणा को भेद-प्रभेद-सहित स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस लेख की कहानी रोचक है। लगभग 20 वर्ष पहले दिल्ली विश्वविद्यालय में ‘भारतीय दर्शनों में अभाव की अवधारणा’ विषय पर एक त्रिदिवसीय सेमिनार चल रहा था। मैं वहाँ सुनने के लिए गया था, किन्तु उसमें न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों के अभाव की ही चर्चा हो रही थी, जैनदर्शन का पक्ष प्रस्तुत करनेवाला एक भी पत्र नहीं था। मैंने संयोजक का ध्यान इस कमी की ओर आकर्षित किया तो उन्होंने यह दायित्व मुझे ही दे दिया। तब मैंने शीघ्र ही यह लेख लिखकर इसके माध्यम से उसमें जैन मत को प्रस्तुत किया था और सभी ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की थी। मेरा अनुभव है कि हमें अन्य दर्शनों के साथ मिलकर विचार-विमर्श करने के अवसर कभी नहीं खोने चाहिए। इनसे सबको बड़ा लाभ होता है।

बत्तीसवें लेख ‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में हेतु एवं हेत्वाभास’ में आचार्य विद्यानंदस्वामी कृत ‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ के आधार से हेतु एवं हेत्वाभास की विशद चर्चा की गई है। अनुमान प्रमाण और उसके एक प्रमुख अंग हेतु या साधन को भलीभाँति समझने के लिए यह लेख विशेष उपादेय है।

तेतीसवें लेख ‘पृथक्त्वैकान्त की समीक्षा’ में ‘आप्तमीमांसा’ और उसकी टीकाओं के आधार से पृथक्त्वैकान्त की समीक्षा की गई है। पृथक्त्वैकान्त का दूसरा नाम भेदैकान्त भी है।

चौत्तीसवें लेख ‘प्रमेयरत्नमाला में प्रतिपादित बौद्धदर्शन’ में आचार्य अनन्तवीर्य कृत ‘प्रमेयरत्नमाला’ में बौद्धदर्शन के सन्दर्भों को खोजने का प्रयास किया गया है। यह लेख जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर के जैन-बौद्ध विभाग द्वारा आयोजित सेमिनार के लिए लिखा गया था।

पैंतीसवाँ लेख ‘जैन न्यायग्रन्थों में उपलब्ध सूक्तियाँ’ एक प्रकार का साहित्यिक प्रयोग है। इसमें जैनन्याय के ग्रन्थों में से कतिपय सूक्तियाँ खोजने का अभिनव प्रयास किया गया है।

छत्तीसवाँ लेख ‘न्यायविद्या की प्रगति कैसे हो’ में इस बात पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया गया है कि वर्तमान में न्यायविद्या का ह्रास कैसे हो रहा है और अब हम उसकी प्रगति कैसे कर सकते हैं। न्यायविद्या के सभी अनुरागियों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए और इसमें बताई बातों का अनुपालन भी करना चाहिए। इससे स्वयं का भी बड़ा हित होगा और समाज का भी।

सैंतीसवें लेख ‘न्यायशास्त्र के अध्ययन से लाभ’ में पुनः एक बार न्यायशास्त्र के अध्ययन से होनेवाले लाभों को समझने-समझाने का प्रयास किया है, क्योंकि न्यायशास्त्र में भलीभाँति प्रवृत्ति करने के लिए सर्वप्रथम उन्हें समझना आवश्यक है। इस लेख में न्यायशास्त्र के अध्ययन से होनेवाले लाभों को पारमार्थिक एवं

व्यावहारिक के दो भागों में विभाजित करके व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अड़तीसवाँ लेख है— ‘मिथ्यात्व के नाश में न्यायशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता’। इस लेख में यह बताने का प्रयास किया गया है कि न्यायशास्त्र वास्तव में एक आध्यात्मिक विषय है और इसके अध्ययन से हम अनादिकालीन मिथ्यात्व का नाश करने में समर्थ होते हैं। इस लेख को पढ़कर न्यायशास्त्र के अध्ययन का मूल प्रयोजन सरलता से समझा जा सकता है।

उनतालीसवाँ लेख है— ‘अज्ञान दुःख का मूल कारण है’। इसमें सत्य के ज्ञान की आवश्यकता को एक स्वरचित कहानी के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। न्यायशास्त्र के विद्यार्थी को सत्य को जानने का अत्यधिक अनुराग होना चाहिए, अन्यथा वह इस अमृतविद्या का सच्चा लाभ नहीं उठा सकता।

चालीसवाँ लेख ‘धर्म, दर्शन और न्याय में अन्तर’ न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थियों को न्यायशास्त्र की प्रकृति समझाने के लिए लिखा है, ताकि वे इसका ठीक से लाभ उठा सकें। जो विद्यार्थी अभी धर्म-दर्शन की ही मानसिकता में जी रहे हैं, उन्हें न्यायशास्त्र के अध्ययन का विशेष लाभ नहीं मिल पाता।

इकतालीसवें लेख ‘आधुनिक युग के कतिपय प्रमुख जैन नैयायिक’ में आधुनिक युग के कतिपय प्रमुख जैन नैयायिकों का पुण्य-स्मरण किया है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि जैन न्याय की धारा आज भी अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है। जैन न्याय के विद्यार्थियों को इससे अवश्य परिचित होना चाहिए। इससे बहुत गहरी प्रेरणा प्राप्त होती है, न्यायशास्त्र के अध्ययन में विशेष गति होती है। कभी-कभी बड़ा दुःख होता है कि लोग हमारे इन महान पूर्वजों के बारे में कुछ नहीं जानते, जबकि इनके स्मरण से अद्भुत ऊर्जा प्राप्त होती है।

बियालीसवें लेख ‘साधन और कारण में अन्तर’ में ‘साधन’ और ‘कारण’—इन दो शब्दों के सूक्ष्म अंतर को समझाने का प्रयास किया गया है, जो न्याय के विद्यार्थियों को तो समझना अत्यन्त ही आवश्यक है। उसके बिना स्थान-स्थान पर बड़ी भ्रान्ति होगी।

तैंतालीसवें लेख ‘प्रमेय का स्वरूप’ को मैंने मूलतः संस्कृत भाषा में ‘जैनदर्शने प्रमेयस्वरूपविमर्शः’ शीर्षक से लिखा था, क्योंकि दिल्ली संस्कृत अकादमी ने एक संगोष्ठी आयोजित की थी, जिसमें सभी दर्शनों में प्रमेय के स्वरूप पर विचार-विमर्श होना था और मुझे जैन दर्शन में प्रमेय के स्वरूप को प्रस्तुत करने का दायित्व सौंपा गया था। हिन्दी भाषा के पाठकों के लिए उसी लेख को मैंने अभी हिन्दी भाषा में पुनः लिखा है, परंतु यह उसका हू-ब-हू अनुवाद नहीं है।

चवालीसवाँ लेख है— ‘निक्षेप-विमर्श’। इसमें जैन न्याय के तीसरे अंग निक्षेप

का निरूपण किया गया है। जैन न्याय की चर्चा करते समय प्रायः उसके दो ही अंगों की चर्चा होती है— प्रमाण और नय। निक्षेप छूट ही जाता है। मैंने भी अपनी ‘न्याय-मन्दिर’ कृति में प्रमाण और नय का ही वर्णन किया था, निक्षेप वहाँ भी छूट गया था। अतः निक्षेप का ज्ञान कराने के लिए यह लेख लिखा है। इसकी शैली भी ‘न्याय-मन्दिर’ वाली प्रश्नोत्तर-शैली ही रखी है, ताकि यह कठिन विषय सरलता से स्पष्ट हो सके।

पैंतालीसवाँ लेख है— ‘जैन-न्याय-परिचर्चा’। यह वास्तव में लेख नहीं है, अपितु सामान्य परिचर्चा जैसी है। इसमें जैन न्याय से सम्बन्धित कतिपय ऐसे प्रश्नोत्तर हैं, जो मुझसे मेरे विद्यार्थियों ने पूछे थे, परन्तु वे मुझे सबके लिए ही विशेष उपयोगी लगे, अतः उन्हें यहाँ लिपिबद्ध कर दिया है।

छियालीसवाँ लेख है— ‘प्रकीर्णक’। यह भी वास्तव में लेख नहीं है, अपितु जैन न्याय से सम्बन्धित ऐसी छोटी-छोटी कणिकाओं का संग्रह है, जो मैंने समय-समय पर संक्षेप में लिखी थीं और मेरे मित्रों को सारभूत प्रतीत हुईं। आशा है, इनसे भी न्याय के विद्यार्थियों को कुछ लाभ अवश्य होगा।

सैंतालीसवाँ लेख ‘जैन न्याय का संक्षिप्त लक्षणकोश’ भी लेख नहीं है अपितु जैन न्याय का एक छोटा-सा लक्षणकोश है। इसमें जैन न्याय के कतिपय प्रमुख लक्षणों को न्यायग्रन्थों में से लेकर यथावत् प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि ये यथावत् ही कंठस्थ होने आवश्यक हैं। अनेक बार हम विषय की लम्बी-चौड़ी बहस तो करने लग जाते हैं, किन्तु उसका मूल लक्षण ही हमें पता नहीं होता है। यह स्थिति बड़ी ही अज्ञानतापूर्ण या हास्यास्पद होती है। अतः इन लक्षणों को सभी सरलता से कंठस्थ कर सकें इसलिए यह लक्षणकोश बनाया गया है।

अड़तालीसवाँ लेख ‘जैन न्याय का संक्षिप्त शब्दकोश’ भी लेख नहीं है, अपितु जैन न्याय का एक अति संक्षिप्त शब्दकोश है। इसमें जैन न्याय के कतिपय कठिन शब्दों के अर्थ लिखने का प्रयास किया गया है। यदि छात्र इनको पहले समझ लेंगे तो जैन-न्याय-ग्रन्थों के अध्ययन में उनको बड़ी सुविधा होगी।

इसप्रकार इस ‘जैन-न्याय-प्रदीपिका’ में कुल मिलाकर 48 लेखों का संग्रह किया गया है। पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि यदि इन लेखों में कहीं भी कोई अशुद्धि दिखाई दे तो मुझे सूचित करने की कृपा करें, ताकि उसे अगले संस्करण में शुद्ध किया जा सके। जैन न्याय का विषय कुछ जटिल होता है, उसमें स्खलन होना स्वाभाविक होता है और वह परस्पर विचार-विमर्श से ही ठीक होता है— ‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’। पुस्तक के सभी लेख भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गये हैं, अतः कहीं-कहीं कुछ पुनरुक्ति का आभास हो सकता है। विद्वज्जनों से निवेदन है कि वे उसकी उपेक्षा कर दें।

—वीरसागर जैन

जैन न्याय का प्राथमिक परिचय

न्याय का अर्थ— ‘न्याय’ शब्द की संस्कृत-व्युत्पत्ति है— ‘नीयते ज्ञायते वस्तुतत्त्वं येन स न्यायः’ अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूप को भलीभांति जाना जाए वह न्याय है।

न्याय के पर्यायवाची— अन्वीक्षा, युक्ति, परीक्षा, समीक्षा, हेतुविद्या, तर्कशास्त्र, विचार, परख आदि अनेक शब्द न्याय के पर्यायवाची हैं।

न्याय का महत्त्व— वस्तु-स्वरूप को अन्धश्रद्धा या श्रद्धामात्र से समीचीनतया नहीं जाना जा सकता है, अपितु न्याय, युक्ति या परीक्षा द्वारा ही जाना जा सकता है। इस अर्थ में न्याय भी एक विज्ञान है अथवा वैज्ञानिक दृष्टि (पद्धति) है जो सर्वथा आग्रहरहित होकर सीधे वस्तु के स्वरूप का समीचीन ज्ञान कराती है।

जैन दर्शन में न्याय— जैन दर्शन के अनुसार यह न्याय प्रमाण-नयात्मक होता है, क्योंकि प्रमाण-नय से ही वस्तु-स्वरूप को ठीक से जाना जा सकता है, उसकी सत्य परीक्षा की जा सकती है, अन्य किसी विधि से नहीं।

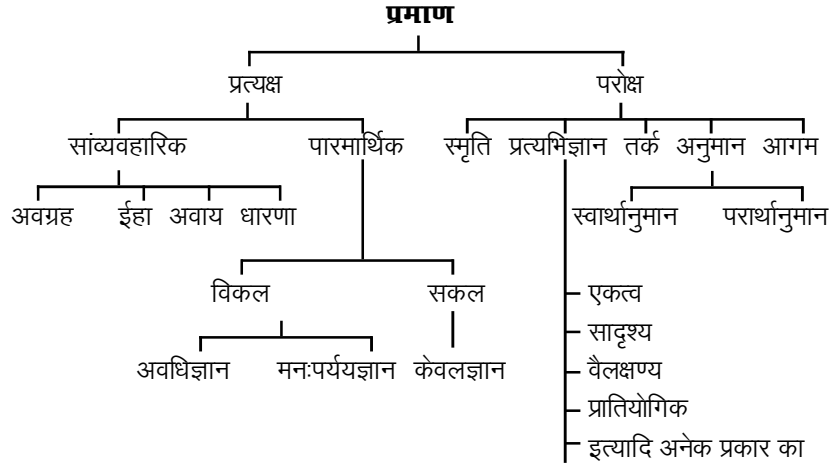
यही कारण है कि जैन न्याय के प्रतिपादक ग्रन्थों में प्रमाण और नय का ही विस्तृत एवं विशद विवेचन उपलब्ध होता है। प्रमाण-नय-स्वरूप में निष्णात व्यक्ति निःसन्देह एक कुशल परीक्षक या नैयायिक बन जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन न्याय के दो अवयव हैं— 1. प्रमाण और 2. नय।

जैन न्याय के प्राथमिक ग्रन्थ — जैन न्याय के प्रतिपादक ग्रन्थों की संख्या शताधिक है, पर प्राथमिक जिज्ञासुओं को निम्नलिखित 4 ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए— 1. परीक्षामुखसूत्र (आचार्य माणिक्यनन्दि) 2. न्यायदीपिका (अभिनव धर्मभूषणयति) 3. आलापपद्धति (आचार्य देवसेन), 4. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र (माङ्गलधवल)

प्रमाण का लक्षण— जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि उसी के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जा सकता है अथवा उसी के द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का परिहार सम्भव है। ईश्वर, वेद, इन्द्रियाँ, सन्निकर्ष आदि को जैनदर्शन में प्रमाण नहीं माना गया है।

प्रमाण के भेद-प्रभेद— प्रमाण के अनेक भेद-प्रभेद हैं, जिन्हें संक्षेप में निम्नलिखित चार्ट द्वारा देखा जा सकता है—



प्रत्यक्ष प्रमाण और उसके भेद — विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। विशदता का अर्थ है— निर्मलता, स्पष्टता। जो ज्ञान अन्य ज्ञान की सहायता के बिना ही वस्तु को विशेष स्पष्टता से जानता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान यद्यपि परमार्थ से अविशद होने के कारण परोक्ष ही है, परन्तु लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है अतः यहाँ उसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय-निरपेक्ष है, अतीन्द्रिय है। वह दो प्रकार का है— एक कतिपय पदार्थविषयक और दूसरा सर्वपदार्थविषयक। पहला विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, जिसके दो भेद हैं— अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान। द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थ को जाननेवाला अवधिज्ञान है और दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जाननेवाला मनःपर्ययज्ञान है।

सर्वद्रव्यपर्याय विषयक पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवलज्ञान कहलाता है जो अरिहन्त के ही माना गया है। जैन न्यायग्रन्थों में इस प्रसंग में सर्वज्ञ की सिद्धि विस्तारपूर्वक अनेक तर्कों द्वारा की गई है। आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा आदि अनेक ग्रन्थ तो स्वतन्त्र रूप से इस विषय पर ही रचित हैं। यहाँ विस्तारभय से उसकी चर्चा नहीं करते हैं। संक्षेप में इतना ज्ञातव्य है कि अरिहन्त के वचन युक्ति-शास्त्र से अविरोध है, प्रमाणबाधित नहीं है, प्रमाणसिद्ध है, अतः ज्ञात होता है कि वे निर्दोष हैं— राग-द्वेष एवं अज्ञान से रहित हैं और इसी से सिद्ध होता है कि वे सर्वज्ञ हैं।

परोक्ष प्रमाण और उसके भेद -प्रभेद— जो अविशद या अनिर्मल सम्यग्ज्ञान

है वह परोक्ष प्रमाण है। इसके 5 भेद हैं— स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इन पाँचों का यही क्रम निश्चित समझना चाहिए, क्योंकि उत्तरवर्ती ज्ञान, पूर्ववर्ती ज्ञानों की अपेक्षा रखते हैं। यथा— स्मृति को पूर्वप्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष एवं स्मृति की अपेक्षा होती है, तर्क को प्रत्यक्ष, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा होती है और आगम को शब्द-संकेतादि की अपेक्षा होती है।

जो ज्ञान पूर्वानुभूत वस्तु को 'वह' इस रूप से विषय बनाता है उसे **स्मृति** कहते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के संकलनरूप ज्ञान को **प्रत्यभिज्ञान** कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार का है— एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान, प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान आदि। प्रत्यक्ष दृष्ट और स्मृत वस्तुओं में एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य और प्रातियोगिक को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञानों को क्रमशः एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य और प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही देवदत्त है अथवा यह उसी के समान है, आदि।

तर्क— व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव को बतलाने वाले सुनिश्चित सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे— धुँए की अग्नि के साथ व्याप्ति है, क्योंकि धुँआ अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं ही होता है।

व्याप्ति का दूसरा नाम अविनाभाव भी है। अविनाभाव के दो भेद हैं— सहभावनियम और क्रमभावनियम। सहचारी और व्याप्य-व्यापकरूप पदार्थों में सहभावनियम पाया जाता है। जैसे— रूप और रस में अथवा नीम और वृक्ष में सहभावनियम है। पूर्वोत्तरचारी और कार्य-कारणरूप पदार्थों में क्रमभावनियम होता है। जैसे— रविवार और सोमवार में क्रमभावनियम नामक अविनाभाव है।

अनुमान— साधन (या हेतु) से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। साधन या हेतु के लक्षण पर भारतीय न्यायशास्त्र में खूब ऊहापोह हुआ है। कोई त्रैरूप्य को और कोई पांचरूप्य को हेतु का लक्षण स्वीकार करते हैं, पर जैन नैयायिकों ने एक अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव को ही हेतु का समीचीन लक्षण सिद्ध किया है।

अनुमान दो प्रकार का है— 1. स्वार्थानुमान और 2. परार्थानुमान। जो अनुमान परोपदेश से होता है वह परार्थानुमान है और जो परोपदेश के बिना होता है वह स्वार्थानुमान है।

जैन नैयायिकों ने अनुमान के दो ही अंग स्वीकार किये हैं— 1. प्रतिज्ञा, और 2. हेतु। इसके अतिरिक्त उदाहरण, उपनय आदि को वे अनुमान का अंग नहीं स्वीकार करते हैं। हाँ, कदाचित् वीतराग-कथा में शिष्यानुग्रह के लिए उदाहरणादि का कोई प्रयोग करे तो कोई आपत्ति नहीं है।

आगम— आप्त के वचनादि से होनेवाला अर्थज्ञान आगम है। आप्त किसे कहते

हैं— इस विषय में जैन नैयायिकों ने अत्यधिक विस्तारपूर्वक विमर्श किया है, जिसका सारांश निम्नलिखित श्लोक में प्रसिद्ध है—

“मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥”

अर्थात् जो वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वसत्त्व हितोपदेशी है वही आप्त है। अथवा सामान्य अपेक्षा से यह भी कहा गया है कि जिस विषय में जो अवंचक होता है, उस विषय में वही आप्त है। प्रामाणिक वक्ता को भी आप्त कहते हैं। सुप्त, उन्मत्त आदि पुरुष के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान अप्रामाणिक होने से आगम नहीं कहलाता, अतः आगम के लक्षण में आप्त का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार आगम प्रमाण भी यद्यपि ज्ञानरूप ही है, परन्तु कारण में कार्य का उपचार करके आगम को शब्दरूप भी कह दिया जाता है। यथा—आप्त के वचन आगम है।

जैन नैयायिकों ने प्रमाण के लक्षण और भेद के अतिरिक्त उसके विषय और फल पर भी बहुत गहराई से विचार किया है। वह संक्षेप में निम्नानुसार है—

प्रमाण का विषय— प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक सम्पूर्ण वस्तु है, क्योंकि वही अर्थक्रिया में समर्थ है। केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप वस्तु की सत्ता ही मूलतः असिद्ध है। प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है— इसे जैनाचार्यों ने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा भी बहुत अच्छी तरह समझाया है। ‘तत्त्वार्थसूत्र’ में आचार्य उमास्वामी के इस विषय के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त होते हैं—

1. सत् द्रव्यलक्षणम् । 2. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।

जैनाचार्यों के अनुसार पदार्थ परिणमनशील नित्य है। उसमें प्रतिसमय नवीन अवस्था का आगमन होता है— यह उत्पाद है, पुरानी अवस्था नष्ट होती है— यह व्यय है और वस्तु का स्वभाव वही स्थिर रहता है— यह ध्रौव्य है। इस उत्पादव्ययध्रौव्य सिद्धान्त को स्वर्ण, घट, जीव आदि अनेक दृष्टान्तों से भलीभाँति समझा जा सकता है। जैसे— अंगूठी पर्याय का उत्पाद, जंजीर पर्याय का व्यय और फिर भी स्वर्णरूप से उसी की स्थिति देखी जाती है।

प्रमाण का फल— प्रमाण का फल दो प्रकार से समझना चाहिए— 1. साक्षात् फल 2. परम्परा फल। अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है और त्याग, ग्रहण या उपेक्षा प्रमाण का परम्पराफल है। इसके अतिरिक्त कोई भी फल प्रमाण का जैन न्यायशास्त्र में नहीं माना गया है। इस विषय में निम्नलिखित दो शास्त्रकथन विशेष रूप से ध्यातव्य हैं—

“अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।” —(परीक्षामुख 5/1)

“ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृग्यते ॥”

—(आत्मानुशासन, 175)

इस प्रकार प्रमाण का विवेचन पूर्ण होता है, परन्तु जैन नैयायिकों के अनुसार प्रमाण के साथ-साथ प्रमाणाभास का भी ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि प्रमाण के द्वारा पदार्थ की सम्यक् सिद्धि होती है और प्रमाणाभास के द्वारा पदार्थ की विपरीत सिद्धि होती है, जैसा कि आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखसूत्र में सर्वप्रथम ही जोर देकर कहा है—

“प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः॥”

प्रमाणाभास— जो प्रमाण नहीं है, पर प्रमाण जैसा प्रतीत होता है अथवा प्रमाण माना जाता है उसे प्रमाणाभास कहते हैं, सन्निकर्ष, इन्द्रियाँ, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य आदि प्रमाणाभास हैं ।

प्रमाण की भांति प्रमाणाभास के भी दो भेद समझने चाहिए— प्रत्यक्षाभास और परोक्षाभास । तथा उसके अनेक उपभेद भी प्रमाणवत् ही समझ लेने चाहिए । तथा उन सबके लक्षण भी प्रमाणाभास के लक्षण की भांति सुगमतया जाने जा सकते हैं । यथा— प्रमाणलक्षणरहितः प्रमाणवदवभासमानः प्रमाणाभासः, अनुमानलक्षणरहितः अनुमान-वदवभासमानः अनुमानाभासः, हेतुलक्षणरहितः हेतुवदवभासमानः हेत्वाभासः इत्यादि ।

प्रमाण के दो ही प्रकार हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष, तथापि उसे न मानकर प्रमाण की अन्य एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि संख्या मानना प्रमाणसंख्याभास है ।

प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है, किन्तु उसे न मानकर मात्र सामान्यरूप, मात्र विशेषरूप अथवा सामान्य और विशेष दोनों को स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से प्रमाण का विषय मानना प्रमाण-विषयाभास है ।

प्रमाण का साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति है और यदि परम्परा से देखा जाए तो हान, उपादान और उपेक्षा को भी प्रमाण का फल कहा जा सकता है, किन्तु उसे न मानकर अन्य किसी को प्रमाण का फल मानना प्रमाणफलाभास है ।

नय-विवेचन— प्रमाण और प्रमाणाभास के बाद नय का भी संक्षेप में विवेचन करते हैं । विशेष जिज्ञासा हेतु माइल्लधवल द्वारा रचित ‘द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र’ अवश्य पढ़ना चाहिए जो भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली से प्रकाशित है ।

प्रमाण के द्वारा परिगृहीत वस्तु के एकदेश (अंश, भाग, गुण, धर्म, पक्ष, आयाम) को जानना या कहना नय है । परमार्थ से नय ज्ञानात्मक ही हैं, वचनात्मक नहीं, परन्तु कारण में कार्य का उपचार करके नय को वचनात्मक भी कहा गया है ।

ध्यान रहे नय वस्तु के एक पक्ष को ग्रहण करता है, किन्तु उसके अपर पक्ष का अभाव कभी नहीं करता, मात्र उसे गौण करता है।

नय और नयाभास— नय और नयाभास में यही विशेष अन्तर है कि नय सम्यक् एकान्त हैं और नयाभास मिथ्या एकान्त। नय अपर पक्ष को मात्र गौण करता है, उसका अभाव नहीं, जबकि नयाभास अपर पक्ष का अभाव ही कर देता है।

वस्तु के अनन्त धर्मों में से कब किसे मुख्य किया जाए और कब किसे गौण किया जाए— यह ज्ञानी वक्ता पर अथवा उसके अभिप्राय पर निर्भर होता है। इसीलिए कहा गया है कि ‘ज्ञातुरभिप्रायो नयः’ अथवा ‘वक्तुरभिप्रायो नयः’।

नय के भेद— वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अतः वस्तुतः नय अनन्त हैं। ज्ञानी वक्ता और उनके वचन-विकल्प असंख्य हैं, अतः इस दृष्टि से नय असंख्य भी कहे गये हैं। तथा समझने-समझाने की सुविधा से नय के एक, दो, तीन, चार, सात, सैंतालीस आदि भेद भी शास्त्रों में गिनाये गये हैं। परन्तु संक्षेप में नय के इन दो भेदों को समझना अत्यन्त आवश्यक है— 1. निश्चय नय और व्यवहार नय, 2. द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

निश्चय नय और व्यवहार नय — जो वस्तु को अभेद व अनुपचार से ग्रहण करता है वह निश्चय नय है और जो भेद व उपचार से ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। जैसे— जीव को एक अखण्ड अजर-अमर, अमूर्तिक कहना निश्चय नय है और ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का भेद करके बताना या जन्ममरणधर्मा और शरीरादि के संयोग से मूर्तिक आदि कहना व्यवहार नय है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक उदाहरणों द्वारा इसे भलीभांति समझा जा सकता है। यथा घट को मिट्टी का कहना निश्चय नय है और घी का कहना व्यवहार नय है इत्यादि। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कहना निश्चय नय है और संयोगादि के कारण उसे अन्यथा कहना व्यवहार नय है।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय— पहले कहा जा चुका है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु सदैव सामान्यविशेषात्मक है। सामान्यविशेषात्मक को हम द्रव्यपर्यायात्मक भी कह सकते हैं, क्योंकि वस्तु के सामान्य अंश को द्रव्य और विशेष अंश को पर्याय भी कहते हैं। जो नय वस्तु के सामान्य अंश या द्रव्य अंश को ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो वस्तु के विशेष अंश या पर्याय अंश को ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। जैसे वस्तु को नित्य और अभेद कहना द्रव्यार्थिक नय है और अनित्य और भेदरूप बताना पर्यायार्थिक नय है।

इस प्रकार प्रमाण, प्रमाणाभास, नय और नयाभास— इन चारों को भलीभांति समझना ही जैन न्याय का प्राथमिक परिचय है, जो यहाँ अति संक्षेप में लिखा है। कुछ और अधिक विस्तार से सरलतापूर्वक जानना हो तो मेरी कृति ‘न्याय-मन्दिर’ (प्रकाशक—जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी, राजस्थान) पढ़नी चाहिए। ❖❖

न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

जीव के दुःखों का मूल कारण एक ही है— अज्ञान, मिथ्याज्ञान; अतः दुःखनिवृत्ति का भी मूल कारण एक ही है— ज्ञान, सम्यग्ज्ञान या तत्त्वज्ञान। तथा यह सम्यक् तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं; क्योंकि तत्त्व का स्वरूप अनन्तधर्मात्मक होने से जटिल है और विभिन्न वक्ता उसे अनेक तरह से कहते हैं। अतः न्याय का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

वैसे तो हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही न्यायविद्या का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता रहा है और जीवन के हर क्षेत्र में उसकी महती उपयोगिता स्वीकार की गई है, जैसा कि महाकवि कौटिल्य ने लिखा है—

“प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥”¹

अर्थ— आन्वीक्षिकी विद्या (न्यायविद्या) शाश्वत काल से ही सर्व विद्याओं का प्रदीप, सर्वकर्मों का उपाय और सर्वधर्मों का आश्रय मानी गई है।

परन्तु यहाँ हम उतने विस्तार में नहीं जाना चाहते हैं। बस, इतना ही जोर देकर निवेदन करना चाहते हैं कि हमें रुचि लेकर न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा तत्त्व का समीचीन ज्ञान होता है और फिर उस समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा ही दुःखनिवृत्तिरूप मूल प्रयोजन सिद्ध होता है। अन्य कोई विधि नहीं है।

न्यायविद्या के लिए शास्त्रों में अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित रहे हैं। यथा— परीक्षा, अन्वीक्षा, आन्वीक्षिकी, युक्ति, समीक्षा, तर्कविद्या, वादविद्या, हेतुविद्या, हेतुवाद, हेतुमार्ग, न्याय, नीति, औचित्य, विवेक, विचार, चिन्तन, परख इत्यादि। ये सभी तत्त्वान्वेषण में न्याय के विशेष महत्त्व को ही प्रकट करते हैं, अतः न्याय का ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए।

किन्तु कुछ लोग मोक्षार्थी होकर भी, समीचीन तत्त्वजिज्ञासु होकर भी अनेक बहाने बनाकर न्याय के ज्ञान से बचने का प्रयत्न करते हैं, जो ठीक नहीं है। यहाँ उन्हीं के मन की शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। यथा—

शंका-1. कुछ लोग कहते हैं कि न्यायशास्त्र का ज्ञान तो शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन के लिए आवश्यक है, उसका आत्महित या तत्त्वज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं।

समाधान- ऐसी धारणा सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि न्यायशास्त्र का असली उद्देश्य समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्महित ही है, शास्त्रार्थ, वाद-विवाद या येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमत-खण्डन नहीं।

जो लोग न्यायशास्त्र का उद्देश्य शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या स्वमतमण्डन और परमतखण्डन मात्र समझते हैं, वे वस्तुतः न्याय की परिभाषा ही नहीं जानते। न्यायशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् आचार्य अकलंकदेव ने तो ऐसे लोगों को ‘गुणद्वेषी’ और ‘न्यायशास्त्र के मलिनकर्ता’ तक कहा है। यथा—

“बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितै-
र्माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥”²

अर्थ- अहो, आत्महिताभिलाषी जीवों के पूर्वोपार्जित महापाप कर्म के उदय से, अविद्या-अन्धकार के माहात्म्य से और स्वयं कलियुग के प्रभाव से वर्तमान में गुणद्वेषी लोगों ने न्याय को मलिन कर दिया है। तथापि धन्य हैं वे अनुकम्पा-परायण आचार्य जो आज भी उसे किसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी जल से प्रक्षालित करते हुए आगे लिए चले जा रहे हैं।

आचार्य अकलंक के उक्त कथन में उनके हृदय की अपार वेदना और साथ ही करुणा भी प्रकट हो रही है, जिस पर हम सबको गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए।

वस्तुतः यह महान दुःख का विषय है कि जो न्याय तत्त्वज्ञान का आवश्यक उपाय है, अनिवार्य साधन है, उसे लोगों ने वाद-विवाद एवं जय-पराजय का हेतु बना दिया है और तन्निमित्त छल-निग्रहादि का भी उपदेश दे दिया है। कषाय मिटाने के साधन को कषाय बढ़ाने का साधन बना दिया है।

यह सब देखकर हमारा भी हृदय बहुत दुःखी होता है, पर किया क्या जा सकता है, सिवाय इसके कि आचार्य अकलंकदेव की भाँति हम भी अपनी क्षमतानुसार इसे सम्यग्ज्ञान-जल से प्रक्षालित करते हुए आगे ले चलें। कुछ पात्र जीवों का तो कल्याण होगा ही।

दरअसल वाद-विवाद और परीक्षा- ये दोनों पृथक्-पृथक् दो चीजें हैं और दोनों में महान् अन्तर है। जिसप्रकार स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता में बड़ा अन्तर है, ईर्ष्या

और स्पद्धा में बड़ा अन्तर है, उसी प्रकार वाद-विवाद और परीक्षा में बड़ा भारी अन्तर है। वाद-विवाद अनेक दोषों का दुर्गन्धित भण्डार है और परीक्षा अनेक गुणों का अनमोल खजाना। आचार्यों ने वाद-विवाद को विष कहा है तो परीक्षा को अमृत।

वाद-विवाद हमें मोह-राग-द्वेष में उलझाता है, जबकि न्याय हमें मोह-राग-द्वेष से ऊपर उठाकर वस्तु के सत्य स्वरूप का दर्शन कराता है।

यह जीव अनादिकाल से मोह-राग-द्वेष के वशीभूत होकर वस्तु के सत्य स्वरूप को उसीप्रकार नहीं देख पाता, जिसप्रकार कोई उन्मत्त पुरुष, परन्तु यह न्यायविद्या का ही परम उपकार है कि वह हमें मोह-राग-द्वेष से युक्त होने पर भी उनसे ऊपर उठकर वस्तु के सत्य स्वरूप को देखने की कला सिखाती है।

वाद-विवाद करने वाले का लक्ष्य येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन ही होता है, पर न्यायप्रिय व्यक्ति का लक्ष्य असत्य का निराकरण करके सत्य का अनुसन्धान कर लेना होता है। सूत्ररूप में कह सकते हैं कि वाद-विवाद करने वाले का सिद्धान्त होता है— मेरा सो खरा, जबकि न्यायप्रेमी का सिद्धान्त होता है— खरा सो मेरा।

वाद-विवाद करने वाले की दृष्टि सदा जय-पराजय पर ही होती है; जय-पराजय पर भी नहीं, अपनी जय और दूसरे की पराजय पर ही होती है, जबकि न्यायप्रेमी व्यक्ति की दृष्टि सदा सत्यानुसन्धान में लगी रहती है, उसे जय-पराजय से प्रयोजन नहीं होता, सत्यप्राप्ति को ही वह अपनी सबसे बड़ी विजय मानता है।

वाद-विवाद कलहप्रिय लोगों को अच्छा लगता है, जबकि न्याय को शान्तिप्रिय और सत्यान्वेषी लोग पसन्द करते हैं। जिनको न्याय अप्रिय लगता हो, अरुचिकर लगता हो, वे अवश्य आत्मनिरीक्षण करें। ‘क्षत्रचूड़ामणि’ में कहा है कि न्याय उन्हें अच्छा नहीं लगता जिनका मन ईर्ष्यादूषित है—

“न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषितचेतसे।”³

वाद-विवाद जितना हेय है, परीक्षा उतनी ही उपादेय है, अतएव प्राचीन काल से ही प्रायः सभी ऋषि-मुनियों ने वाद-विवाद को अत्यन्त हेय और परीक्षा को अत्यन्त उपादेय कहा है। मात्र कुछ ही लोगों ने परवर्ती काल में अज्ञान या कषाय के वशीभूत होकर वाद-विवाद और परीक्षा में अन्तर न करके न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है, जिससे बचना अत्यन्त आवश्यक है।

वाद-विवाद का निषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

“णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।

तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥”⁴

अर्थ— नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ

हैं, अतः स्वसमय-परसमयों के साथ वचन-विवाद नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार आदि शंकराचार्य भी स्पष्ट लिखते हैं—

“बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्।”⁵

आचार्य अमितगति ने वाद-विवाद करने को कुतर्क करना कहा है और उसके अनेक दोष गिनाये हैं। यथा—

“बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत्।
कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुनेकधा॥
कुतर्कोऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्तिर्काक्षिणाम्।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौधप्रवेशके॥”⁶

अर्थ— कुतर्क ज्ञान को रोकने वाला, शान्ति का विनाशक, श्रद्धा को भंग करनेवाला और अभिमान को बढ़ानेवाला मानसिक रोग है, जो कि अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु सिद्ध होता है, अतः मोक्षाभिलाषियों को कुतर्क में अपना मन नहीं लगाना चाहिए।

इस प्रकार प्रायः सभी विद्वानों ने वाद-विवाद या कुतर्क को अत्यन्त हानिकारक एवं हेय कहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि तर्क, न्याय या परीक्षा भी हेय है और हमें उससे भी दूर ही रहना चाहिए। हमारे सभी पूर्वाचार्यों ने जहाँ एक ओर कुतर्क या वाद-विवाद को अत्यन्त निन्दनीय और हेय कहा है, वहीं दूसरी ओर तर्क, न्याय या परीक्षा को अत्यन्त आदरणीय और उपादेय भी कहा है। जिन आचार्य अमितगति ने उपरि-उद्धृत श्लोक में कुतर्क के अनेक दोष गिना कर उससे बचने की प्रेरणा दी है, उन्होंने स्वयं ही एक ‘धर्मपरीक्षा’ नामक ग्रन्थ भी लिखा है और उसमें परीक्षा को पुनः-पुनः प्रशंसा करते हुए अत्यन्त उपादेय कहा है। यथा—

“न बुद्धिगर्वेण न पक्षपाततो मयान्यशास्त्रार्थविवेचनं कृतम्।
ममैव धर्म शिवसौख्यदायिके परीक्षितुं केवलमुत्थितः भ्रमः॥”⁷

अर्थ— मैंने यहाँ अन्य शास्त्रों के अर्थ का विवेचन (निराकरण) बुद्धि के अभिमानवश या किसी पक्षपातवश नहीं किया है, अपितु मेरा ही धर्म शिवसुखदायक है— इसकी परीक्षा करके लोगों का भ्रम दूर किया है।

अपने ‘श्रावकाचार’ में भी वे परीक्षा का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं—

“लक्ष्मी विधातुं सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनं।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वचनभीतचित्ताः॥”⁸

अर्थ— विचारवान पुरुष तो सर्वसमर्थ लक्ष्मी प्रदान कराने वाले धर्म को उगाये जाने के भय से स्वर्ण की भाँति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक आचार्यों ने परीक्षा की पुनः-पुनः प्रशंसा करते हुए उसे अत्यन्त उपादेय कहा है। आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि—

“जो ण पमाणणएहिं णिक्खेवेण णिरिक्खदे अट्ठं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि॥”⁹

अर्थ— जो जीव प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा अर्थ की परीक्षा नहीं करता है उसे अयुक्त भी युक्त और युक्त भी अयुक्त की तरह प्रतिभासित होता है।

इसी प्रकार का भाव आचार्य वीरसेन ने भी ‘धवला’ में प्रकट किया है।¹⁰ आचार्य सोमदेवसूरि ‘यशस्तिलकचम्पू’ में लिखते हैं कि वस्तु-स्वरूप को समझने के लिए शपथ की नहीं, परीक्षा की आवश्यकता है—

“एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे ।
सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः॥
दाहच्छेदकषा शुद्धे हेमिन् का शपथक्रिया ।
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेमिन् का शपथक्रिया ॥”¹¹

अर्थ— पक्ष और शपथ— दोनों ही तत्त्वबोध के लिए व्यर्थ हैं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष परप्रत्ययमात्र से तत्त्व का विश्वास नहीं करते। दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध हुए स्वर्ण में शपथ क्या करेगी? तथा दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध न हुए स्वर्ण में भी शपथ क्या करेगी?

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अपने ‘लोकतत्त्वनिर्णय’ आदि ग्रन्थों में सुन्दर ढंग से परीक्षा का महत्त्व प्रतिपादित किया है। ‘लोकतत्त्व-निर्णय’ में वे लिखते हैं—

“पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥”¹²

अर्थ— मुझे महावीर से कोई पक्षपात नहीं है और कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है; परन्तु जिसके वचन युक्तिसंगत हों उसी का ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी परीक्षा को महत्त्व देते हुए लिखा है—

“न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तथा ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्मोऽस्तु ते॥”¹³

अर्थ— हे वीर प्रभु! मुझे केवल श्रद्धामात्र से आपके प्रति पक्षपात नहीं है और द्वेषमात्र से दूसरे देवों में अरुचि नहीं है; परन्तु मैंने आप्तत्व की यथावत् परीक्षा करके ही आपका ही आश्रय ग्रहण किया है। किसी भी मत या सम्प्रदाय में हो, कैसा भी हो, किसी भी नाम से जाना जाता हो, परन्तु यदि वह सर्व दोष-

कालुष्य से रहित हो गया हो तो हे भगवन्! वह तुम ही हो और तुम्हें ही मेरा नमस्कार हो।

न केवल जैनाचार्यों ने, इतर विद्वानों ने भी परीक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास का निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें परीक्षाप्रधानी व्यक्ति को ही ज्ञानी (सन्त) और परीक्षा-रहित अन्धविश्वासी को मूढ़ कहा है—

“पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥”¹⁴

अर्थ— सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता। समझदार व्यक्ति दोनों की परीक्षा करके उनमें से जो समीचीन हो उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ व्यक्ति ही दूसरे के कथन मात्र से विश्वास करता है। एक स्मृति-ग्रन्थ में भी युक्तियुक्त वचनों को ही ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है—

‘युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यम्।’ —(याज्ञवल्क्य शिक्षा, 116)

महात्मा गौतम बुद्ध का भी एक कथन प्रसिद्ध है कि—

“तापाच्छेदान्निषात् सुवर्णमिव पण्डिताः।

परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्बचो न तु गौरवात्॥”

अर्थ— हे विद्वान भिक्षुओं! जिस प्रकार स्वर्ण को भलीभाँति तपाकर, काटकर और कसौटी पर कसकर ही ग्रहण किया जाता है; उसी प्रकार तुम भी मेरे वचनों को परीक्षा करके ही ग्रहण करना, न कि गौरव से।

इसप्रकार ये सभी कथन परीक्षा के महत्त्व को प्रकट करते हैं, अतः हमें परीक्षा या न्याय का ज्ञान एवं आश्रय अवश्य करना चाहिए। किसी भी बहाने उससे बचने का आत्मघाती प्रयत्न करना ठीक नहीं। वाद-विवाद ही हेय है, परीक्षा नहीं। परीक्षा तो अत्यन्त उपादेय है।

शंका-2. कुछ लोग कहते हैं कि सत्य-असत्य की परीक्षा करना तो बहुत कठिन कार्य है, लगभग असम्भव-सा ही है। लोक में असत्य की अधिकता भी इतनी है कि उसमें से सत्य को पहचान लेना और पा लेना तो सोचना भी कठिन लगता है।

समाधान— ऐसे लोग उत्साहहीन हैं। परीक्षा करना कठिन अवश्य है, पर असम्भव कतई नहीं। यदि व्यक्ति स्वार्थ, आग्रह या पक्षपात से ऊपर उठकर एकदम निष्पक्ष होकर सच्ची विधि से परीक्षा करे तो सच्ची परीक्षा सहज हो सकती है, कठिन नहीं है। प्रमादी और आग्रही व्यक्ति ही परीक्षा नहीं कर पाता। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी लिखते हैं— “सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने

से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपात के कारण भले प्रकार परीक्षा न करे वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।”¹⁵

अतः परीक्षा के प्रति उत्साहहीन रहना ठीक नहीं। लोक में असत्य की अधिकता है— यह भी चिन्ता का विषय नहीं। किसी भी प्रश्न के असत्य उत्तर अधिक ही होते हैं, सत्य उत्तर तो एक ही होता है। अध्ययनशील विद्यार्थी उनसे घबराते नहीं हैं। ‘नकली माल बाजार में बहुत है अतः असली भी मत खरीदो’— यह कोई समाधान नहीं है। इसी प्रकार हीरे की परख कठिन ही होती है, परन्तु हीरे का व्यापारी ‘कौन परीक्षा के चक्कर में पड़े’— ऐसा कभी नहीं सोचता, उद्यम करके परीक्षा करता ही है और उससे उसे असली-नकली की पहचान भी होती ही है। जरा कल्पना कीजिए— यदि हीरे का व्यापारी कठिन होने के कारण हीरों की परीक्षा करना छोड़ दे या उसमें शिथिलता करे तो क्या होगा?

अतः उत्साहपूर्वक परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। उसी से समीचीन तत्त्वज्ञान का महान लाभ होगा।

शंका-3. कुछ लोग कहते हैं कि दुःखनिवृत्ति के लिए तो तत्त्वज्ञान आवश्यक है, न्यायज्ञान नहीं, अतः हम तो केवल तत्त्वज्ञान ही करेंगे, न्यायज्ञान नहीं। न्यायज्ञान तो अनावश्यक है।

समाधान— ऐसे लोग भी अज्ञानी हैं। यद्यपि यह सत्य है कि दुःखनिवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है, परन्तु जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि वह तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही समीचीनतः हो सकता है, उसके बिना कथमपि नहीं।

जिस प्रकार व्यापार तो वस्तुओं के क्रय-विक्रय से ही होता है, परन्तु वस्तुओं का क्रय-विक्रय तराजू आदि पैमानों के बिना ठीक-ठीक नहीं हो सकता, अतः व्यापारी को तराजू आदि पैमानों का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए, उसी प्रकार दुःखनिवृत्ति तो तत्त्वज्ञान से ही होती है, परन्तु वह तत्त्वज्ञान न्याय के बिना समीचीन-तया नहीं हो सकता, अतः दुःखनिवृत्ति के अभिलाषी को न्याय का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए।

शंका-4. न्यायशास्त्र के अध्ययन से बचने के लिए कुछ लोग कहते हैं कि जीवन छोटा है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः हम न्याय पढ़ने के चक्कर में नहीं उलझना चाहते। शास्त्रों में भी कहा है—

“अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।

तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणदि॥”¹⁶

अर्थ— शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम भी दुर्बुद्धि हैं, अतः

केवल वही सीखना चाहिए जो जन्म-जरा-मरण का क्षय करे।

समाधान— ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में हैं। क्योंकि न्याय का ज्ञान तो इसीलिए आवश्यक बताया गया है कि कम समय में हम अल्पबुद्धि वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कर सकें। वस्तुस्वरूप अत्यन्त जटिल है, अनन्तधर्मात्मक है, उसे यूँ ही नहीं समझा जा सकता। न्याय एक ऐसी सुलभ विधि है कि हम अल्पबुद्धि भी उसके द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को अल्प समय में समीचीनतया समझ सकते हैं।

न्याय के अवलम्बन से वस्तुस्वरूप को समझना सरल होता है, कठिन नहीं। जिसप्रकार लोक में मीटर, तराजू आदि पैमाने सुलभ रीति से पदार्थों को ठीक-ठीक नापने-मापने का काम करने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं, उसी प्रकार न्याय भी सुलभ रीति से वस्तुस्वरूप को ठीक-ठीक समझने में हमारी बड़ी सहायता करता है। अतः इसका ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए। न्याय उलझाता नहीं है, सुलझाता है। उलझाता तो वाद-विवाद है, अज्ञान है।

तथा शास्त्रों में जो ऐसा कहा है कि शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः हमें वही सीखना चाहिए जिससे जन्म-मरण का क्षय हो, उसका अभिप्राय यह है कि लोक में अनेक विद्याएँ हैं, सबके अगणित शास्त्र हैं, हम उन सबको सीखने का प्रयत्न कहाँ तक करेंगे? तब तक हमारा यह अल्प जीवन तो यूँ ही चला जायेगा और हम जन्म-मरण-रोग-विनाशक समीचीन तत्त्वज्ञान से वंचित रह जायेंगे, अतः दुनिया की अनेक अप्रयोजनभूत विद्याओं को सीखने में दुर्लभ समय और अल्पबुद्धि को मत लगाओ और तत्त्वज्ञान हेतु प्रयोजनभूत विषय पर ही ध्यान दो। कहा भी है—

“गणिकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रमर्मज्ञाः।

संगीतादिषु निपुणाः सुलभाः न हि तत्त्ववेत्तारः॥”¹⁷

अर्थ— गणित, चिकित्सा, तर्क (कुतर्क, वाद-विवाद), पुराण, वास्तु, शब्द और संगीत के शास्त्रों में निपुण लोग तो आसानी से मिल जाते हैं, परन्तु तत्त्व के ज्ञाता पुरुष मिलना बहुत कठिन है।

और भी कहा है कि—

“बहत्तरकलाकुसला पण्डित्य पुरिसा अपण्डित्या चेव ।

सव्वकलाण वि पवरं जे धम्मकलं ण जाणंति॥”¹⁸

अर्थ— जो पुरुष बहत्तर कलाओं में कुशल हैं, सभी कलाओं के प्रवर पण्डित हैं, परन्तु धर्मकला को नहीं जानते हैं, वे वास्तव में अपण्डित ही हैं।

अतः शास्त्रों का उपर्युक्त कथन अप्रयोजनभूत लौकिक विद्याओं के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए। न्याय जगत् की उन अप्रयोजनभूत विद्याओं में से नहीं है

अपितु मुक्तिमार्ग हेतु एक अत्यन्त प्रयोजनभूत आध्यात्मिक विद्या है। आचार्य सोमदेव ने भी इसे अध्यात्म विषय की प्रयोजनभूत विद्या कहा है।¹⁹ न्याय के बिना वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता है, अतः समीचीन तत्त्वजिज्ञासु को न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

शंका—5. कुछ लोग कहते हैं कि न्याय तो परवर्ती काल में आचार्य अकलंक आदि ने विकसित किया है। अधिक से अधिक कहें तो आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी को न्याय का जनक कह सकते हैं। उससे पहले न्याय कहाँ था, जबकि लोग तो तत्त्वज्ञान करते ही थे। अतः तत्त्वज्ञान हेतु न्याय का ज्ञान करना आवश्यक नहीं है।

समाधान— ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में हैं। आचार्य अकलंक, आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी से पहले भी न्याय अवश्य विद्यमान था, भले ही उस समय के न्याय-ग्रन्थ हमें आज उपलब्ध न होते हों। ग्रन्थ उपलब्ध न होने के तो अनेक कारण हो सकते हैं। हो सकता है नष्ट हो गये हों अथवा यह तो आपको पता ही होगा कि पहले सारी श्रुत परम्परा मौखिक रूप में ही चल रही थी और शास्त्र-लेखन का कार्य बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ है।

तथा यदि उक्त आचार्यों से पहले न्याय नहीं होता तो वेदों में नयों का उल्लेख कैसे मिलता है? यथा—

“आ नो गोत्रा ददृहि गो पते गाः समस्मभ्यं सु नयो यंतु वाजाः।

दिवक्षा असि वृषभ सत्यशुष्मोऽस्मभ्यं सु मघवन्बोधि गोदाः॥”²⁰

अर्थ— हे पृथ्वी के पालक देव (वृषभदेव)! हमें सुनय-सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ! तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमान मघवन्! हमें सुबोधि प्रदान कर।

आचार्य जिनसेन ने भी भगवान ऋषभदेव को न्यायशास्त्र का प्रणेता कहा है— ‘प्रणेता न्यायशास्त्रकृत’²¹

अतः वास्तविक स्थिति तो यही है कि न्यायविद्या अनादिनिधन है और इसी के द्वारा जीव समीचीन तत्त्वज्ञान करते आये हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन स्पष्ट लिखते हैं—

“प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका।

सर्वसंब्यवहर्तृणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता॥”²²

अर्थ— यह प्रमाण आदि की व्यवस्था अनादिनिधन है और इसका व्यवहार करनेवाले सभी लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध है, तथापि यहाँ उसे हमने पुनः कहा है।

शंका-6. कुछ लोग कहते हैं कि न्यायग्रन्थ तो कठिन बहुत हैं, अतः हम उन्हें समझ नहीं सकते।

समाधान- ऐसे लोग भी उत्साहहीन हैं। यद्यपि यह सच है कि न्यायग्रन्थ गूढ़-गम्भीर होते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे बहुत कठिन होते हैं और हम उन्हें समझ नहीं सकते। यदि थोड़ी रुचि लेकर एकाग्रता के साथ पहले कुछ प्राथमिक न्यायग्रन्थों को पढ़ लिया जाय तो प्रायः सभी न्यायग्रन्थों को समझना बहुत सरल हो जाता है। जिन्हें न्याय की प्रारम्भिक जानकारी न हो और जो रुचिपूर्वक अध्ययन नहीं करना चाहते हों उन्हें ही न्यायग्रन्थ कठिन लगते हैं। अन्यथा उनमें कठिन लगने जैसा कुछ भी नहीं है।

न्यायग्रन्थ गूढ़-गम्भीर इसलिए होते हैं कि उनमें कोई दुनिया के राग-रंग की बातें या कोई किस्से, कहानी नहीं होती, अपितु अत्यन्त जटिल वस्तुस्वरूप का अत्यन्त सावधानीपूर्वक विश्लेषण और परीक्षण होता है। उसमें जरा-सी भी शिथिलता से अर्थ का अनर्थ हो जाने की संभावना रहती है। लोक में कोयला, कण, कंचन और कोहिनूर को तौलने में ही उत्तरोत्तर अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है, तब यहाँ तो अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को समीचीनतया समझने का महान् कार्य सिद्ध करना है, अतः न्याय-ग्रन्थों का गूढ़-गम्भीर होना स्वाभाविक है; परन्तु इस कारण से वे बहुत कठिन हैं और हम उन्हें नहीं समझ सकते— ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिए और उनके अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

तथा यहाँ तो हम न्याय के सामान्य ज्ञान की बात कर रहे हैं, जो बिल्कुल कठिन नहीं है और वस्तुस्वरूप के परिज्ञान हेतु अनिवार्यतः उपयोगी भी है, अतः उसके अध्ययन में प्रमाद करना उचित नहीं। जो लोग अपनी किसी प्रकार की अक्षमतावश न्याय के अनेक गूढ़ ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकते हैं, उन्हें भी न्याय का सामान्य ज्ञान तो अवश्य करना ही करना चाहिए। उसके बिना सिद्धि नहीं है।

शंका-7. यहाँ आपने विविध प्रकार से न्यायशास्त्र के अभ्यास की प्रेरणा दी, परन्तु क्या किसी भी अपेक्षा से शास्त्रों में न्याय के अवलम्बन का निषेध नहीं किया गया है?

समाधान- किया गया है। तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है। स्पष्ट कहा है कि—

“तच्चाणेषणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।

णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा ॥”²³

अर्थ- ‘समय’ (आत्मा/वस्तु/सिद्धान्त) को तत्त्वान्वेषण के समय युक्तिमार्ग (न्याय) से समझो, किन्तु उसकी आराधना (अनुभूति) के समय न्याय का अवलम्बन

मत लो, क्योंकि अनुभूति तो प्रत्यक्ष (निर्विकल्प) होती है।

यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है, क्योंकि अनुभूति तो निर्विकल्प होती है, जबकि न्याय विकल्परूप है।

किन्तु इस बहाने से भी न्यायशास्त्र के अभ्यास से बचने की चेष्टा करना बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्यायमार्ग के अवलम्बन का निषेध किया गया है— यह एकदम सच है, परन्तु यहीं प्रथम पंक्ति में जोर देकर यह भी तो कहा गया है कि तत्त्वान्वेषण के समय न्याय-मार्ग का अवलम्बन लो।

तत्त्व की अनुभूति से पूर्व तत्त्व का अन्वेषण अनिवार्य है। यदि तत्त्व का अन्वेषण ही नहीं हुआ तो अनुभूति किसकी करोगे? अतः सर्वप्रथम न्याय का ज्ञान करके तत्त्व का अन्वेषण अवश्य करना चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

1. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, विद्योद्देश प्रकरण, 2
2. आचार्य अकलंक, न्यायविनिश्चय, 1/2
3. आचार्य वादीभसिंह, क्षत्रचूडामणि, 4/25
4. आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार, 156
5. आदि शंकराचार्य, साधन-पंचक, 3
6. आचार्य अमितगति, योगसारप्राभृत, 7/52-53
7. आचार्य अमितगति, धर्मपरीक्षा, 10
8. आचार्य अमितगति, श्रावकाचार 1/29
9. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 1/182
10. “प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्।।” —(आचार्य वीरसेन, धवला 1/1/1/10)
11. सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 6/73-74
12. हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38
13. हेमचन्द्रसूरि, अयोगव्यवच्छेदिका, 29,31
14. महाकवि कालिदास, मालविकाग्निमित्र, 1/2
15. पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 216
16. मुनि रामसिंह, पाहुडदोहा, 99
17. भट्टारक ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञानतरंगिणी, 11/3
18. आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की डायरी में से
19. आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये। —सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत 5/63
20. ऋग्वेद 3/2/30/21
21. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 25/115
22. आचार्य सिद्धसेन, न्यायावतार, 32
23. माइल्लधवल, नयचक्र, 268



न्यायशास्त्र के अध्ययन की दैनिक जीवन में उपयोगिता

अनेक लोग पूछते हैं कि न्यायशास्त्र के अध्ययन की हमारे दैनिक जीवन में क्या उपयोगिता है, वह केवल दार्शनिक तत्त्वचर्चा के लिए ही होता है या उसका हमारे लौकिक जीवन में भी कोई लाभ होता है; अतः इस विषय को यहाँ संक्षेप में लिखने का प्रयास करता हूँ।

यह प्रश्न स्वाभाविक है, बहुत लोगों को उत्पन्न होता है, क्योंकि न्यायशास्त्र एक कठिन एवं नीरस-सा विषय है, प्रथम दृष्टि में उसकी जीवन में कोई उपयोगिता भासित नहीं होती। गणित, विज्ञान, कंप्यूटर आदि अन्य सब विषयों की तो जीवन में उपयोगिता समझ में आती है, पर न्यायशास्त्र की नहीं आती। लगता है कि यह सब प्रमाण, नय, अनुमान, हेतु, व्याप्ति, लक्षण, लक्षणाभास आदि आखिर हम क्यों पढ़ रहे हैं, इनसे क्या मिलने वाला है?

यही कारण है कि न्यायशास्त्र को पढ़ने वाले विद्यार्थी बहुत कम होते हैं। उन्हें इसकी जीवन में कोई उपयोगिता ही नहीं समझ में आती। जबकि इसकी हमारे दैनिक व्यावहारिक जीवन में भी बड़ी भारी उपयोगिता है। न्यायशास्त्र से तत्त्वाधिगम तो होता ही है, किन्तु उससे हमारी बुद्धि और वाणी भी अत्यंत निर्मल और निर्दोष बनती है तथा उससे हमारे सर्व कार्य भलीभांति सम्पन्न होते हैं।

न्यायशास्त्र हमारी बुद्धि को नाना प्रकार से एकदम निर्मल, निर्दोष बनाता है, ताकि हम सत्य-असत्य या सही-गलत का एकदम सही निर्णय कर सकें। यही उसकी मूल अवधारणा है, जिसे वह बार-बार अच्छी तरह कूट-कूट कर हमें गहराई से समझाता है। उसे किंचित् भी स्वार्थ, पक्षपात, अन्धविश्वास, पूर्वाग्रह, संकीर्णता आदि कोई भी बुद्धि-दोष स्वीकार नहीं है, क्योंकि इनसे सत्य का सही निर्णय नहीं होता, विपरीत हो जाता है। इसी प्रकार वह हमें निष्पक्षता, उदारता, शांति, धैर्य, युक्तिप्रमाणावलंबन आदि सद्गुणों से युक्त बनाता है, क्योंकि इन्हीं से सत्य का सही निर्णय होता है।

अतः इस आलोक में हम भलीभांति समझ सकते हैं कि न्यायशास्त्र व्यक्ति को एक ऐसा वैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न, शान्त एवं तार्किक बुद्धिमान मनुष्य बनाता है जो अन्धविश्वास, पक्षपात, दुराग्रह, स्वार्थ, संकीर्णता आदि दुर्गुणों से कोसों दूर रहता है।

वह अपने विरोधी व्यक्ति से भी नफरत या क्रोध नहीं करता, अपितु उसकी बात शांतिपूर्वक सुनता है और फिर उसकी तर्क-युक्ति से समीचीन परीक्षा करता है और जैसी वह है वैसी ही मानता-मनवाता है। वह विरोधी व्यक्ति से मतभेद होते हुए भी मनभेद नहीं रखने की महान कला सीख जाता है। उसे अहंकार, उत्तेजना, आवेग आदि भी कभी परेशान नहीं करते। वह सहजतापूर्वक सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जान लेता है, स्वीकार कर लेता है।

न्यायशास्त्र के ज्ञाता पुरुष को कभी कोई ठग भी नहीं सकता, खरीद नहीं सकता, मूर्ख नहीं बना सकता, क्योंकि वह भावुकता, भय, शर्म जैसी अनेक दुर्बलताओं से ऊपर उठ जाता है। भावुक व्यक्ति सत्य को नहीं समझ पाते, वे शीघ्र दूसरों के प्रभाव में आ जाते हैं, वे जीवन में बहुत जल्दी ठगाए भी जाते हैं।

न्यायशास्त्र का अध्येता कहीं पक्षपात भी नहीं करता। निष्पक्षता, वैज्ञानिकता, धैर्य आदि ही उसके जीवन-मूल्य होते हैं। वह केवल सत्य का आग्रह रखता है, अन्य कोई व्यक्ति, देश, काल, जाति, लिंग, भाषा आदि का भी आग्रह नहीं रखता। लोग अनेक प्रकार की संकीर्णताओं में रुके रहते हैं, पर वह आकाश के समान उदार बन जाता है।

लोक में व्यक्तिवाद भी बहुत छाया हुआ है, लोग उसी में बुरी तरह उलझे हुए हैं, किन्तु न्यायशास्त्र का ज्ञाता पुरुष व्यक्तिवाद आदि से बहुत ऊपर उठ जाता है, वस्तुवादी बन जाता है, सत्यवादी बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार अन्य विद्याएँ जीवन में उपयोगी होती हैं, उसीप्रकार न्यायविद्या भी जीवन में अत्यंत उपयोगी है। बल्कि एक दृष्टि से तो यह उन अन्य विद्याओं से भी अधिक उपयोगी है। जिसप्रकार कंप्यूटरविद्या सीखने से कंप्यूटर को उसके दोषों से बचाकर ठीक से काम करनेवाला बनाए रखना आता है, आयुर्वेदविद्या सीखने से शरीर को उसके दोषों से बचाकर ठीक से काम करनेवाला बनाए रखना आता है, उसीप्रकार न्यायविद्या सीखने से बुद्धि को उसके दोषों से बचाकर ठीक से काम करनेवाला बनाए रखना आता है। न्यायशास्त्र पढ़ने वाले की बुद्धि में कभी कोई दोष उत्पन्न नहीं होते और कदाचित् कोई दोष उत्पन्न हो जाए तो वह उसे ठीक करना भी जान जाता है, अतः शीघ्र ठीक कर लेता है।

इस प्रकार न्यायशास्त्र हमें अपनी बुद्धि को सदैव निर्मल निर्दोष बनाए रखने की कला सिखाता है, जो जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण है। जीवन का मूलाधार बुद्धि ही तो है। यदि हमारी बुद्धि ही मलिन, दूषित या रुग्ण है तो अन्य तन, धन, घर आदि ठीक भी रहें तो हमारे किस काम के? अतः बुद्धि को निर्मल, निर्दोष, स्वस्थ रखने के लिए न्यायशास्त्र अवश्य पढ़ना चाहिए।

न्यायशास्त्र सत्य को जानने के साथ सत्य को ठीक से (निर्दोष रीति से) कहने-सुनने या समझाने की कला भी सिखाता है, अतः न्यायशास्त्र के अध्ययन से बुद्धि के साथ-साथ वाणी भी निर्दोष निर्मल होती है। न्यायशास्त्र के ज्ञाता के मुख से दूषित वचन नहीं निकलते। स्वरूप, कारण, फल आदि सभी के विषय में वह युक्तियुक्त कथन करता है, युक्तिविरुद्ध कदापि नहीं। निराधार एवं अप्रामाणिक वचन वह कभी नहीं बोलता। वह समीचीन वक्ता बन जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि न्यायशास्त्र हमारी बुद्धि और वाणी— दोनों के सर्व दोषों को दूर करता है, हमको निर्दोष बुद्धि और वाणी का धनी बनाता है, जो कि हमारे जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष होता है। हमारे विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय प्रायः कहा करते थे कि देखो, हमारे शरीर में एक तो बहुत बड़ा कोल्ड स्टोरेज है— मस्तिष्क, कभी उसकी बिजली नहीं जानी चाहिए, वरना सब सड़ जाएगा, तथा एक बड़ी शुगर फैक्ट्री है— जिह्वा, इसमें खराबी नहीं आनी चाहिए, वरना सब कड़ुआ हो जाएगा। संसार के अन्य किसी भी कारखाने के खराब होने से मनुष्य जाति का बड़ा नुकसान नहीं होगा, पर यदि ये दो कारखाने, जो हम सबके शरीर में ही बने हुए हैं, खराब हो गये तो महाविनाश हो जाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि और वाणी को निर्मल रखने से ही जीवन सफल और सार्थक होता है, और यह कार्य न्यायशास्त्र के अध्ययन से सहज संभव होता है, अतः हमें न्यायशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्ति करना चाहिए।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से हम किसी भी वस्तु के स्वरूप का निष्क्रान्त ज्ञान करने में समर्थ हो जाते हैं, कारण-कार्य-सम्बन्धों को समझने में भी हमसे कहीं कोई गलती नहीं होती। तथा इससे हमारे चित्त की सम्पूर्ण आकुलता दूर होकर सहज निराकुलता — शांति प्रकट होती है।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से सत्य का निर्णय करना सरल भी होता है, जिसप्रकार कि तराजू आदि पैमाने हों तो वस्तुओं का मान जानना सरल हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक लाभ न्यायशास्त्र के अध्ययन से होते हैं, अतः हम सबको मन लगाकर न्यायशास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। ❖❖

जो ण प्रमाण एहिं णिक्खेवेण णिक्खदे अट्ठं।

तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि॥

—(आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 1/82)

अर्थ— जो जीव प्रमाण-नय-निक्षेप से अर्थ को नहीं देखता है, उसे अयुक्त युक्त और युक्त अयुक्त दिखाई देता है।

जैन न्याय का वैशिष्ट्य

न्यायशास्त्र भारतीय दर्शन की लगभग सभी शाखाओं में उपलब्ध होता है। न केवल भारतीय दर्शनों में, पाश्चात्य दर्शनों में भी कहीं-कहीं न्याय के कुछ तत्त्व देखने को मिल जाते हैं। परन्तु इन सबमें जैन न्याय का अपना विशेष स्थान है। जैन न्याय के वैशिष्ट्य को हम संक्षेप में निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से भलीभांति समझ सकते हैं—

1. जैन न्याय के दो अंग हैं— प्रमाण और नय, जबकि अन्य न्यायों में मात्र एक ही अंग का वर्णन मिलता है— प्रमाण का। जैन न्याय में कहीं-कहीं तो एक निक्षेप नामक तीसरे अंग का भी वर्णन मिलता है। किन्तु अन्य न्यायों में नय एवं निक्षेप का वर्णन नहीं मिलता। जैन न्याय में प्रमाण की भांति नय एवं निक्षेप को भी पर्याप्त विस्तार प्राप्त हुआ है। इस प्रकार जैन न्याय का क्षेत्र अन्य न्यायों से अधिक व्यापक है।

2. जैन न्याय का मुख्य उद्देश्य तत्त्वाधिगम ही है, जय-पराजय नहीं। स्वमतमण्डन-परमतखण्डन भी जैन न्याय का मुख्य उद्देश्य नहीं है। जैन न्याय स्वमतमण्डन-परमतखण्डन या जय-पराजय के लिए छल, जाति, वितंडा, निग्रह आदि का उपयोग कभी नहीं करता। इस सन्दर्भ में मेरी पुस्तक ‘न्यायमन्दिर’ की भूमिका पठनीय है।

3. ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को ही प्रमाण मानना भी जैन न्याय का वैशिष्ट्य है। जैन न्याय ज्ञान के अतिरिक्त वेद, गुरु, इन्द्रिय, प्रकाश आदि किसी को भी प्रमाण पद पर आरुढ़ हो सकने के योग्य नहीं मानता।

4. ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को स्वपरप्रकाशक, स्व एवं पर— दोनों को जाननेवाला मानना भी जैन न्याय का एक वैशिष्ट्य है। अन्य न्याय ज्ञान को मात्र स्वप्रकाशक या मात्र परप्रकाशक ही मानते हैं।

5. जैन न्याय में स्मृति आदि कुछ ऐसे प्रमाण भी स्वीकार किये गये हैं, जिन्हें अन्यत्र प्रमाण नहीं माना जाता। स्मृति के सम्बन्ध में जैन न्याय का कहना है कि अविश्ववादी होने के कारण स्मृति को प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं

होनी चाहिए। तथा यदि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाएगा तो उसके आधार पर बनने वाले प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम को भी प्रमाण नहीं माना जा सकेगा।

6. जैन न्याय में हेतु का लक्षण एक अन्यथानुपपत्ति या तथोपपत्ति ही माना गया है। इसे अविनाभाव भी कहते हैं। अन्य न्यायों में हेतु के त्रैरूप्य या पांचरूप्य की चर्चा होती है।

7. जैन न्याय में आगम प्रमाण को भी वस्तुतः ज्ञानरूप ही माना गया है, शब्दरूप नहीं। शब्दरूप आगम को तो उपचार से प्रमाण माना गया है।

8. सर्वज्ञसिद्धि का प्रकरण भी जैन न्याय का एक अद्भुत वैशिष्ट्य है। इसे इतना अधिक विस्तार एवं गूढ़ता अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। यह प्रकरण जैन न्याय के लगभग सभी ग्रन्थों में पाया जाता है। यहाँ तक कि जैन नैयायिकों ने इस विषय पर स्वतंत्र रूप से भी 'सर्वज्ञसिद्धि' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

9. जैन न्याय में प्रमाण के साथ उसके विषय एवं फल का भी वर्णन उपलब्ध होता है। तथा वह भी बहुत मौलिक है। तथा उससे यह भी सिद्ध होता है कि जैन न्याय की सीमा में प्रमाण ही नहीं, प्रमेय और प्रमिति भी गर्भित होते हैं। जैन न्याय में प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता सभी का विचार किया जाता है।

10. जैन न्याय के ग्रन्थ बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं— इसे भी हम जैन न्याय का एक वैशिष्ट्य मान सकते हैं। इतने अधिक ग्रन्थ अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। जैन न्याय के लगभग 200 ग्रन्थों की सूची तो मैं ही प्रस्तुत कर चुका हूँ। देखिए मेरा निबन्ध— 'जैन न्याय ग्रन्थों का सूचीकरण'।

इसप्रकार यहाँ जैन न्याय की कतिपय प्रमुख विशेषताओं को संक्षेप में बताने का प्रयास किया गया। चिन्तन करने पर और भी अनेक विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं। अलमति विस्तरेण।



स्याद्वाद भी जैन न्याय का वैशिष्ट्य है

“न्यायशास्त्रों में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। उसमें स्याद्वाद वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।”

—डॉ. थामस

प्रधान ग्रंथपाल, इंडिया ऑफिस, लन्दन
स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री), पृष्ठ 249

जैन न्याय ग्रन्थों का सूचीकरण

यूँ तो जब 'तत्त्वार्थसूत्र' को न्यायग्रन्थ मान लिया जाता है तो उसकी सैकड़ों टीकाएँ भी न्यायग्रन्थ कहला सकती हैं, तथा दर्शन के जिन तार्किक ग्रन्थों में न्याय का प्रसंगानुकूल थोड़ा-बहुत वर्णन हुआ है उन्हें भी न्यायग्रन्थों की इस सूची में सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु यदि अभी इन सबको छोड़ दिया जाए और मात्र न्याय (प्रमाण-नय-विवेचन) के स्वतन्त्र ग्रन्थों की ही गणना की जाए तो भी आज वह लगभग 200 तक पहुँच जाती है— यह आश्चर्य का विषय है। बहुत-से लोग जैन-न्यायग्रन्थों के नाम पर परीक्षामुखसूत्र, न्यायदीपिका, प्रमाणमीमांसा आदि चार-छह ग्रन्थों को ही जानते हैं बस! इनके अतिरिक्त जो न्यायग्रन्थों का विशाल भण्डार है उसका उन्हें भान ही नहीं है। अतएव यहाँ जैन-न्याय-ग्रन्थों की यह सूची प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है इससे बहुत लोगों का भ्रम दूर होगा और उनको बहुत लाभ भी होगा।

हमारी भावना यहाँ यह भी है कि देशभर में व्याप्त जैन दर्शन एवं न्याय के विद्यालयों के छात्र व अध्यापक भी यथायोग्य इन ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन-सम्पादन-प्रकाशनादि में भी प्रवृत्त हों।

यह सूची अभी अपूर्ण है, विद्वज्जनों से अनुरोध है कि वे इसे पूर्ण करने में हमारा सहयोग करें।

(क) प्राचीन आचार्यों के मूल ग्रन्थ-

क्र.	ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	शताब्दी	प्रकाशक या उपलब्धि-स्थान
1.	तत्त्वार्थसूत्र	उमास्वामी	पहली	शताधिक संस्थाओं से प्रकाशित
2.	आप्तमीमांसा	समन्तभद्र	दूसरी	वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
3.	युक्त्यनुशासन	समन्तभद्र	दूसरी	वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
4.	जीवसिद्धि	समन्तभद्र	दूसरी	अनुपलब्ध
5.	स्वयम्भूस्तोत्र	समन्तभद्र	दूसरी	अनेक संस्थाओं से प्रकाशित
6.	सन्मत्तिसूत्र	सिद्धसेन	तीसरी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
7.	सारसंग्रह	पूज्यपाद	पाँचवीं	अनुपलब्ध, धवला में उद्धृत

8. जल्पनिर्णय	श्रीदत्त	छठी	अनुपलब्ध, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उद्धृत
9. त्रिलक्षणकदर्थन	पात्रस्वामी	छठी	अनुपलब्ध, अकलंकान्तवीर्यादि द्वारा उद्धृत
10. सुमतिसप्तक	सुमति	छठी	अनुपलब्ध
11. न्यायविनिश्चय	अकलंक	सातवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
12. स्वरूपसम्बोधन	अकलंक	सातवीं	रेडियंट पब्लिशर्स, कालकाजी, नई दिल्ली 2005
13. सिद्धिविनिश्चय	अकलंक	सातवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
14. प्रमाणसंग्रह	अकलंक	सातवीं	सिन्धी ग्रन्थमाला, अहमदाबाद
15. लघीयस्त्रय	अकलंक	सातवीं	गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी
16. न्यायचूलिका- बृहत्त्रयम्	अकलंक	सातवीं	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/635 में उल्लेख
17. द्वादशार नयचक्र	मल्लवादी क्षमाश्रमण	सातवीं	ओरियंटल इन्स्टी., बड़ौदा 1952
18. अनेकान्तजय- पताका	हरिभद्र	आठवीं	गायकवाड़ सीरीज, बड़ौदा
19. अनेकान्तवादप्रवेश	हरिभद्र	आठवीं	गायकवाड़ सीरीज, बड़ौदा
20. शास्त्रवार्ता- समुच्चय	हरिभद्र	आठवीं	देवचन्द्र लालभाई, सूरत
21. षड्दर्शनसमुच्चय	हरिभद्र	आठवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
22. आप्तपरीक्षा	विद्यानन्दि	आठवीं	वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
23. प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्दि	आठवीं	वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
24. पत्रपरीक्षा	विद्यानन्दि	आठवीं	सनातन जैन ग्रन्थमाला
25. सत्यशासनपरीक्षा	विद्यानन्दि	आठवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
26. श्रीपुरपार्श्वनाथ- स्तोत्र	विद्यानन्दि	आठवीं	वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
27. न्यायावतार	सिद्धसेन II	नौवीं	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
28. द्वात्रिंशतिकाएँ	सिद्धसेन II	नौवीं	
29. स्याद्वादसिद्धि	वादीभसिंह	नौवीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
30. नवपदार्थनिश्चय	वादीभसिंह	नौवीं	मूडबिंद्री ग्रन्थभण्डार
31. वादन्याय	कुमारनन्दि	नौवीं	अनुपलब्ध, विद्यानन्दि द्वारा उद्धृत

32. बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	अनन्तकीर्ति	नौवीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
33. लघुसर्वज्ञसिद्धि	अनन्तकीर्ति	नौवीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
34. स्वतःप्रामाण्यभंग	अनन्तकीर्ति	नौवीं	अनुपलब्ध
35. नयचक्र	देवसेन	नौवीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
36. आलापपद्धति	देवसेन	नौवीं	अनेकान्त ज्ञान मन्दिर, बीना
37. स्याद्वादोपनिषद्	सोमदेव	नौवीं	अनुपलब्ध
38. परीक्षामुखसूत्रम्	माणिक्यनन्दि	दसवीं	अनेक संस्थानों से प्रकाशित
39. प्रमाणनिर्णय	वादिराज	दसवीं	अनेकान्त ज्ञान मन्दिर, बीना
40. नयचक्र	माइल्लधवल	बारहवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
41. समयपरीक्षा	नयसेन	बारहवीं	
42. प्रमाणमीमांसा	हेमचन्द्रसूरि	बारहवीं	तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
43. षड्दर्शनेषु प्रमाण- प्रमेयसमुच्चय	आचार्य अनन्तवीर्य	बारहवीं	सम्पूर्णनन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 2000
44. अन्ययोग- व्यवच्छेदिका	हेमचन्द्रसूरि	बारहवीं	तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
45. विश्वतत्त्वप्रकाश	भावसेन-त्रैविद्य	बारहवीं	जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर
46. प्रमा-प्रमेय	भावसेन-त्रैविद्य	बारहवीं	
47. न्यायसूर्यावली	भावसेन-त्रैविद्य	बारहवीं	स्ट्रासबर्ग (जर्मनी) का संग्रहालय
48. कथा-विचार	भावसेन-त्रैविद्य	बारहवीं	तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा में उल्लिखित
49. प्रमेयरत्नाकर	आशाधर	तेरहवीं	अनुपलब्ध, आशाधर-प्रशस्ति में उल्लिखित
50. स्याद्वादरत्ना- वतारिका	रत्नप्रभसूरि	तेरहवीं	यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी
51. रत्नाकरावतारिका	रत्नप्रभसूरि	तेरहवीं	दलसुख मालवाणिया, भा.सं. विद्यामंदिर, अहमदाबाद
52. न्यायदीपिका	धर्मभूषणयति	14वीं	वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
53. कारुण्यकलिका	अज्ञात	अज्ञात	न्यायदीपिका में उल्लिखित
54. प्रमाणप्रमेयकलिका	नरेन्द्रसेन	18वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (इसका हिन्दी अनुवाद आचार्य सुविधिसागरजी ने किया है।)
55. सप्तभंगीतरंगिणी	विमलदास	18वीं	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
56. प्रवचनपरीक्षा	नेमिचन्द्र	18वीं	संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

57. न्यायमणिदीपिका	अजितसेन	18वीं	
58. न्यायकर्णिका	विनयविजय	18वीं	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/635
59. जैनतर्कभाषा	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
60. न्यायालो क	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
61. ज्ञानबिन्दु	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
62. अनेकान्तव्यवस्था	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
63. न्यायखण्डनखाद्य	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
64. अनेकान्तप्रवेश	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
65. गुरुतत्त्वविनिश्चय	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
66. नयप्रदीप	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
67. नयोपदेश	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
68. नयरहस्य	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
69. अध्यात्मपरीक्षा	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
70. न्यायभागमत- समुच्चय	जयचन्द्र छाबड़ा	18वीं	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/635
71. न्यायरत्न	मणिकण्ठ		जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध पांडुलिपि
72. न्यायमकरंद	शुभप्रकाश		जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध पांडुलिपि
(ख) टीका या व्याख्या ग्रन्थ-			
73. गन्धहस्ति- महाभाष्य	समन्तभद्र	दूसरी	अनुपलब्ध
74. सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद	5वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
75. सन्मतितर्कटीका	सुमति	छठी	अनुपलब्ध, वादिराज के पार्श्वनाथचरित में उल्लिखित
76. अष्टशती	अकलंक	7वीं	गांधीनाथा रंग जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
77. तत्त्वार्थवार्तिक- सभाष्य	अकलंक	7वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
78. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकविद्यानन्दि		8वीं	कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर
79. अष्टसहस्री (देवागमालंकार)	विद्यानन्दि	8वीं	जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी

80. युक्त्यनुशासनालंकार	विद्यानन्दि	8वीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुंबई
81. आप्तमीमांसावृत्ति	वादीभसिंह	9वीं	अनेकान्तज्ञान मन्दिर, बीना
82. सिद्धिविनिश्चयालंकार	वृहदनन्तवीर्य	9वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
83. प्रमाणसंग्रहालंकार	वृहदनन्तवीर्य	9वीं	अनुपलब्ध
84. जीवसिद्धिटीका	अनन्तकीर्ति	9वीं	अनुपलब्ध
85. न्यायविनिश्चयविवरण	वादिराज	10वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
86. आप्तमीमांसावृत्ति	वसुनन्दि	10वीं	सन्मतिग्रन्थमाला, काशी
87. प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्र	11वीं	लाला मुसद्दीलालजैन चैरिटेबल ट्रस्ट, दरियागंज, दिल्ली,
88. न्यायकुमुदचन्द्र	प्रभाचन्द्र	11वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
89. न्यायावतारवृत्ति	सिद्धर्षिगणी	11वीं	राजचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास
90. सन्मतितर्कटीका	अभयदेव	12वीं	गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद
91. प्रमेयरत्नमाला	अनन्तवीर्य	12वीं	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
92. प्रमाणनयतत्त्वा-लो कालंकार	वादिदेवसूरि	12वीं	श्री जैन गुरुकुल शिक्षण, संघ, ब्यावर, राज., 1942
93. न्यायावतारवार्तिक-सवृत्ति		12वीं	सिन्धी जैनग्रन्थमाला, मुंबई
94. अष्टसहस्रीविषम-पदतात्पर्यटीका	लघु समन्तभद्र	13वीं	जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी
95. लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	अभयचन्द्र	13वीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुंबई
96. प्रमेयरत्नसार	शान्तिषेण	13वीं	जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध पांडुलिपि
97. स्याद्वादमंजरी	मल्लिषेण	14वीं	रायचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास
98. प्रमेयकण्ठिका	शान्तिवर्णी	14वीं	वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली
99. प्रमेयरत्नालंकार	चारुकीर्ति	18वीं	मैसूर विश्वविद्यालय
100. अर्थप्रकाशिका	चारुकीर्ति	18वीं	
101. अष्टसहस्री-तात्पर्यविवरण	यशोविजय	18वीं	यशोविजयजैन ग्रन्थमाला, काशी
102. स्याद्वादकल्पलता (शास्त्रवार्तासमुच्चय टीका)	यशोविजय	18वीं	यशोविजयजैन ग्रन्थमाला, काशी

103. प्र मेयरत्नमाला- वचनिका जयचन्द्र छाबड़ा 18वीं अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई
104. आप्तमीमांसा- वचनिका जयचन्द्र छाबड़ा 18वीं
105. प्रमाणपरीक्षा- वचनिका जयचन्द्र छाबड़ा 18वीं
106. नयचक्रवचनिका पं. हेमचन्द्र 18वीं जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश 1/570
107. न्यायदीपिका- भाषावचनिका सदासुख दास 19वीं

(ग) आधुनिक आचार्यों या विद्वानों के ग्रन्थ-

108. जैनन्याय का विकास, मुनि नथमल, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, 1977
109. जैनन्याय, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1966
110. जैनन्याय, भाग-2, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, गणेश वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी, 1989
111. प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, वी. नि. 2497
112. आप्तमीमांसाटीका, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली, 1967
113. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, दरबारीलाल कोठिया, वीरसेवामंदिर, 1969
114. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र-परिशीलन, दरबारीलाल कोठिया, वीरसेवा-मंदिर,
115. न्यायसार, आर्यिका ज्ञानमती, त्रिलोकशोध संस्थान, हस्तिनापुर, सितम्बर 1974
116. नयप्रज्ञापन, कानजीस्वामी, दि.जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, गुजरात
117. भिक्षु न्यायकर्णिका, आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाड़नूं, राजस्थान
118. आप्तमीमांसा-विवेचन, पं. मूलचन्द्र शास्त्री
119. युक्त्यनुशासन-विवेचन, पं. मूलचन्द्र शास्त्री
120. नयदर्पण, जिनेन्द्र वर्णी, सौ. प्रेमकुमारी जैन स्मारक ग्रन्थमाला, जवरीबाग, इन्दौर, म.प्र.
121. जैन न्याय की भूमिका, डॉ. दरबारीलाल कोठिया, जैन विद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, जयपुर, 1994
122. न्यायरत्नसार, आचार्य घासीलालजी महाराज, साहित्य प्रकाशन समिति, 30, जावरा कम्पाऊंड, इन्दौर (म.प्र.)
123. जैन न्यायशास्त्र परिशीलन, विजयमुनि शास्त्री, दिवाकर प्रकाशन, ए-7, महात्मागांधी मार्ग, आगरा-2, 1990

124. आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका, प्रो. उदयचन्द्र जैन, गणेश वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी, 1975
125. स्वयम्भूस्तोत्र-तत्त्वप्रदीपिका, प्रो. उदयचन्द्र जैन, गणेश वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी, 1993
126. प्रमेयकमलमार्तण्ड-परिशीलन, प्रो. उदयचन्द्र जैन, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र., 1998
127. न्यायकुमुदचन्द्र-परिशीलन, प्रो. उदयचन्द्र जैन, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.
128. परमभावप्रकाशक नयचक्र, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1989
129. जैनशासन में निश्चय और व्यवहार, डॉ. रत्नचन्द जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
130. स्याद्वाद, पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, दिगम्बर जैन समाज, सहारनपुर, 1998
131. प्रारंभिक नय प्रवेशिका, ब्र. सन्दीप सरल, अनेकान्त ज्ञानमंदिर, बीना, सागर, म.प्र., 2004
132. अनेकान्तवाद, डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
133. स्याद्वाद और सप्तभंगीनय, भिखारीराम यादव, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
134. जैनदर्शन में अनेकान्तवाद : एक परिशीलन, डॉ. अशोक जैन, ऋषभदेव ग्रंथमाला, सांगानेर, जयपुर
135. अनेकान्त-स्याद्वाद-विमर्श, डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर, ज्ञान सागर केन्द्र, ब्यावर
136. स्याद्वादमंजरी का समीक्षात्मक अध्ययन, किरणकला जैन, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 1992
137. जैन तर्क भाषा की तात्पर्यसंग्रह वृत्ति— पं. सुखलाल संघवी, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, 1993
138. जैन तर्क भाषा की रत्नप्रभा टीका— आचार्य विजयोदय सूरि, जशवन्त लाल गिरधरलाल शाह प्रकाशन, अहमदाबाद, 1951
139. जैन तर्क भाषा (अंग्रेजी)— डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973
140. जैन तर्क भाषा (संस्कृत-विवरण एवं गुजराती अनुवाद)— उदयवल्लभ विजय, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, अहमदाबाद
141. जैनदर्शन में नयवाद, डॉ. सुखनन्दन जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2010

142. **दार्शनिक समन्वय की दृष्टि : नयवाद**, डॉ. अनेकान्त जैन, अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, बिहार
143. **आप्तमीमांसा-प्रवचन** (12 भागों में), मनोहरलाल वर्णी, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ, 1970
144. **आप्तपरीक्षा-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, 185-ए, रणजीतपुरी, सदर, मेरठ, उत्तर प्रदेश
145. **परीक्षामुख-प्रवचन** (26 भागों में) 1968-1969, संपा.-पं. देवचंद शास्त्री, सहारनपुर
146. **अष्टसहस्री-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ
147. **प्रमेयकमलमार्तण्ड-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ
148. **सप्तभंगितरंगिणी-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ
149. **युक्त्यनुशासन-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ
150. **युक्त्यनुशासनालंकार टीका**, हिन्दी अनुवाद डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन, प्रकाशक— आचार्य कुन्दकुन्द जैन विद्या केन्द्र, कविनगर, गाजियाबाद, उ. प्र., 2017
151. **अध्यात्म न्याय प्रवेशिका**, मन्लाल जैन वकील, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंडल, पंढरपुर, महाराष्ट्र
152. **बौद्ध प्रमाण मीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा**, डॉ. धर्मचन्द जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1995
153. **जैनदर्शन में प्रमाण-निरूपण**, डॉ. धर्मचन्द जैन, जयपुर
154. **जैन प्रमाण शास्त्र**, डॉ. धर्मचन्द जैन, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, बापूनगर, जयपुर, 2019
155. **अनुमान प्रमाण : जैन एवं बौद्ध न्याय की दृष्टि में**, डॉ. प्रद्युम्न शाह सिंह, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली 2006
156. **जैन न्याय प्रवेशिका**, ब्र. संदीप सरल, अनेकान्त ज्ञान मंदिर, बीना, 2009
157. **सरल नय प्रवेशिका**, ब्र. संदीप सरल, अनेकान्त ज्ञान मंदिर, बीना, 2009
158. **जैन न्याय को आचार्य अकलंक का योगदान**, संपादक—डॉ. कमलेश कुमार जैन, प्राच्य-श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र., 1999
159. **स्याद्वाद**, पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ, जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी 2009
160. **जैनन्यायखण्डखाद्यम्**, उपाध्याय यशोविजय, पं. बट्टीनाथ शुक्ल, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी, 1966
161. **परीक्षामुख पद्यानुवाद**, विश्वलोचनसागर मुनि, विराग विद्यापीठ, बतासा बाजार, भिण्ड, म.प्र.

162. **परीक्षामुख-प्रवेशिका**, डॉ. शुद्धात्मप्रभा टडैया, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर 2019
163. **नयचक्र गाइड**, डॉ. शुद्धात्मप्रभा टडैया, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर 2019
164. **अध्यात्मन्यायदीपिका**, मुनि वीरसागरजी, कन्नड़ अनुवाद बाहुबली भोसगे, डॉ. सतीश शहा, विजयपुर, कर्नाटक
165. **आचार्य प्रभाचन्द्र का जैन न्याय को योगदान**, योगेश कुमार जैन, विश्व भारती लाडनू, 2009
166. **परीक्षामुख**, पद्यानुवाद— मुनि विश्वलोचन सागर, सम्यग्ज्ञान विराग विद्यापीठ, भिण्ड (म.प्र.)
167. **आप्तपरीक्षा**, भावानुवाद— पं. उमरावसिंह जैन, स्याद्धाद महाविद्यालय, वाराणसी, वी. सं. 2441
168. **आप्तपरीक्षा**, पद्यानुवाद— पं. अभयकुमार शास्त्री, देवलाली (नासिक)
169. **आप्तमीमांसा**, पद्यानुवाद— पं. अभयकुमार शास्त्री, देवलाली (नासिक)
170. **नयरहस्य**, पं. अभयकुमार शास्त्री, देवलाली (नासिक), महाराष्ट्र
171. **आप्तपरीक्षा**, हिन्दी टीका— प्रो. वीरसागर जैन, अखिल भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्, जयपुर, 2017
172. **जैन न्याय प्रदीपिका**, प्रो. वीरसागर जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
173. **न्यायमंदिर**, डॉ. वीरसागर जैन, जैन विद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, जयपुर
174. **भारतीयचिंतने स्याद्धादः**, डॉ. वीरसागर जैन, ला.ब.शा.रा. संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, 2012
175. **Jain Logic**, Bhagchand Bhaskar, University of Madras, Chennai
176. **Jain Theories of Reality and Knowledge**, Y.J. Padmrjaiya, Motilal Banarsidas, 1963
177. **Jain and Hindu Logic**, P.K. Jain Research Books, B-5/263, Yamuna Vihar, Delhi-53
178. **Aapt Pariksha**, English Translation by Padmakar Munjole.

(घ) अप्रकाशित शोधप्रबन्ध-

179. **न्यायदीपिका का समालोचनात्मक अध्ययन**, नीलिमा कुमारी, प्राकृत शोधसंस्थान, वैशाली, 1957
180. **जैनदर्शन का नयवाद : एक मीमांसा**, इन्द्रदेव पाठक, प्राकृत शोधसंस्थान, वैशाली, 1976
181. **प्रमेयकमलमार्तण्ड का समीक्षात्मक अध्ययन**, निर्मला जैन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1981

182. भारतीय दर्शन में सर्वज्ञवाद : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में, प्रदीप कुमार जैन, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1981
183. आप्तपरीक्षा का दार्शनिक विवेचन, शोभालाल जैन, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1991
184. जैनन्यायसम्मत स्मृति प्रत्यभिज्ञान-तर्कप्रमाणों का अनुशीलन, सुषमा जैन, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 1992
185. लघीयस्त्रय का दार्शनिक विवेचन, हेमन्त कुमार जैन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी 1994
186. जैन तर्कभाषा का समीक्षात्मक अध्ययन, मायाराम, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
187. भारतीय दर्शनों का प्राणतत्त्व स्याद्वाद, मुनि पदम महाराज, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1999
188. प्रमेयरत्नमाला का दार्शनिक अध्ययन, अनिल कुमार वर्मा, लखनऊ विश्वविद्यालय, 2001
189. नयचक्र का दार्शनिक अध्ययन, जितेन्द्र बी. शाह, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
190. सन्मतितर्क प्रकरण का समीक्षात्मक अध्ययन, साध्वी मुदितयशा, जैन विश्वभारती, लाडनूं
191. सिद्धसेन के सन्मतितर्क का समालोचनात्मक अध्ययन, किरण श्रीवास्तव, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
192. जैनदर्शन में स्याद्वाद, कंचन लोढा, जोधपुर विश्वविद्यालय 1979
193. जैनन्याय तथा आधुनिक बहुपक्षीय तर्कशास्त्र, आशाकुमारी जैन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1979
194. न्यायविनिश्चय का समीक्षात्मक अध्ययन, अजेश जैन, रेवाड़ी
195. जैन तर्क भाषा का बौद्ध व न्याय तर्कभाषा से तुलनात्मक अध्ययन, चन्द्रमौलिश्वर पाण्डेय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2009
196. जैन एवं बौद्ध न्याय में अनुमान का स्वरूप, प्रद्युम्न शाह, जैन विश्व भारती, लाडनूं, 1996
197. अष्टसहस्री का समीक्षात्मक अध्ययन, विभा मलैया, सागर विश्वविद्यालय
198. **Jain Nayaya and Epistemology**, Kokila Shah, University of Mumbai
199. **Jainism and Navya Nyaya/A.uno/** Kyoto University, Japan
200. English Translation of **Nayaya Dipika**, Itaru Wakiyu, University of Pune
201. **Syadvada/Kusum Jain/University of Ottawa, Ottawa, Canada**



जैनदर्शन में संशय का स्वरूप

संशय दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। भारतीय एवं पाश्चात्य— सभी दर्शनों में ‘संशय’ के सम्बन्ध में सूक्ष्म चिन्तन हुआ है। यहाँ ‘संशय’ के सम्बन्ध में जैनदर्शन की अवधारणा को प्रस्तुत करने का संक्षिप्त प्रयास किया जाता है।

संशय के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम तो उन तत्त्वोपप्लववादियों या उच्छेदवादियों का निराकरण किया है जो संशय की सत्ता ही नहीं मानते, उसका सर्वथा उच्छेद करते हैं। इस प्रकरण का सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन आचार्य प्रभाचन्द्र के ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ नामक सुप्रसिद्ध न्याय-ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जिसका सारांश संक्षेप में इसप्रकार है—

“पूर्वपक्ष— संशयादि ज्ञान कोई है ही नहीं, फिर आप जैन ‘व्यवसायात्मक’ विशेषण द्वारा किसका खण्डन करेंगे ? आप यह बताइये कि संशय ज्ञान में क्या झलकता है— धर्म या धर्मी ? यदि धर्मी झलकता है तो वह सत्य है या असत्य? यदि सत्य है तो उस सत्य धर्मी को ग्रहण करने वाले ज्ञान में संशयपना कैसे हुआ? उसने तो सत्य वस्तु को जाना है, जैसे कि हाथ में रखी हुई वस्तु का ज्ञान सत्य होता है।

यदि उस धर्मी को असत्य मानो तो असत् जानने वाले केशोण्डुक ज्ञान की तरह संशय तो भ्रातिरूप हुआ?

यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि संशयज्ञान में धर्म झलकता है, तब प्रश्न होता है कि वह धर्म क्या पुरुषत्वरूप है अथवा स्थाणुत्वरूप है अथवा उभयरूप है? यदि स्थाणुत्वरूप है तो पुनः प्रश्न उठेगा कि सत् है या असत्? दोनों में पूर्वोक्त दोष आवेंगे। पुरुषत्व धर्म में तथा उभयरूप धर्म में भी वही दोष आते हैं, अर्थात् संशयज्ञान में स्थाणुत्व, पुरुषत्व अथवा उभयरूपत्व झलके, उनमें हम वही बात पूछेंगे कि वह स्थाणुत्वादि सत् है या असत्? यदि सत् है तो सत् वस्तु बतलाने वाला ज्ञान झूठ कैसे? और यदि वह स्थाणुत्व धर्म असत् है तो वह ज्ञान भ्रातिरूप ही रहा? यदि कहा जाय कि एक धर्म (स्थाणुत्व) सत् है और एक (पुरुषत्व) असत् है, तब वह एक ही ज्ञान भ्रांत तथा अभ्रांत दो रूप हुआ? यदि कहा जाय कि संशय में संदिग्ध पदार्थ ही झलकता है तो उस पक्ष में भी वह है या नहीं इत्यादि प्रश्न और वही दोष आते हैं इसलिए संशय नाम का कोई ज्ञान नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन)— तत्त्वोपप्लववादी का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि संशय तो प्रत्येक प्राणी को चलित प्रतिभास रूप से अपने आप में ही स्पष्ट समझ में आता है। संशय का विषय चाहे धर्म हो चाहे धर्मी, सत् हो चाहे असत्, इतने विकल्पों से संशय का बालाग्र भी खण्डित नहीं कर सकते, क्योंकि इस प्रकार आप प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु का भी अभाव करने लगोगे तो सुख-दुःखादि का भी अभाव करना चाहिए? आश्चर्य की बात है कि आप स्वयं ही इस संशय का विषय धर्म है या धर्मी, सत् है या असत् इसप्रकार के संशयरूपी झूले में झूल रहे हो और फिर भी उसी का निराकरण करते हो, सो अस्वस्थ हो क्या?

किञ्च— आप उत्पादक कारण का अभाव होने से, संशय को नहीं मानते हो या उसमें असाधारण रूप का अभाव होने से अथवा विषय का अभाव होने से संशय को नहीं मानते हो? प्रथम पक्ष अयुक्त है, देखो! संशय का उत्पादक कारण मौजूद है। किस कारण से संशय पैदा होता है सो बताते हैं— प्राप्त किया है स्थाणुत्व और पुरुषत्व के संस्कार को जिसने ऐसा व्यक्ति जब असमान विशेष धर्म जो मस्तक, हस्तादिक हैं तथा वक्र-कोटरत्वादि हैं उनका प्रत्यक्ष तो नहीं कर रहा और समान धर्म जो ऊर्ध्वता आदि हैं उनको देख रहा है तब उस व्यक्ति को अंतरंग में मिथ्यात्व के उदय होने पर संशय ज्ञान पैदा होता है। संशय का असाधारण स्वरूप का अभाव भी नहीं है, देखो! चलित प्रतिभास होना यही संशय का असाधारण स्वरूप है। विषय का अभाव भी दूर से ही समाप्त होता है स्थाणुत्व-विशिष्ट से अथवा पुरुष-विशिष्ट से जिसका अवधारण नहीं हुआ है ऐसा ऊर्ध्वता-सामान्य ही संशय का विषय माना गया है, और वह मौजूद ही है।”

इस सम्बन्ध में आचार्य प्रभाचन्द्र के अपने मूल शब्द भी द्रष्टव्य हैं जहाँ उन्होंने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा है कि संशय सर्वजनसुलभ एवं स्वात्मसंवेद्य है, उसका बाल की नोक बराबर भी खण्डन किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता—

“संशयः सर्वप्राणिनां चलितप्रतिपत्त्यात्मकत्वेन स्वात्मसंवेद्यः। सः धर्मविषयो वस्तु धर्मविषयो वा तात्त्विकातात्त्विककार्यविषयो वा किमेभिर्विकल्पैरस्य बालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते? प्रत्यक्षसिद्धस्याप्यर्थस्वरूपस्यापह्नवे सुखदुःखादेरप्यपह्नवः स्यात्॥”¹

इस प्रकार संशय की सत्ता सिद्ध करने के बाद संशय के स्वरूप का विचार किया गया है।

जैनाचार्यों के अनुसार संशय दो प्रकार का होता है— 1. ज्ञानात्मक और 2. श्रद्धानात्मक। ज्ञानात्मक संशय को ज्ञान का दोष या मिथ्याज्ञान भी कहते हैं और श्रद्धानात्मक संशय को श्रद्धा का दोष या मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।

दर्शन जगत् में मुख्यतया ज्ञानात्मक संशय की ही चर्चा होती है। ऊपर कही

गई ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ की चर्चा भी मुख्यतः ज्ञानात्मक संशय की ही चर्चा है।

जैन-न्याय-ग्रन्थों में सर्वप्रथम प्रमाण-विचार करते हुए ‘सम्यग्ज्ञान’ को ही प्रमाण का समीचीन लक्षण माना गया है और कहा गया है कि ‘सम्यग्ज्ञान’ में ‘सम्यक्’ पद का प्रयोग संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञानों की निवृत्ति के लिए किया गया है। यथा— “अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसाय- निरासाय क्रियते अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति।”²

इसके बाद वहाँ संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय— इन तीनों मिथ्याज्ञानों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— “विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावादनैककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य। विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः, यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्। अत्रापि सादृश्यादिनिमित्तवशाच्छुक्तिविपरीते रजते निश्चयः। किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः, यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्। इदं हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशयः। विपरीतैककोटिनिश्चयाभावान्न विपर्यय इति पृथगेव। एतानि च स्वविषय-प्रमितिजनकत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति, सम्यग्ज्ञानानि तु न भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते।”³

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को कहीं-कहीं संशय, विभ्रम, मोह शब्दों से भी कहा है। यथा—

“संशय विभ्रम मोह त्याग आपौ लखि लीजै।”⁴

‘मोह’ को भी कहीं-कहीं ‘विमोह’ शब्द से भी कहा गया है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने विमोह या अनध्यवसाय को ‘अव्युत्पत्ति’ शब्द से भी कहा है।⁵ आचार्य माणिक्यनन्दी को भी ‘अनध्यवसाय’ के लिए ‘अव्युत्पत्ति’ शब्द इष्ट रहा है। यथा— “संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां.....”⁶

कहने का तात्पर्य है कि मोह, विमोह, अव्युत्पत्ति और अनध्यवसाय— ये सभी पर्यायवाची हैं।

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय— इन तीनों को जैन ग्रन्थों में ‘समारोप’ शब्द से भी जाना जाता है, जैसाकि ‘परीक्षामुखसूत्र’ के निम्नलिखित सूत्र में कहा गया है— “दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्।”⁷

अर्थात् देखा-जाना हुआ अर्थ भी यदि ‘समारोप’ लग जाए तो पुनः अपूर्वार्थ हो जाता है।

यहाँ ‘समारोप’ शब्द का अर्थ संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय है। इसप्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय की चर्चा प्रायः सर्वत्र एक साथ ही उपलब्ध होती है, परन्तु

यहाँ हमारा प्रयोजन मात्र 'संशय' का ही स्वरूप स्पष्ट करना है, विपर्यय और अनध्यवसाय की चर्चा पृथक् रूप से फिर कभी करेंगे। अथवा उसे प्रमेयकमल-मार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला आदि ग्रन्थों से देखना चाहिए।

संशय का एक लक्षण 'न्यायदीपिका' ग्रन्थ से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। इसी प्रकार के लक्षण अन्य भी अनेक जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जिनमें से कतिपय प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

1. “अनेकार्थानिश्चितापर्युदासात्मकः संशयः।”⁸
2. “अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम्। शुक्ति वा रजतं किं वेत्येव संशीति-लक्षणम्।”⁹
3. “संशयो नामानवधारितार्थज्ञानम्।”¹⁰
4. “एकधर्मिकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं हि संशयः।”¹¹

ध्यातव्य है कि प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि संशय दो कोटियों को स्पर्श करने वाला होता है, परन्तु यहाँ 'दो' या 'उभय' पद का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि 'अनेक' पद का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि संशय में दो ही कोटियों का स्पर्श होना आवश्यक नहीं है, दो का भी हो सकता है और दो से अधिक का भी हो सकता है।

इसी प्रकार कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि इन कोटियों में से एक सत्य होती है और एक असत्य। परन्तु यहाँ ऐसा भी कुछ नहीं कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि संशयज्ञान की ये कोटियाँ सब की सब असत्य भी हो सकती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उनमें एक सत्य ही हो। यह बात उदाहरण से भी सहज समझ में आती है। यथा— किसी को संशय होता है कि यह सीप है या चाँदी। यहाँ यह हो सकता है कि वह वस्तु दोनों ही न हो, एल्युमिनियम, पन्नी आदि कुछ और ही चमकीली वस्तु हो। किन्तु यहाँ परिभाषा में 'विरुद्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है— 'विरुद्धनानाकोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः'— इससे मुझे ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनमें से एक का सत्य होना अनिवार्य है। जो भी हो, इतना अवश्य है कि संशयज्ञान की सभी कोटियाँ सर्वथा असत्य (असत्) नहीं होती, उन-उन अर्थों की लोक में सत्ता अवश्य होती है, सर्वथा असत् वस्तु का संशय नहीं होता। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने संशय के द्वारा भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है। यथा—

“सत्यपि संशये तदालम्बनादात्मसिद्धिः। न हि अवस्तुविषयः संशयो भवति।”¹²

इसप्रकार संशयज्ञान मिथ्या होते हुए भी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करता है— यह बड़ी अद्भुत बात है।

संशय के सम्बन्ध में एक अन्य भ्रान्ति यह है कि कुछ लोग जिज्ञासा या प्रश्न को भी संशय समझ लेते हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो जिज्ञासा संशय

नहीं है, जिज्ञासा और संशय में बहुत अन्तर है। जिज्ञासा में जानने की इच्छा है, प्रश्न का उत्तर बताने का निवेदन है, परन्तु संशय में ऐसी कोई बात नहीं है।

दरअसल ज्ञान के अनेक रूप होते हैं— जिज्ञासा, प्रश्न, संशय आदि। हमें इन सब में विद्यमान सूक्ष्म अन्तर को समझना चाहिए।

इसी प्रकार कुछ लोग अवग्रह ज्ञान को भी जो कि मतिज्ञान का एक (प्रथम) भेद है, संशय समझ लेते हैं, परन्तु संशय और अवग्रह ज्ञान में भी बड़ा अन्तर है, अवग्रह ज्ञान संशय ज्ञान नहीं है। जैसा कि आचार्य अभिनव धर्मभूषण यति ने भी स्पष्ट कहा है—

“तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्ताऽवान्तर-जातिविशिष्टवस्तुग्रही ज्ञानविशेषोऽवग्रहः यथाऽयं पुरुष इति। नाऽयं संशयः, विषयान्तरव्युदासेन स्वविषयनिश्चयात्मकत्वात्। तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः।”¹³

अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के मिलन के तुरन्त बाद होने वाला और सत्तावलोकन के बाद अवान्तर सत्ता को विषय करने वाले ज्ञानविशेष को अवग्रह कहते हैं। जैसे— यह पुरुष है। यह अवग्रह संशय नहीं है, क्योंकि इसमें अन्य विषय नहीं है और अपने विषय का निश्चय है। संशय इससे विपरीत होता है।

1. “अनेकार्थानिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयस्तद्विपरीतोऽवग्रहः।”¹⁴
2. “संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः।”¹⁵

अर्थात् अनेक अर्थों में अनिश्चयरूप संशय होता है, जबकि अवग्रह इससे विपरीत होता है। संशय ही निर्णय-विरोधी होता है, न कि अवग्रह।

इसप्रकार संशय के प्रधान भेद ज्ञानात्मक संशय का स्वरूप हुआ। अब संशय के द्वितीय भेद श्रद्धानात्मक संशय का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया जाता है।

कहा जा चुका है कि श्रद्धानात्मक संशय श्रद्धा का दोष है जिसे जैन-ग्रन्थों में मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन भी कहा सकता है। जैनदर्शन के अनुसार मिथ्यात्व 5 प्रकार का होता है— 1. एकान्तमिथ्यादर्शन, 2. विपरीतमिथ्यादर्शन, 3. संशयमिथ्यादर्शन, 4. वैनयिकमिथ्यादर्शन, 5. अज्ञानिकमिथ्यादर्शन।

इन पाँचों का स्वरूप इसप्रकार बताया गया है— “तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः। पुरुष एवेदं सर्वं इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति। सग्न्यो निर्ग्न्यः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्धयतीत्येवमादिः विपर्ययः। सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्तरपक्षापरिग्रहः संशयः। सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्। हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्।”¹⁶

अर्थात् यही है या ऐसा ही है— ऐसा धर्म-धर्मी का ऐकान्तिक श्रद्धान एकान्त

मिथ्यादर्शन है। जैसे— यह सब पुरुष ही है अथवा वस्तु नित्य या अनित्य ही है। साधु परिग्रही होते हैं, केवली कवलाहारी होते हैं, स्त्री को तदभव-मुक्ति प्राप्त होती है— यह विपरीत मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता मोक्षमार्ग है या नहीं— ऐसा मानना संशय मिथ्यात्व है। सभी देवों को और सभी धर्मों को समान मानना वैनयिक मिथ्यात्व है। हिताहित का परीक्षण न करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

इन पाँच प्रकार के मिथ्यादर्शनों में से संशय नामक मिथ्यादर्शन को ही श्रद्धानात्मक संशय कहते हैं। ज्ञानात्मक संशय को मिथ्याज्ञान कहते हैं और श्रद्धानात्मक संशय को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

विचारणीय है कि ज्ञानात्मक संशय (मिथ्याज्ञान) और श्रद्धानात्मक संशय में मूलभूत अन्तर क्या है?

दरअसल बात यह है कि सामान्यतः किसी भी विषय को जानने में जो संशय होता है उसे ज्ञानात्मक संशय कहते हैं किन्तु जब वही संशय किसी मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषय के सम्बन्ध में होता है तो उसे श्रद्धानात्मक संशय कहते हैं, क्योंकि उसमें मात्र ज्ञानावरण कर्म का उदय निमित्त नहीं होता, मोहनीय कर्म का उदय भी निमित्त होता है।

श्रद्धानात्मक संशय की अवधारणा तो जैनाचार्यों की ही विशिष्ट देन है।

सन्दर्भ-सूची

1. प्रमेयकमलमार्तण्ड, सूत्र 1/3
2. न्यायदीपिका, 1/8
3. न्यायदीपिका, 1/9
4. कविवर दौलतराम, छहढाला 4/6
5. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 11, श्लोक 353, 355
6. आचार्य माणिक्यनन्दि, परीक्षामुखसूत्रम् 3/17
7. वही, 1/4
8. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिकम् 1/15/9
9. मोक्षपञ्जिका 5
10. सूर्यप्रज्ञप्ति, मलयगिरिवृत्ति, 2, पृष्ठ 5
11. सप्तभंगीतरंगिणी, पृष्ठ 6
12. मल्लिषेणसूरि, स्याद्वादमंजरी, 17
13. न्यायदीपिका 2/11
14. तत्त्वार्थवार्तिकम् 1/15/9
15. वही, 1/15/10
16. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि 8/1



जैनदर्शन में ज्ञानमीमांसा

जैनदर्शन के ग्रन्थों में ज्ञान का स्वरूप अत्यन्त विस्तारपूर्वक ऊहापोह करते हुए लिखा गया है। यहाँ उसे संक्षेप में बिन्दुवार लिखने का एक लघु प्रयास करते हैं। आशा है इससे इस विषय को सर्वांग रूप से समझने में कुछ सहायता प्राप्त होगी।

ज्ञान का स्वरूप समझने से आत्मा का स्वरूप भी समझ में आएगा, क्योंकि जो ज्ञान है वही आत्मा है। ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है। अथवा ज्ञान आत्मा का लक्षण है। लक्षण से लक्ष्य का ग्रहण सरल हो जाता है। अथवा, आत्मा अव्यक्त है और ज्ञान व्यक्त, इसलिए भी ज्ञान के द्वारा आत्मा का ग्रहण कराया है। अतएव यहाँ ज्ञान का स्वरूप समझने की कोशिश करते हैं—

1. सर्वप्रथम तो यह ज्ञातव्य है कि शास्त्रों में ‘ज्ञान’ शब्द के अर्थ कहीं ज्ञान का स्वामी आत्मा है, कहीं ज्ञान गुण है, कहीं ज्ञान की पर्याय है, कहीं ज्ञान की शुद्ध पर्याय है और कहीं ज्ञान की पूर्ण शुद्ध पर्याय है। इनमें से जहाँ जो उचित हो वही समझना चाहिए।
2. ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, वह कहीं बाहर से नहीं आता।
3. ज्ञान का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं है, अपितु स्वरूप (तादात्म्य) सम्बन्ध है— अग्नि और उष्णता की भाँति।
4. ज्ञान का आत्मा के साथ समवायसम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं।
5. ज्ञान को सांख्यमत के समान अचेतन भी नहीं माना जा सकता।
6. ज्ञान या ज्ञान की कोई भी पर्याय वास्तव में दुःख का कारण नहीं है।
7. ज्ञान का मुक्तावस्था में भी अभाव नहीं होता।
8. ज्ञान आत्मा जितना ही है, आत्मा से किंचित् भी हीन या अधिक नहीं।
9. ज्ञान दर्पण की भाँति मात्र जानता है, अन्य कुछ भी (ग्रहण-त्याग, राग-द्वेष) नहीं करता।

10. जानते समय भी वह समस्त ज्ञेयों को जानता है, किसी एक को भी नहीं छोड़ता।
11. ज्ञान सभी ज्ञेयों को युगपत् जानता है, क्रमशः नहीं।
12. सभी ज्ञेयों में भूत-भविष्यत्-कालीन ज्ञेयों को भी समाहित समझना चाहिए, मात्र वर्तमानकालीन ज्ञेयों को ही नहीं।
13. ज्ञान को इन्द्रियों एवं प्रकाशादि की भी अपेक्षा वास्तव में नहीं होती।
14. पदार्थ और प्रकाश भी ज्ञान के कारण नहीं हैं, क्योंकि उनके साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक नहीं बनता।
15. ज्ञान ज्ञेयों से उत्पन्न नहीं होता, ज्ञेयों से प्रभावित भी नहीं होता।
16. ज्ञान ज्ञेयों (अर्थ) के आकाररूप भी नहीं परिणमित होता।
17. ज्ञान ज्ञेय को ग्रहण नहीं करता, त्याग नहीं करता, ज्ञेयरूप परिणमित भी नहीं होता, ज्ञेय का कुछ भी भला बुरा नहीं करना।
18. ज्ञान अपने में ही रहकर ज्ञेयों को जानता है, अपने में से निकलकर उन ज्ञेयों के पास जाता नहीं है और उन्हें भी अपने पास नहीं बुलाता है। यद्यपि सबको जानने के कारण ज्ञान को 'सर्वगत' (सर्वव्यापक) भी कहते हैं।
19. ज्ञान ज्ञेयों की अपेक्षा नहीं रखता, ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता।
20. किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञेय हैं ही नहीं, जैसा कि ज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं। ज्ञेय हैं अवश्य, किन्तु वे ज्ञान के अधीन नहीं। ज्ञान और ज्ञेय दोनों की सत्ता स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है, कोई किसी के अधीन नहीं है।
21. ज्ञान को जानने में कोई भार (कष्ट) नहीं लगता, यह तो उसका सहज स्वाभाविक कार्य है –दर्पण के समान।
22. ज्ञान सन्निकर्ष से नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक दोष उपस्थित होते हैं— सूक्ष्म-आन्तरिक दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, कोई सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, आदि।
23. ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं।
24. ज्ञान सदा पर के साथ स्वयं को भी जानता है, स्व-पर-प्रकाशक है –प्रदीप की भाँति।
25. ज्ञान को मात्र स्वप्रकाशक या मात्र परप्रकाशक मानने में अनेक दोष आते हैं।
26. यद्यपि ज्ञान परज्ञेयों को इसप्रकार जानता है कि ऐसा भी कहा जा सकता

है कि वह पर को नहीं जानता, स्व को ही जानता है।

27. ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति ही है, ग्रहण-त्याग-उपेक्षा नहीं। ग्रहण-त्यागादि तो उसका परम्परा फल कहा जाता है।
28. ज्ञान वस्तुतः एक ही प्रकार का है; उसके मति-श्रुत-अवधि आदि, इन्द्रिय-अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष-परोक्ष, सम्यक्-मिथ्या आदि सभी भेद उपचार से कहे गये हैं। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र में 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि' कहकर भी 'ज्ञानम्' पद एकवचन में कहा है।
29. ज्ञान वस्तुतः शुद्ध ही होता है। उसमें रागादिजन्य और ज्ञेयकृत —दोनों ही प्रकार की अशुद्धता नहीं आती। रागादि सहित ज्ञान भी वास्तव में रागादि से रहित ही है, क्योंकि दोनों में लक्षणभेद है। इसीप्रकार ज्ञेय-सहित ज्ञान भी वास्तव में ज्ञेय-रहित ही है, अनेक पदार्थ-प्रतिबिम्बित दर्पण की भाँति।
30. ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए जैन-आगम-ग्रन्थों में अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं— दर्पण, दीपक, सूर्य, अग्नि, चक्षु, स्फटिक मणि, इन्द्रनील मणि, जपाकुसुम आदि। यथा—

“सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमचन्द्रजलानलाः।

आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः॥” —(पंचाध्यायी)

सन्दर्भ सूची

1. कसायपाहुड 1/1/1
2. प्रवचनसार, ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार
3. समयसार, गाथा 181-183, 204 एवं सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार
4. तत्त्वार्थसूत्र 1/9-33
5. सर्वार्थसिद्धि 1/31
6. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/10, 1/7/14
7. धवला 1/1/1/1, 1/1/4
8. परीक्षामुखसूत्रम् 1/6-12
9. पंचाध्यायी



परमार्थ से ज्ञान एक ही है

“आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।

सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिब्बुदिं जादि॥”

—(आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 204)

अर्थ— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल— ये सब वास्तव में एक ही पद है और वही परमार्थ है जिसे समझकर आत्मा निर्वाण को प्राप्त करता है।

जैनदर्शन में चेतना एक, नाम अनेक

जैनदर्शन के ग्रन्थों में चेतना का स्वरूप अत्यन्त विस्तारपूर्वक समझाया गया है। कह सकते हैं कि जैनागमों का पचास प्रतिशत से अधिक अंश वास्तव में चेतना के ही विवेचन हेतु समर्पित है, उसमें पद-पद पर चेतना के ही विभिन्न रूपों का निरूपण उपलब्ध होता है। यहाँ उसी विषय को कतिपय बिन्दुओं के माध्यम से सरलतापूर्वक लिखने का विनम्र प्रयास किया जाता है।¹

1. चेतन (जीव/आत्मा) का परिणमन या व्यापार ही चेतना है, जिसका स्वरूप ज्योति, दर्पण आदि के समान मात्र प्रतिभासात्मक (नित्य-प्रकाशमय) है।
2. यह चेतना पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कृमि, चींटी, भ्रमर, मनुष्य आदि समस्त शरीरधारियों में शरीर से भिन्न एक स्वतन्त्र सत् के रूप में पाई जाती है। किसी एक की चेतना का अन्य की चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं है।
3. चेतना को उपयोग, ज्ञान, दर्शन, वेदन, संवेदन, परिच्छेदन आदि अनेक पर्यायवाची नामों से जाना जाता है।
4. यह चेतना यद्यपि मूलतः प्रतिभासात्मक (मात्र जानने रूप) होने से एक ही प्रकार की है, परन्तु कभी विषय के आधार पर, कभी कार्य के आधार पर और कभी कार्यपद्धति के आधार पर उस एक ही चेतना को हजारों नामों से कहा जाता है। कभी यह अपने विषय का निर्णय करती है, कभी परीक्षण करती है, कभी तुलना करती है, कभी जानने/भोगने की इच्छा करती है, कभी पुराना याद करती है, कभी भूल जाती है, इत्यादि; अतः इस आधार पर इसके अनेक नाम पड़ जाते हैं। यथा— धारणा, परीक्षा, प्रत्यभिज्ञा, जिज्ञासा, स्मृति, विस्मृति आदि।
5. इसी प्रकार यह चेतना कभी शब्दों के माध्यम से जानती है, कभी इन्द्रियों के माध्यम से प्रवर्तती है और कभी बिना ही इन्द्रियों की सहायता के प्रवर्तती है, अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम पड़ जाते हैं। यथा— आगमज्ञान,

1. इस सम्बन्ध में मैंने एक अन्य लेख भी पूर्व में लिखा है— ‘जैनदर्शन में ज्ञानमीमांसा।’ उसे भी इसके साथ पढ़ना उपयोगी है।

इन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान आदि। तथा इसमें भी अनेक उपभेद और भी किए जा सकते हैं। जैसे— जब वह स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से प्रवर्तती है तो उसे ‘छूना’ कहते हैं, रसनेन्द्रिय के माध्यम से प्रवर्तती है तो उसे ‘चखना’ कहते हैं, घ्राणेन्द्रिय के माध्यम से प्रवर्तती है तो उसे ‘सूँघना’ कहते हैं, इत्यादि।

6. इसी प्रकार कभी यह चेतना राग-सहित प्रवर्तती है, कभी द्वेष-सहित प्रवर्तती है और कभी राग-द्वेष दोनों से रहित प्रवर्तती है; अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम हो जाते हैं। यथा— रागात्मक चेतना, द्वेषात्मक चेतना, वीतराग चेतना।
7. यह चेतना कभी सम्यक् निर्णयात्मक होती है और कभी निर्णय-रहित या मिथ्या निर्णयात्मक होती है, अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम/रूप बन जाते हैं। यथा— प्रमाण एवं अप्रमाण या प्रमाणाभास।
8. जब प्रमाण होती है तब भी कभी पूरी वस्तु को जानती है और कभी उसके एक अंश को, अतः इस आधार पर भी उसके अनेक नाम हो जाते हैं। यथा— प्रमाण, नय।
9. जब अप्रमाण होती है तब भी कभी विरुद्धानेककोटिस्पर्शी होती है, कभी विपरीतैककोटिस्पर्शी होती है और कभी किमित्यालोचनमात्र होती है; अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम/रूप बन जाते हैं। यथा— संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय।
10. यह चेतना कभी हिंसादि पापभाव संयुक्त होती है, कभी दया-पूजा-व्रतादि रूप पुण्यभाव संयुक्त होती है और कभी पाप-पुण्य के समस्त भावों से रहित रहती है, अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम/रूप बन जाते हैं। यथा— शुभ चेतना, अशुभ चेतना, शुद्ध चेतना।
11. यह चेतना कभी कर्म करने रूप होती है, कभी कर्मफल भोगने रूप होती है और कभी इन दोनों से भिन्न मात्र जानने रूप होती है; अतः इस आधार पर भी इसके कई नाम/रूप बन जाते हैं। यथा— कर्मचेतना, कर्मफलचेतना, ज्ञानचेतना।
12. यह चेतना कभी नाना विकल्पों सहित होती है और कभी समस्त विकल्पों से रहित होती है, अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम हो जाते हैं। यथा— सविकल्प चेतना, निर्विकल्प चेतना।
13. यही चेतना जब एकाग्रचिन्तानिरोध रूप होती है तो इसे ही ध्यान कहते हैं।
इसी प्रकार और भी अनेक पक्षों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा सकता है और फिर हम कह सकते हैं कि वास्तव में चेतना एक ही है— मात्र प्रतिभासात्मक, किन्तु उपचार से उस एक ही चेतना के हजारों नाम/रूप गिनाये जाते हैं। ❖❖

क्या दर्शनोपयोग अप्रमाण है ?

जैन दर्शन में चेतना या उपयोग के दो भेद कहे हैं— ज्ञान एवं दर्शन। ये दोनों ही पदार्थों को जानने का कार्य करते हैं। किन्तु जैन-न्याय के ग्रन्थों में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है, दर्शन को नहीं। परीक्षामुख आदि में तो स्पष्ट रूप से ही दर्शन की प्रमाणता का निराकरण किया गया है। कहा गया है कि गृहीत ज्ञान, दर्शन, संशय आदि प्रमाणाभास हैं। यथा—

“अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः।” —(परीक्षामुखसूत्र 6/2)

अर्थ— अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशयादि प्रमाणाभास हैं।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि दर्शन भी तो पदार्थ का सम्यक् अवलोकन करता है, अतः उसे भी ज्ञान की भांति प्रमाण मानना चाहिए था, उसे प्रमाण क्यों नहीं माना गया? क्या वह अप्रमाण है? यदि अप्रमाण है तो शास्त्रों में उसे मिथ्या क्यों नहीं कहा गया?

यदि कहा जाए कि दर्शन ज्ञान की तरह व्यवसायात्मक/निर्णयात्मक नहीं होता इसलिए उसे प्रमाण नहीं माना है, तो ऐसे तो अवग्रह और ईहा ज्ञान भी नहीं होते, उनको प्रमाण क्यों माना गया?

यदि कहा जाए कि दर्शन वस्तु के सामान्य अंश को जानता है, निराकार होता है इसलिए उसे प्रमाण नहीं माना है, तो यह तो उसका स्वरूप ही है, यह कोई दोष नहीं है।

समाधान— दरअसल, परीक्षामुख आदि न्यायग्रन्थों में जिस दर्शन का निराकरण किया गया है, वह बौद्धाभिमत निर्विकल्पक दर्शन है, जो स्वविषय का उपदर्शक नहीं होता और इसीलिए उसे प्रमाणाभास कहकर उसका निराकरण किया गया है, जैसा कि वहीं पर आगे निम्नलिखित सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है—

“स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्।” —(परीक्षामुखसूत्र 6/3)

इस प्रकार यह भलीभांति स्पष्ट है कि जैन-न्याय-ग्रन्थों में जैनदर्शनाभिमत दर्शन की प्रमाणता का निराकरण नहीं किया गया है।

शंका— किन्तु वह प्रमाण है —यह भी कहीं सिद्ध नहीं किया गया है?

समाधान— वस्तुतः बात ऐसी लगती है कि न्याय की चर्चा मुख्यतः अन्य

दर्शनों के साथ होती रही है और उसमें दर्शन को प्रमाण की कोटि में लाने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ी, क्योंकि अन्य दर्शन ऐसी कोई अवधारणा दर्शनोपयोग की नहीं मानते, यह तो जैन दर्शन का ही विशेष सूक्ष्म विषय है।

शंका— अवग्रह, ईहा भी तो जैनदर्शन के ही विशेष सूक्ष्म विषय हैं, उनकी प्रमाणता क्यों स्थापित की गई?

समाधान— वे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष की चर्चा करते समय सहज आ गये, उन्हें अलग से नहीं लेना पड़ा। वह भी सब आचार्यों ने नहीं लिया, कुछ ने ही जैन पाठकों की जिज्ञासा शान्त करने के लिए संक्षेप में लिया है, किन्तु दर्शन को तो एकदम अलग से लेना पड़ता।

शंका— ले लेते, उसमें क्या दिक्कत थी?

समाधान— यह विषय जटिल बहुत है, अन्य दर्शन वालों को तो विशेष रूप से इसे समझाना बहुत कठिन है। जैन ग्रन्थों में भी यह विषय एकदम स्पष्ट रूप से नहीं मिलता।

तथापि हमें उम्मीद है कि यह विषय कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी आचार्य ने अवश्य उठाया होगा, हमने देखा नहीं है —इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि कहीं है ही नहीं। हमें और खोजना चाहिए।

फिलहाल, बहुत खोजने पर हमें इस सन्दर्भ में अभयदेवसूरि कृत सन्मत्तिसूत्र टीका, पृष्ठ 458 पर यह विषय संक्षेप में उपलब्ध हुआ है, जहाँ दर्शन को प्रमाण के रूप में स्थापित किया है और यह बहुत ही महत्वपूर्ण प्रमाण है। कोई कारण नहीं कि हम इसे न मानें। वहाँ टीकाकार अभयदेवसूरि लिखते हैं कि निराकार और साकार दोनों ही उपयोग अपने विषय को मुख्य रूप से प्रतिभासित करने के कारण तथा इतर विषय को गौण करने के कारण प्रमाण हैं। यथा—

“निराकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृत तदितराकारौ स्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणं न तु निरस्तेतराकारौ, तथाभूतवस्तुरूपविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेः इतरांशविकलैकांशरूपोपयोगसत्तानुपपत्तेश्च ॥”

—(सिद्धिविनिश्चय, प्रस्तावना, पृष्ठ 105)

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि दर्शन को प्रमाण मानने में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं है। उसे अप्रमाण कहना/मानना उचित नहीं है। उसमें अप्रमाणता का हेतुभूत विसंवाद नहीं पाया जाता, वह संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप नहीं है।

शंका— आपने ऊपर कहा कि दर्शनोपयोग का स्वरूप जैन ग्रन्थों में भी एकदम स्पष्ट नहीं है, वह क्या है?

समाधान— मैंने ऊपर जो यह कहा था कि दर्शनोपयोग का स्वरूप जैन ग्रन्थों

में भी एकदम स्पष्ट नहीं है, उसका आशय यह है कि वह मेरी समझ में नहीं आया है, मैं उसे जब भी ठीक से पढ़ने-समझने की कोशिश करता हूँ तभी उलझ जाता हूँ, स्पष्ट नहीं हो पाता हूँ वहाँ मुझे आचार्यों में भी कुछ मतभेद-सा समझ में आता है।

तथापि अब तक मेरी समझ में जो आया है वह यह है कि ‘आत्मग्राहकं दर्शनं परग्राहकं ज्ञानं’ (बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 44) अर्थात् जो आत्मा को जाने वह दर्शन है और जो पर को जाने वह ज्ञान है। हम लोग जो कहते हैं कि ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है, वह स्थूल कथन है, वहाँ हम ज्ञान में दर्शन को गर्भित कर लेते हैं। ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है —इसका अर्थ है कि आत्मा स्व-पर-प्रकाशक है, क्योंकि वह दर्शन एवं ज्ञान दोनों गुणों का स्वामी है, दोनों गुणों के द्वारा स्व एवं पर को भलीभाँति जानता है।

तथा जब यह कहा जाता है कि दर्शन निराकार/सामान्य को जानता है और ज्ञान साकार/विशेष को जानता है, तब हमें निराकार/सामान्य का अर्थ आत्मा और साकार/विशेष का अर्थ पर समझना चाहिए।

तथा जो यह कहा जाता है कि छद्मस्थ के दर्शन-ज्ञान क्रम से होते हैं और केवली के युगपत्, उसका अभिप्राय भी यही है कि छद्मस्थ अवस्था में हमारा उपयोग एक समय में एक ही जगह रहता है, जब हम स्व को जानते हैं तब पर को नहीं जानते और जब पर को जानते हैं तब स्व को नहीं जानते, किन्तु केवली एक साथ स्व एवं पर दोनों को युगपत् जानते हैं।

समयसार, गाथा 299 की टीका में भी कहा है कि चेतना स्वपरप्रकाशक है, क्योंकि द्विरूप है, दृग्ज्ञप्तिरूप है, जो सामान्य को जाने वह दर्शन है और जो विशेष को जाने वह ज्ञान है।

दरअसल, दर्शनोपयोग का विषय सूक्ष्म है, जिसे हम सरलता से ग्रहण नहीं कर पाते हैं, इसलिए भी इस विषय को समझने में हमें कठिनाई हो रही है। किन्तु जिसप्रकार अवग्रह ज्ञान का विषय भी सूक्ष्म है, फिर भी हम उसे प्रमाण मानते हैं, क्योंकि वह संशयादि रूप नहीं है, निर्णयात्मक ज्ञान का विरोधी नहीं है, अपितु उसी का प्रारम्भिक रूप है, उसीप्रकार दर्शनोपयोग का विषय भी सूक्ष्म है और संशयादि रूप नहीं है, निर्णयात्मक ज्ञान का विरोधी भी नहीं है, अपितु उसी का प्रारम्भिक रूप है, अतः उसे प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

निष्कर्ष— न्यायशास्त्र में प्रमाण को सामान्यविशेषात्मक पूर्ण वस्तु को जाननेवाला एवं स्वपरप्रकाशक कहा है, इससे सिद्ध होता है कि वहाँ ज्ञान में दर्शन भी गर्भित है, अतः दर्शन भी प्रमाण ही है, उसे अप्रमाण नहीं कह सकते। आशा है विद्वज्जन इस विषय पर चिन्तन करेंगे और जो कुछ स्खलन हो उसको संशोधित करेंगे।



क्या धारावाहिक ज्ञान अप्रमाण है ?

धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानने न मानने के सम्बन्ध में जैनाचार्यों में मतभेद पाया जाता है। आचार्य अकलंक ने सर्वप्रथम धारावाहिक ज्ञान को प्रमाणकोटि से बाहर किया था। उनसे पूर्व ऐसी व्यवस्था नहीं थी। तथा इनके बाद भी विद्यानन्द आदि आचार्यों ने इसे प्रमाण के लक्षण में आया हुआ एक ‘व्यर्थ विशेषण’ माना है। कहा है कि ज्ञान चाहे गृहीत हो या अगृहीत, यदि अपने विषय को निर्णयात्मक रूप से जानता है तो वह प्रमाण ही है, उसकी प्रमाणता कहीं भी वर्जित नहीं है— न लोक में न शास्त्र में। यथा—

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥
गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥

—(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/10/78-79)

अर्थ— स्व और अर्थ का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है —इतना ही लक्षण पर्याप्त है, इतने लक्षण से ही सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। अतः अन्य सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राहकपना, बाधविवर्जितपना, लोकसम्मतपना आदि विशेषण व्यर्थ हैं। यदि कोई ज्ञान, चाहे वह गृहीत हो या अगृहीत, स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला है तो वह लोक एवं शास्त्र —दोनों में ही प्रमाणपने को नहीं छोड़ता है।

किन्तु वर्तमान न्याय मुख्यरूप से अकलंक-वचन पर ही आधारित/प्रचलित है, अतः उसमें धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण माना जाता है। अथवा— धारावाहिक ज्ञान का अन्य मतों में, सौगत भाट्ट आदि में, जो स्वरूप कहकर उसे प्रमाण माना गया है, वह सत्य सिद्ध नहीं होता है, अतः उसे अप्रमाण कहा गया है।

तथा अकलंक आचार्य ने भी ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ (1/12) में एक स्थान पर प्रमाण के लक्षण में ‘अपूर्व’ विशेषण को अनुचित कहा है। यथा—

“अपूर्वाधिगमलक्षणानुपपत्तिश्च सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः। प्रदीपवत् ज्ञानमपि उत्पत्त्यनन्तरं घटादीनामवभासकं भूत्वा प्रमाणत्वमनुभूय न तं व्यपदेशं त्यजति तदर्थत्वात्।”

अर्थ— प्रमाण में अपूर्व अर्थ को जानने रूप लक्षण नहीं बन सकता, क्योंकि

सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति के बाद घटादि पदार्थों का अवभासक होकर अपने में प्रमाणत्व का अनुभव करता है, वह उत्तर काल में भी प्रमाण ही रहता है, प्रमाण के व्यपदेश/संज्ञा/नाम को छोड़ नहीं देता है। जिस प्रकार दीपक प्रथम क्षण में स्व-पर पदार्थों का प्रकाशक होता है तो द्वितीयादि क्षणों में भी उनका प्रकाशक बना रहता है, उसी प्रकार ज्ञान के विषय में भी समझना चाहिए।

इससे भी सिद्ध होता है कि धारावाहिक ज्ञान को मात्र धारावाहिक या गृहीतग्राही होने के कारण अप्रमाण मानना उचित नहीं है। ज्ञान कोई भी हो, यदि वह अविसंवादी है तो प्रमाण ही है।

शंका— यदि ऐसा है तो न्यायदीपिका आदि ग्रन्थों में धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण कैसे कहा गया है?

समाधान— ऊपर हमने सर्वप्रथम ही कहा है न कि धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानने न मानने के सम्बन्ध में जैनाचार्यों में मतभेद पाया जाता है। वैसे मेरी समझ से सही बात यह होगी कि न्यायदीपिका आदि ग्रन्थों में जिस धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण कहा गया है, वह अन्यमताभिमत/भाट्टाभिमत धारावाहिक ज्ञान है, जो प्रमिति का जनक नहीं है, अतः प्रमाण सिद्ध नहीं होता। जैन दर्शन में वैसा धारावाहिक ज्ञान नहीं कहा है, अतः उसे अप्रमाण नहीं माना जा सकता। ऐसा मुझे अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर हुआ लगता है। जैसे कि दर्शन को अप्रमाण मानने के सम्बन्ध में भी सिद्ध होता है। न्यायदीपिका, परीक्षामुख आदि में जिस दर्शन को अप्रमाण कहा गया है, वह अन्यमताभिमत/बौद्धाभिमत दर्शन है, जैनदर्शनाभिमत दर्शन नहीं है। इस सम्बन्ध में मेरा लेख ‘क्या दर्शनोपयोग अप्रमाण है’ पठनीय है।

पुनश्च, न्यायदीपिका में भी एक प्रकरण आता है कि स्मृति तो गृहीतग्राही होने से अप्रमाण माननी चाहिए, क्योंकि वह धारणा द्वारा गृहीत विषय को ही ग्रहण करती है। तब वहाँ ग्रन्थकार श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति ने एक तर्क यह भी दिया है कि यदि अनुभूत विषय में प्रवृत्त होने मात्र से स्मृति अप्रमाण हो तो अनुमान द्वारा ज्ञात अग्नि को ही पुनः जानने के कारण प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जाएगा, किन्तु ऐसा नहीं होता, स्मृति तो अविसंवादी होने के कारण प्रमाण है। यथा— “यदि चानुभूते प्रवृत्तमित्येतावता स्मरणमप्रमाणं स्यात् तर्हि अनुमितेऽनौ पश्चात्प्रवृत्तं प्रत्यक्षमप्यप्रमाणं स्यात्। अविसंवादित्वाच्च प्रमाणं स्मृतिः प्रत्यक्षादिवत्।” —(न्यायदीपिका 3/6) इससे भी मुझे ऐसा लगता है कि धारावाहिक/गृहीतग्राही होने मात्र से कोई ज्ञान अप्रमाण नहीं होता। समयसार कलश, 127 में भी धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता का संकेत मिलता है। तथापि विद्वज्जनों से निवेदन है कि वे स्पष्ट समाधान करने की कृपा करें। ❖❖

प्रमाण क्या है- ज्ञान या आत्मा ?

वर्तमान में हम सब न्यायशास्त्र को पढ़ते-पढ़ाते समय यह बात बहुत जोर देकर स्थापित करते हैं कि ज्ञान ही प्रमाण है, अन्य कुछ नहीं। यथा—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।¹ —(आचार्य माणिक्यनंदी, परीक्षामुख 1/1)

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि ज्ञानं ततो ज्ञानमेव तत् ।²

—(आचार्य माणिक्यनंदी, परीक्षामुख 1/1)

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।³

—(अभिनव धर्मभूषण यति, न्यायदीपिका 1/8)

इतना ही नहीं, उक्त सूत्रों की व्याख्या करते हुए हम यह भी भलीभांति समझते-समझाते हैं कि यहाँ ‘ज्ञान’ पद से अज्ञानरूप सन्निकर्षादि एवं प्रमाता-प्रमिति आदि की निवृत्ति समझनी चाहिए, क्योंकि वे सब भी प्रमा के करण नहीं हैं ।⁴

इस प्रसंग में पुनः युक्तिपुरस्सर यह बात स्थापित की जाती है कि ज्ञान ही प्रमाण है, अन्य कुछ नहीं, आत्मा भी नहीं। यथा—

“शंका— ‘ज्ञान’ पद से अन्य सबकी निवृत्ति तो ठीक, पर प्रमाता की निवृत्ति तो नहीं करनी चाहिए, वह तो प्रमाण/ज्ञान का आधार ही है, अधिकरण है।

समाधान— वह अधिकरण है, करण नहीं। प्रमाण तो वह होता है जो प्रमा का करण हो।”

इस प्रकार न्यायशास्त्र के हम सभी विद्यार्थी यही जानते-मानते हैं कि ज्ञान ही प्रमाण है, आत्मा नहीं।

किन्तु यदि हम प्राचीन जैनागम को ध्यान से देखते हैं अथवा उस परम्परा के अन्य ग्रन्थों को भी देखते हैं तो ज्ञात होता है कि वहाँ तो लगभग सर्वत्र ही आत्मा को ही प्रमाण कहा गया है, ज्ञान को नहीं। ज्ञान को प्रमाण मानने का तो बल्कि वहाँ निषेध किया गया है, वह भी युक्तिपुरस्सर। यथा—

“किं प्रमाणम्? निर्बाधबोधविशिष्टः आत्मा प्रमाणम् । ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं किमिति नेष्यते? न, जानाति परिच्छिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानात्मा, तस्यैव प्रामाण्याभ्युपगमात् । न ज्ञानपर्यायस्य स्थितिरहितस्य उत्पादविनाशलक्षणस्य प्रामाण्यं, तत्र त्रिलक्षणाभावतः अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थक्रियाभावात् स्मृति-प्रत्यभिज्ञानुसंधानप्रत्ययादीनामभावप्रसंगाच्च”॥⁵

अर्थ— शंका— प्रमाण क्या है? समाधान— निर्बाधबोधविशिष्ट आत्मा ही प्रमाण है। शंका— ज्ञान को ही प्रमाण क्यों नहीं स्वीकार करते हो? समाधान— नहीं, जो जीवादिक पदार्थों को भलीभांति जाने उस ज्ञानरूप आत्मा को ही प्रमाण माना गया है। ज्ञान तो स्थितिरहित उत्पादविनाशलक्षणवाली पर्याय है, उसके प्रमाणता नहीं बनती है, क्योंकि उसमें त्रिलक्षणाभाव से वस्तुत्व ही नहीं बनता, उसमें परिच्छित्तिरूप अर्थक्रिया ही नहीं बनती और उससे स्मृति-प्रत्यभिज्ञान-अनुसन्धानादि प्रत्ययों के अभाव का भी प्रसंग उपस्थित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रमाण के सम्बन्ध में जैनाचार्यों में भी मतभेद है। एक कहते हैं कि ज्ञान ही प्रमाण है, आत्मा नहीं और दूसरे कहते हैं कि आत्मा ही प्रमाण है, ज्ञान नहीं। जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सत्य क्या है?

समाधान— दरअसल, दोनों कथन विवक्षाभेद से सही हैं और दोनों की विवक्षा भी ऊपर ही आचार्यों ने स्पष्ट कर दी है, हमें उसी को ठीक से समझना है, उलझन में नहीं पड़ना है। जब यह कहा जाए कि ज्ञान ही प्रमाण है, ज्ञाता नहीं, तब हमें समझ लेना चाहिए कि प्रमिति के करण की विवक्षा मुख्य है, आधार की नहीं। तथा जब यह कहा जाए कि आत्मा ही प्रमाण है, ज्ञान नहीं, तब हमें समझ लेना चाहिए कि ज्ञान एवं ज्ञाता के अभेद सत् की विवक्षा मुख्य है, भेदरूप ज्ञान की नहीं। यही बात ब्रह्मदेवसूरि ने भी बृहद्द्रव्यसंग्रह की संस्कृत-टीका में कही है। यथा—

“संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम् । स च प्रदीपवत् स्वपरगतं सामान्यं विशेषं च जानाति। तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति ।”⁶

इस प्रकार यहाँ ब्रह्मदेवसूरि ने एक और भी विशेष बात जोड़ दी है कि आत्मा को प्रमाण मानना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि तभी प्रमाण स्वपरप्रकाशक एवं सामान्यविशेषप्रकाशक सिद्ध होगा, यदि हम मात्र ज्ञान को ही प्रमाण मानेंगे तो ज्ञान तो केवल परप्रकाशक एवं विशेषप्रकाशक ही है, यह दोष उत्पन्न होगा। यदि आत्मा को प्रमाण मानेंगे तो ज्ञान-दर्शन दोनों सम्मिलित हो जाएँगे और प्रमाण स्वपरप्रकाशक एवं सामान्य-विशेषप्रकाशक सिद्ध हो जाएगा।

सन्दर्भ-

1. आचार्य माणिक्यनंदी, परीक्षामुख 1/1
2. आचार्य माणिक्यनंदी, परीक्षामुख 1/1
3. अभिनव धर्मभूषण यति, न्यायदीपिका 1/8
4. “ज्ञानपदेन प्रमातुः प्रमितेश्च व्यावृत्तिः ।” —न्यायदीपिका 1/9
5. आचार्य वीरसेन, धवला 9/4, 1, 45
6. ब्रह्मदेवसूरि, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 44



सभी प्रमाणों से एक वस्तु का ज्ञान

जैन दर्शन में प्रमाण के अनेक भेद-प्रभेद बताये गये हैं। उन सबको सरलतापूर्वक समझने के लिए आज हम उन सबको एक ही वस्तु पर घटित करके देखते हैं। आशा है इससे कुछ विशेष लाभ होगा। उदाहरणार्थ समझ लीजिए कि हमें मिश्री का ज्ञान करना है। सभी प्रमाणों के द्वारा मिश्री का ज्ञान कुछ ऐसा होगा—

1. सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष से हम मिश्री को अपनी आँखों से देख सकते हैं, हाथों से छू सकते हैं, जीभ से चख सकते हैं, इत्यादि। अथवा मन से भी उसका चिन्तन-मनन कर सकते हैं।
2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष में, विकल प्रत्यक्ष में, अवधिज्ञान से हमें दूरस्थ मिश्री भी बिना किसी इन्द्रिय-मन की सहायता के ही साक्षात् के समान दिखाई देगी।
3. मनःपर्यय ज्ञान से हमें वह मिश्री किसी दूसरे के मन में स्थित होती हुई भी, बिना किसी इन्द्रिय-मन की सहायता के ही साक्षात् के समान दिखाई देगी।
4. केवलज्ञान से हमें वह मिश्री अपनी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्यायों के साथ, बिना किसी इन्द्रिय-मन की सहायता के ही प्रत्यक्ष दिखाई देगी, सहज ही हमारे ज्ञान में झलकेगी, हम उससे किंचित भी प्रभावित नहीं होंगे।
5. परोक्ष प्रमाण में, स्मृति प्रमाण से हमें पहले देखी/चखी हुई मिश्री याद आएगी।
6. प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से हम उस पूर्वज्ञात मिश्री की अभी वर्तमान में दिखाई दे रही किसी वस्तु से तुलना करेंगे।
7. तर्क प्रमाण से हमें ऐसा ज्ञान होगा कि जहाँ-जहाँ ऐसी मिठास होगी अथवा जिस-जिस वस्तु में ऐसी मिठास होगी वह निश्चित रूप से मिश्री ही होगी।
8. अनुमान प्रमाण से हम डिब्बे में बंद मिश्री को भी उसके किसी अविनाभावी हेतु से पहचान जाएँगे, यह निर्णय कर लेंगे कि यहाँ मिश्री है या नहीं।
9. आगम प्रमाण से हम यह जान सकेंगे कि मिश्री का उद्भव कब कैसे हुआ, उसमें क्या-क्या आयुर्वेदिक गुण-दोष अथवा रासायनिक तत्त्व पाये जाते हैं, इत्यादि।

शंका— क्या ऐसा ही आत्मा पर भी घटित करके बता सकते हैं?

समाधान— बहुत अच्छा प्रश्न पूछा, हमें हर बात आत्मा पर घटित करके देखने की कोशिश करनी चाहिए। किन्तु ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि आत्मा एक अरूपी पदार्थ है, अतः वह सभी प्रमाणों का विषय नहीं बनता। तथापि आइए, घटित करने का प्रयास करते हैं—

1. सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष से हम आत्मा को किसी भी इन्द्रिय से नहीं जान सकते हैं, किन्तु मन से उसका चिन्तन और अनुभव कर सकते हैं।
2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष में, विकल प्रत्यक्ष में, अवधिज्ञान से आत्मा को बिल्कुल नहीं जान सकते हैं, क्योंकि अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थ को ही जान सकता है।
3. मनःपर्यय ज्ञान से भी हम आत्मा को बिल्कुल नहीं जान सकते हैं, क्योंकि वह भी केवल रूपी पदार्थ को ही जान सकता है।
4. केवलज्ञान से हमें आत्मा अपनी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्यायों के साथ, बिना किसी इन्द्रिय-मन की सहायता के एकदम प्रत्यक्ष दिखाई देगा, सहज ही हमारे ज्ञान में झलकेगा।
5. परोक्ष प्रमाण में, स्मृति प्रमाण से हमें पूर्वानुभूत आत्मा की याद आएगी।
6. प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से हम उस पूर्वानुभूत आत्मा की वर्तमान में ज्ञात किसी वस्तु से तुलना करेंगे।
7. तर्क प्रमाण से हमें ऐसा ज्ञान होगा कि जहाँ-जहाँ ज्ञानचेतना होगी अथवा जिस-जिस वस्तु में ज्ञान/चेतना होगी वह निश्चित रूप से आत्मा ही होगी।
8. अनुमान प्रमाण से हम आत्मा को कहीं भी किसी भी पदार्थ में उसके अविनाभावी हेतु से पहचान जाएँगे कि उसमें आत्मा है या नहीं। अथवा— जगत के प्रत्येक ही पदार्थ को हम इतना तो निर्णयात्मक रूप से जान जाएँगे कि वह आत्मा है या अनात्मा।
9. आगम प्रमाण से हम यह जान सकेंगे कि आत्मा के सूक्ष्म गुण-पर्याय आदि क्या हैं, षट्गुणी हानि-वृद्धि क्या है, उसके प्रदेश आदि कैसे कितने हैं, इत्यादि।

इस प्रकार यहाँ हमने एक ही वस्तु पर सभी प्रमाणों को घटित करने का प्रयास किया। न्यायशास्त्र के विद्यार्थियों को इसी प्रकार पूरी प्रमाण-व्यवस्था एक ही वस्तु पर घटित करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिसमें प्रामाण्य की उत्पत्ति, ज्ञप्ति, प्रमाण का विषय, फल, प्रमाणाभास, नय, नयाभास, निक्षेप, निक्षेपाभास आदि अनेक बिन्दु हैं। ऐसे प्रयोग करने से ज्ञान में विशेष निर्मलता आती है।



असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्

श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति द्वारा रचित ‘न्यायदीपिका’ ग्रन्थ में लक्षण का लक्षण समझाते समय एक प्रकरण आया है कि ‘असाधारणधर्मवचनं लक्षणं’ —यह मान्यता समीचीन नहीं है। अधिकांश पाठकों को इसे समझने में बहुत कठिनाई होती है, अतः यहाँ इसी पर किंचित सरलता के साथ विचार करते हैं।

‘असाधारणधर्मवचनं लक्षणं’ —लक्षण का यह लक्षण मुख्यतः नैयायिकों द्वारा माना गया है, परन्तु इसे जैन ग्रन्थ ‘प्रमाणमीमांसा’ में भी हेमचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत किया है, अतः यहाँ उसी का निराकरण किया जा रहा है। न्यायदीपिकाकार धर्मभूषण यति के अनुसार लक्षण का यह लक्षण समीचीन नहीं है, क्योंकि इसमें गहराई से देखा जाए तो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव —ये तीनों दोष आते हैं। यथा—

1. **अव्याप्ति**— लक्षण दो प्रकार के होते हैं— आत्मभूत और अनात्मभूत, किन्तु ‘असाधारणधर्मवचनं लक्षणं’—यह लक्षण केवल आत्मभूत लक्षणों में ही घट सकता है, अनात्मभूत लक्षणों में नहीं घट सकता, क्योंकि अनात्मभूत लक्षण वस्तु का असाधारणधर्म नहीं होते। इस प्रकार यह लक्ष्य के एकदेश में ही पाए जाने के कारण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

2. **अतिव्याप्ति**— वस्तु के अनेक धर्म ऐसे होते हैं जो उसके असाधारणधर्म होते हैं, किन्तु फिर भी वे उसका लक्षण नहीं बन पाते हैं, क्योंकि वे अन्य वस्तुओं में भी पाए जाते हैं। जैसे कि क्रोध जीव का असाधारणधर्म है, फिर भी वह जीव का लक्षण नहीं बनता, शावलेयत्व गाय का असाधारणधर्म है, फिर भी वह गाय का लक्षण नहीं बनता, इत्यादि। इनमें तो बल्कि अव्याप्त नाम का दोष आता है। इसप्रकार यह लक्षण अपने लक्ष्य के बाहर लक्षणाभास में भी चला जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोष से दूषित है।

3. **असम्भव**— असाधारणधर्मवचन को लक्षण मानने पर लक्ष्य और लक्षण में सामानाधिकरण्य के अभाव का भी प्रसंग उपस्थित होता है, इसलिए यह लक्षण असम्भव दोष से भी दूषित है।

शंका— सामानाधिकरण्य क्या होता है और यहाँ उसके अभाव का प्रसंग कैसे उपस्थित होता है, कुछ समझ में नहीं आया। कृपया स्पष्ट करें।

समाधान— सामानाधिकरण्य मुख्यतः व्याकरण का विषय है। सामानाधिकरण्य शब्द का अर्थ है— सामानाधिकरण का भाव अर्थात् सामानाधिकरणपना। यह सामानाधिकरणपना या सामानाधिकरण्य दो प्रकार का होता है— शाब्द सामानाधिकरण्य और आर्थ सामानाधिकरण्य। दो वस्तुओं का एक ही आधार पर रहना आर्थ सामानाधिकरण्य है। जैसे कि रूप और रस। रूप और रस एक ही अर्थ (पदार्थ/वस्तु) के आधार पर रहते हैं, अतः इसे आर्थ सामानाधिकरण्य कहते हैं। तथा जब दो शब्दों का अर्थ/वाच्य एक ही हो तो उसे शाब्द सामानाधिकरण्य कहते हैं। जैसे कि घट और कलश। घट और कलश —इन दोनों शब्दों का अर्थ/वाच्य एक ही है, अतः इसे शाब्द सामानाधिकरण्य कहते हैं। यहाँ ऐसे और भी अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं, परन्तु अभी इतना ही पर्याप्त है।

यहाँ शाब्द सामानाधिकरण्य का ही प्रसंग है, आर्थ सामानाधिकरण्य का नहीं। जब भी किसी वस्तु का लक्षण बनाया जाता है तो उसमें शाब्द सामानाधिकरण्य अवश्य होता है, अन्यथा वह लक्षण पूरे लक्ष्य में घटित नहीं होगा, उसकी व्याप्ति मर्यादित हो जाएगी, उसमें अव्याप्ति दोष आ जाएगा। जैसे कि ‘नीलं कमलं’ में सामानाधिकरण्य नहीं है, अतः नीलत्व सभी कमलों में नहीं पाया जाता, उसकी व्याप्ति मर्यादित (सीमित) हो गई। प्रायः विशेषण विशेष्य की व्याप्ति को मर्यादित कर देते हैं। जैसे कि काला घोड़ा। यहाँ घोड़ा व्यापक था किन्तु उसमें काला विशेषण लगने से उसकी व्याप्ति सीमित हो गई, वह सभी घोड़ों पर घटित नहीं हुई। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि असाधारणधर्मवचन का अपने लक्ष्यरूप लक्षण के साथ सामानाधिकरण्य नहीं बैठता है, क्योंकि दोनों का अर्थ/वाच्य एक ही नहीं है, एक तो धर्म ही है, जबकि दूसरा (लक्षण) धर्मी है। धर्म का वचन करने से धर्म ही पकड़ में आएगा, धर्मी नहीं पकड़ में आ सकता। धर्मी पकड़ने के लिए धर्मवान् बोलना आवश्यक है।

इस प्रकार यहाँ इस लक्षण को असम्भव दोष से दूषित भी सिद्ध किया गया।

शंका— क्या लक्ष्य-लक्षण में सर्वत्र ही ऐसा सामानाधिकरण्य होना अनिवार्य है?

समाधान— हाँ, अनिवार्य है।

शंका— पुरुष का लक्षण दंड है —इसमें कैसे घटित होगा?

समाधान— दण्ड नहीं, दण्डी है। दण्डी और पुरुष का बनाना है। जैसे कि ज्ञान आत्मा का लक्षण है, वहाँ वास्तव में ज्ञान नहीं, ज्ञानी है और हमें ज्ञानी और

आत्मा का सामानाधिकरण्य बनाकर देखना है, जो कि एकदम सही बैठ रहा है। ज्ञानी और आत्मा— इन दोनों शब्दों का वाच्य एक ही है। इस प्रकार असाधारणधर्मवचन और लक्षण इन दोनों का सामानाधिकरण्य नहीं बैठ रहा है।

शंका— क्या किसी लक्षण में एक साथ तीनों दोष घटित हो सकते हैं? क्योंकि जब हमने अव्याप्ति मान लिया तो उसकी एकदेश में व्याप्ति तो हमने स्वीकार कर ही ली, अब उसे असम्भव कैसे कह सकते हैं और यदि असम्भव कहते हैं तो अव्याप्ति कैसे कह सकते हैं?

समाधान— यह प्रश्न उचित है, परन्तु विविध अपेक्षाओं से ऐसा घटित करने का प्रयास किया गया है, ताकि विपरीतता की कोई सम्भावना न रहे।

शंका— क्या किसी भी अपेक्षा से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि असाधारणधर्म का वचन ही लक्षण का लक्षण है?

समाधान— मुझे लगता है कि स्थूल अपेक्षा से यदि कोई विद्वान् ऐसा कहे कि असाधारणधर्म का वचन लक्षण का लक्षण है तो विशेष दोष नहीं है, तथापि विद्वज्जन ही इसका स्पष्ट समाधान कर सकते हैं, मैंने तो जैसा मुझे अभी समझ में आ रहा है, वैसा कहा है। ❖❖

समीक्षात्मक दृष्टिकोण

एक बार की बात है, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने विभाग में एक संगोष्ठी आयोजित की। विषय था— बाणभट्ट की आत्मकथा, जो उनकी स्वयं की ही नई कृति आई थी। संगोष्ठी के अध्यक्ष द्विवेदीजी स्वयं ही थे और वक्ता भी उनके पी-एच.डी. के शोधछात्र ही थे। संगोष्ठी में सभी वक्ताओं ने अपने-अपने शोधपत्र प्रस्तुत करते हुए कृति की नाना प्रकार से बहुत प्रशंसा की। जैसे कि इस कृति की विषयवस्तु बहुत अच्छी है, भाषा-शैली भी बहुत अच्छी है, पात्रयोजना भी बहुत श्रेष्ठ है, अलंकारों का प्रयोग भी बहुत अच्छा हुआ है, बिम्बविधान भी बहुत उत्कृष्ट है, इत्यादि। गोष्ठी के अंत में जब अध्यक्ष के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी बोले तो उन्होंने जो कुछ कहा, वह गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है—

“आज तो आप सबके वक्तव्य सुनकर मुझे ऐसा लग रहा है कि यहाँ एक भी शोधछात्र नहीं है और मैं सिर्फ चारण-भाटों से घिरा हुआ हूँ। अरे अज्ञानियो! मैं कोई भगवान नहीं हूँ और मेरी यह कृति कोई सर्वश्रेष्ठ नहीं है कि जिसमें कोई परिष्कार हो ही नहीं सकता, तुम्हें इसकी उन न्यूनताओं की ओर भी तो कुछ ध्यान आकर्षित करना चाहिए था, अन्यथा विकास कैसे होगा? तुम स्वयं भी कुछ सीखोगे कैसे? जीवन में समीक्षात्मक दृष्टिकोण का होना अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना विद्वान बनना असम्भव है।”

अन्य दर्शनों के ज्ञान की आवश्यकता

दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों को तत्त्वज्ञान की निर्मलता या स्पष्टता के लिए सभी दर्शनों का थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य करना चाहिए, किन्तु आजकल अधिकांश छात्र इस ओर ध्यान नहीं देते, वे मात्र ‘अपना’ ही एक दर्शन पढ़ते हैं और अन्य दर्शनों के ज्ञान का प्रयास नहीं करते। यहाँ तक कि कुछ छात्र तो अन्य दर्शनों के ज्ञान को अनावश्यक, अनुपयोगी या समय की बर्बादी भी बताते हैं, जो एक बड़ी भयावह स्थिति है। प्राचीन काल में ऐसा नहीं होता था, सभी छात्र सभी दर्शनों का ज्ञान करते थे। वे जानते थे कि सभी दर्शन एक-दूसरे के ज्ञान में सहायक हैं, अन्य दर्शनों को समझे बिना किसी एक दर्शन का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

दरअसल, प्रत्येक शास्त्र में पूर्व पक्ष के साथ ही उत्तर पक्ष को समझाया जाता है, पूर्व पक्ष में अन्य दर्शनों की मान्यताएँ रखी जाती हैं और फिर उत्तर पक्ष में उनका निराकरण करके अपना दर्शन स्थापित किया जाता है, किन्तु यदि हम पूर्व पक्ष को ही ठीक से नहीं समझे होंगे तो उत्तर पक्ष को कैसे समझेंगे? पूर्व पक्ष के बिना उत्तर पक्ष समझ में नहीं आ सकता। जिसे पूर्व पक्ष जितना अच्छा समझ में आएगा, उसे उत्तर पक्ष भी उतना ही अच्छा समझ में आएगा। अतः हमें मात्र एक ‘अपने’ दर्शन के ही ज्ञान का आग्रह नहीं रखना चाहिए, अपितु सभी दर्शनों के ज्ञान का उद्यम करना चाहिए। दर्शनशास्त्र के सच्चे विद्यार्थी के लिए वस्तुतः कोई दर्शन ‘अपना’ और कोई दर्शन ‘पराया’ नहीं होता।

दर्शनशास्त्र के एकांगी ज्ञान की यह स्थिति आज जैन दर्शन के विद्यार्थियों में भी देखी जा रही है, जबकि जैन परम्परा में तो सदा ही सभी दर्शनों के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। जैन पुस्तकालयों में भी सर्व दर्शनों के ग्रन्थों का संग्रहण-संरक्षण होता रहा है। हरिभद्रसूरि आदि कुछ जैनाचार्यों ने तो स्वतंत्र रूप से ही ‘षड्दर्शनसमुच्चय’ आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया है, अतः जैन दर्शन के विद्यार्थियों को तो संकीर्णता छोड़ ही देनी चाहिए और जैनेतर दर्शनों के ज्ञान का भी यथासम्भव उद्यम करना चाहिए। उसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यदि वह जैनेतर दर्शनों का ज्ञान नहीं करेगा तो उसे जैन ग्रन्थ भी ठीक से समझ में नहीं आ सकेंगे। यथा— कतिपय प्रसंग गंभीरतापूर्वक विचारणीय हैं—

जैन-ग्रन्थों में लक्षण-निर्माण के समय आचार्यगण अन्यमत-निराकरण की

दृष्टि से संक्षेप में सूत्ररचना करते हैं, जिसे जैनतर दर्शनों का ज्ञाता व्यक्ति ही ठीक से समझ-समझा सकता है। जैसे—

‘स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।’ —(परीक्षामुखसूत्र 1/1)

प्रमाण के इस लक्षण में एक-एक पद के द्वारा एक-एक दर्शन की मान्यता का निराकरण किया गया है। यथा— ‘स्व’ पद अस्वसंवेदनवादी सांख्य, परोक्षज्ञानवादी मीमांसक और ज्ञानान्तरप्रत्यक्षवादी योग के निराकरण हेतु है। ‘अपूर्व’ पद धारावाहिकज्ञानवादियों के निराकरण हेतु है। ‘अर्थ’ पद बाह्य अर्थ को न मानने वाले विज्ञानाद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी, शून्याद्वैतवादी के निराकरण हेतु है। ‘व्यवसायात्मक’ पद निर्विकल्पज्ञानवादी बौद्धों के निराकरण हेतु है। ‘ज्ञान’ पद अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माननेवाले नैयायिकों के निराकरण हेतु है।

—(प्रमेयरत्नमाला, पृष्ठ 14)

इसी प्रकार सिद्ध जीवों का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए आचार्य नेमिचंद्र गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में लिखते हैं कि—

‘अद्विविह कम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।

अट्टगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥’ —(गाथा 68)

अर्थ— सिद्ध अष्टविध कर्मों से रहित, शान्त, निरंजन, नित्य, अष्टगुण सहित, कृतकृत्य और लोकाग्रनिवासी होते हैं।

इसमें भी एक-एक पद के द्वारा एक-एक दर्शन की मान्यता का निराकरण किया गया है, जैसा कि आचार्य नेमिचंद्र ने स्वयं ही अगली गाथा में लिखा है—

‘सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णइयाइयो य वैसेसी ।

ईसरमंडलिदंसण-विदूसणद्वं कदं एदे ॥’ —(गाथा 69)

अर्थ— उक्त सभी विशेषण क्रमशः सदाशिव, सांख्य, मक्कड़ी, बुद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, ईश्वरवादी और मांडलिक दर्शन के निराकरणार्थ किये गये हैं।

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए टीकाकारों ने जो कुछ लिखा है उसे अन्य दर्शनों के ज्ञान बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता। यथा— ‘अद्विविहकम्मवियला’ पद से याज्ञिक और सदाशिव मत का निराकरण किया गया है। ‘सीदीभूदा’ पद से सांख्य मत का निराकरण किया गया है। ‘णिरंजणा’ पद से मस्करी मत का निराकरण किया गया है। ‘णिच्चा’ पद से बौद्ध मत का निराकरण किया गया है। ‘अट्टगुणा’ पद से नैयायिक-वैशेषिक मत का निराकरण किया गया है। ‘किदकिच्चा’ पद से ईश्वरसृष्टिकर्तृत्ववादी मत का निराकरण किया गया है। ‘लोयग्गणिवासिणो’ पद से मांडलिक मत का निराकरण किया गया है।

—(संस्कृत टीका का सार)

इसी प्रकार अन्य भी सब समझना चाहिए।

वास्तव में, शास्त्रों के प्रत्येक कथन में कथ्य से अधिक निराकृत्य समाया होता है और उस निराकृत्य को समझे बिना कथ्य का पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्राप्त नहीं होता। जैसे कि जीव का स्वरूप समझाते हुए द्रव्यसंग्रह आदि शास्त्रों में जीव के नौ अधिकारों का उल्लेख किया गया है—

**‘जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोडुगदी॥’**

—(आचार्य नेमिचंद्र, द्रव्यसंग्रह, गाथा 2)

अर्थ— जीव के नौ अधिकार हैं— जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तिकत्व, कर्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, ऊर्ध्वगमनत्व।

यहाँ भी एक-एक विशेषण के द्वारा एक-एक दर्शन का निराकरण किया गया है। यथा— ‘जीवो’ पद से चार्वाक मत का निराकरण किया गया है। ‘उवओगमओ’ पद से नैयायिक मत का निराकरण किया गया है। ‘अमुत्ति’ पद से भट्ट चार्वाक मत का निराकरण किया गया है। ‘कत्ता’ पद से सांख्य मत का निराकरण किया गया है। ‘सदेहपरिमाण’ पद से नैयायिक, मीमांसक एवं सांख्य मत का निराकरण किया गया है। ‘भोत्ता’ पद से बौद्ध मत का निराकरण किया गया है। ‘संसारित्व’ पद से सदाशिव मत का निराकरण किया गया है। ‘सिद्धत्व’ पद से भट्ट एवं चार्वाक मत का निराकरण किया गया है। ‘ऊर्ध्वगमनत्व’ पद से मांडलिक मत का निराकरण किया गया है।

—(बृहद्रव्यसंग्रह, गाथा 2 की टीका)

कहने की आवश्यकता नहीं है कि जो व्यक्ति जैनेतर दर्शनों से परिचित नहीं होगा, वह इन्हें कथमपि नहीं समझ सकता। इसी प्रकार के और भी असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर सबका अभिप्राय यही है कि जैनेतर दर्शनों के ज्ञान बिना जैन शास्त्रों के कथनों को ठीक से नहीं समझा जा सकता। मेरा स्वयं का भी अनुभव है कि मैंने जब से अन्य दर्शनों का कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, तब से मुझे जैन दर्शन के कथनों का ज्ञान अधिक स्पष्ट होने लगा है, अतः आप भी अन्य दर्शनों का थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य प्राप्त करें यही मैं यहाँ कहना चाहता हूँ।

कुछ लोग कहते हैं कि हमें तो मात्र अध्यात्म का ज्ञान करना है, अतः हमें अन्य दर्शनों के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु ऐसी बात भी बिल्कुल उचित नहीं है। आध्यात्मिक ग्रंथों को समझने के लिए भी अन्य दर्शनों का ज्ञान बहुत आवश्यक है। ‘समयसार’ जैसे परम आध्यात्मिक ग्रन्थ में भी स्थान-स्थान पर अन्य दर्शनों का बहुत उल्लेख हुआ है, जिसे अन्य दर्शनों के ज्ञान बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता है। यथा—

(क) समयसार गाथा 117, 122, 340 में स्पष्टतया नाम लेकर सांख्यदर्शन का उल्लेख आया है— ‘पसज्जदे संखसमओ वा’ इत्यादि।

(ख) समयसार गाथा 321, 322 में ईश्वरसृष्टिकर्तृत्ववादी दर्शन का निराकरण आया है।

(ग) समयसार गाथा 347 में बौद्ध दर्शन का निराकरण आया है।

(घ) समयसार गाथा 86 में द्विक्रियावादी दर्शन का निराकरण आया है।

समयसार के हिंदी-वचनिकाकार पं. जयचंदजी छाबड़ा ने ऐसे स्थलों को अपने भावार्थों में अन्य दर्शनों की अपेक्षाएं स्पष्ट करके विस्तार से लिखा है —(देखिए समयसारकलश 131, 183 का भावार्थ)। जरा सोचिए, यदि पं. जयचंदजी छाबड़ा अन्य दर्शनों के ज्ञाता न होते तो बात को कैसे स्पष्ट करते ?

पं. जयचंदजी छाबड़ा ही नहीं, पं. टोडरमलजी, पं. भागचन्द्रजी, पं. टेकचंदजी आदि लगभग सभी आध्यात्मिक विद्वान् भी विविध दर्शनों का उचित ज्ञान रखते थे और इसीलिए वे जैन तत्त्वज्ञान को ठीक से समझने-समझाने में सफल हुए थे, अतः हम सबको भी यथाशक्ति अन्य दर्शनों के ज्ञान का प्रयास करना चाहिए।

अन्य दर्शनों के ज्ञान बिना तो हम समयसार के ‘**नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते । चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥**’ जैसे आध्यात्मिक श्लोक को भी ठीक से नहीं समझ सकते, क्योंकि इसमें भी अन्य मतों की विवक्षा से ही सारे कथन किये गये हैं। —(देखिए समयसारकलश 1 का भावार्थ)। बहुत क्या कहें, एक णमोकार मन्त्र को भी अन्य दर्शनों के ज्ञान बिना ठीक से नहीं समझा जा सकता।

द्रव्यसंग्रह के आध्यात्मिक टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि ने तो प्रत्येक गाथा का शब्दार्थ, नयार्थ, आगमार्थ और भावार्थ के साथ मतार्थ भी समझना आवश्यक/अनिवार्य बताया है। यथा—

‘**एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः।**’ —(गाथा 2)

इससे अन्य दर्शनों के ज्ञान की महती आवश्यकता सिद्ध होती है। ब्रह्मदेवसूरि ने अपने परमात्मप्रकाश आदि सभी टीका-ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर अन्यमत-विवक्षा को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय, दर्शन, सिद्धांत विषयक ग्रन्थों के लिए ही नहीं, अध्यात्मविषयक ग्रन्थों के परिज्ञान हेतु भी अन्य दर्शनों का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है।

जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए कि यदि अन्य दर्शनों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक नहीं होता तो जैन आचार्यों ने प्रथमानुयोग के कथा-ग्रन्थों, पुराणों, श्रावकाचारों और पूजापाठ तक के प्राथमिक ग्रन्थों में भी षड्दर्शनों का परिचय क्यों लिखा है। यथा—

- महापुराण, सर्ग 3 से 5 में विस्तार से षड्दर्शनों का परिचय दिया गया है।

- यशस्तिलकचम्पू षष्ठ आश्वास में भी विस्तार से षड्दर्शनों का परिचय दिया गया है।
- भद्रबाहुकथा में रङ्गू कवि लिखते हैं कि गोवर्धनाचार्य ने भद्रबाहु को सर्वप्रथम षड्दर्शनों का ज्ञान कराया। (पृष्ठ 7)
- मोक्षमार्गप्रकाशक में पं. टोडरमलजी ने एक पूरा पाँचवाँ अधिकार अन्यमत-समीक्षा का लिखा।
- हरिभद्रसूरि ने तो स्वतंत्र रूप से ही एक ‘षड्दर्शनसमुच्चय’ नामक विशाल ग्रन्थ लिखा है।
- सिद्धचक्र-विधान जैसी पूजा-पाठ की कृति में भी कविवर पं. सन्तलाल जी ने अनेक स्थानों पर विविध दर्शनों का उल्लेख किया है। देखें पृष्ठ 144, 248, 251।

इन सबसे भी यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि समीचीन शास्त्रज्ञान के लिए अन्य दर्शनों का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। दरअसल, दर्शनशास्त्र एक है, सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि तो उसकी शाखाएँ हैं। शाखाओं के ज्ञान बिना वृक्ष का पूर्ण ज्ञान सम्भव ही नहीं है। अतः दर्शनशास्त्र के सभी विद्यार्थियों को सभी विविध दर्शनों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

पुनश्च, यदि आप शास्त्रों के वक्ता, व्याख्याता या अध्यापक हैं, तब तो आपके लिए अन्य दर्शनों का ज्ञान होना बहुत ही आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणों से स्पष्ट होता है—

(क) ‘सगसमयपरसमयविदण्हू’ —(आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्यभक्ति, 2)

अर्थ— आचार्य स्वसमय और परसमय के ज्ञाता होते हैं।

(ख) ‘तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो’ —(धवला 1/1/48)

अर्थ— वक्ता/लेखक को तात्कालिक (अपने समय के) सभी स्वसमय और परसमयों का पारगामी होना चाहिए।

(ग) ‘सर्वेषां दर्शनानां मनसि परिगतज्ञानवेत्ता भवेद्धि।

वक्ता शास्त्रस्य धीमान्॥’ —(आचार्य सोमसेन, 1/20)

अर्थ— शास्त्रों के धीमान् वक्ता को सर्व दर्शनों का विशेष ज्ञाता होना चाहिए।

अन्त में, जिसप्रकार यहाँ अन्य दर्शनों के ज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित की, उसीप्रकार व्याकरण, भाषा, साहित्य, इतिहास, न्याय आदि अन्य शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता/उपयोगिता भी समझ लेनी चाहिए। विशेष रूप से वक्ता/लेखक को तो सर्व शास्त्रों का ज्ञान होना ही चाहिए, जैसा कि ‘प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः’ (आत्मानुशासन, 5), ‘सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो’ (इन्द्रनदी, नीतिसार, 18) आदि वाक्यों द्वारा पूर्वचार्यों ने भी स्पष्ट कहा है। ❖❖

वैशेषिक दर्शन की पदार्थ-व्यवस्था

प्रस्तावना

प्रायः सभी वैदिक और अवैदिक भारतीय दर्शनों में ‘पदार्थ’ का निरूपण उपलब्ध होता है। वहाँ पदार्थों की संख्या एवं स्वरूप दोनों के विषय में पर्याप्त मतभेद भी पाया जाता है। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को उन सभी का तुलनात्मक अध्ययन करके निष्पक्ष रीति से ‘पदार्थ’ का सम्यक् ज्ञान करना चाहिए। यहाँ हम वैशेषिक दर्शन के अनुसार ‘पदार्थ’ का स्वरूप लिख रहे हैं। वैशेषिक दर्शन में भी इस विषय का प्रमुख ग्रंथ अन्नम्भट्ट द्वारा रचित ‘तर्कसंग्रह’ माना जाता है, अतः यहाँ उसी ‘तर्कसंग्रह’ को मुख्य आधार बनाकर ‘पदार्थ’ का स्वरूप लिखा जा रहा है। अतिरिक्त आधार के लिए ‘वैशेषिकसूत्र’ आदि ग्रन्थों की भी किंचित् सहायता ली गई है।

‘पदार्थ’ से अभिप्राय

सर्वप्रथम विचारणीय है कि ‘पदार्थ’ किसे कहते हैं? ‘पदार्थ’ का लक्षण क्या है?

उत्तर— ‘पदार्थ’ का लक्षण है— “पदजन्यप्रतीतिविषयत्वं पदार्थत्वम्।” अर्थात् पद से उत्पन्न प्रतीति (ज्ञान) के विषय को ‘पदार्थ’ कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो कुछ भी ‘पद’ से ज्ञेय या अभिधेय है, वह सब ‘पदार्थ’ है। ‘पद’ का ‘अर्थ’ ही ‘पदार्थ’ है— ‘पदस्य अर्थः पदार्थः’। ‘पद’ का लक्षण है— ‘सुबिडन्तं पदम्’ (अष्टाध्यायी 1-4-14) अर्थात् जो सुबन्त या तिडन्त हो उसे पद कहते हैं। शब्द के मुख्य भेद दो होते हैं— सुबन्त और तिडन्त। संज्ञा पदों को सुबन्त कहते हैं और क्रिया पदों को तिडन्त कहते हैं। संज्ञा पदों को सुबन्त इसलिए कहते हैं, क्योंकि व्याकरणशास्त्र के अनुसार वे सु आदि प्रत्यय जुड़कर बनते हैं और क्रियापदों को तिडन्त इसलिए कहते हैं, क्योंकि वे तिप् आदि प्रत्यय जुड़कर बनते हैं। जैसे कि रम् धातु में सु प्रत्यय जुड़ेगा तो वह ‘रामः’ ऐसा संज्ञा पद बनेगा और यदि तिप् प्रत्यय जुड़ेगा तो ‘रमते’ ऐसा क्रिया पद बनेगा। संज्ञाओं और क्रियाओं के इन सभी पदों को यहाँ ‘पद’ कहा गया है और जो इन पदों का वाच्यभूत अर्थ है वही पदार्थ है। इसी प्रकार अन्य सब समझ लेना चाहिए। पद और अर्थ में

अंतर यह है कि पद शब्दात्मक है, किन्तु अर्थ वास्तविक सत्ता स्वरूप हैं। जैसे कि— ‘जलम्’ एक पद है, किन्तु जो घट आदि पात्रों में स्थित जल नामक वस्तु है वह अर्थ है, पदार्थ है, पद का अर्थ है। निष्कर्ष यही हुआ कि जो सुबन्त और तिङन्त पदों का अभिधेय या वाच्यभूत अर्थ है वही पदार्थ है।

किन्तु यहाँ एक विशेष ज्ञातव्य विषय यह है कि पद का उक्त अर्थ व्याकरणशास्त्र के अनुसार तो सर्वथा उचित है, किन्तु वैशेषिक शास्त्र के अनुसार इसमें कुछ और भी विशेष है, क्योंकि वहाँ ‘पद’ का लक्षण बताया है— ‘शक्तं पदं’ अर्थात् जो भी अर्थकथन में समर्थ है वह सब पद है, अतः इसके अनुसार ‘राम’ और ‘रमते’ तो पद हैं ही, किन्तु ‘सु’ और ‘तिप्’ भी पद हैं, क्योंकि वे भी अर्थकथन में समर्थ हैं, उनका भी कुछ अर्थ है। जैसे कि ‘सु’ का अर्थ है— एकत्व। वैशेषिक शास्त्र में ‘शक्तं पदम्’ पर और भी गहन विमर्श किया गया है, परन्तु उसकी चर्चा का यहाँ अवकाश नहीं है।

पदार्थों की संख्या एवं उनका संक्षिप्त परिचय

वैशेषिक दर्शन में पदार्थों की कुल संख्या सात मानी गई है, जैसा कि ‘तर्कसंग्रह’ में कहा है—

‘द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः।’

अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव —ये सप्त पदार्थ हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. **द्रव्य**— जिसमें द्रव्यत्व जाति रहती है अथवा जो कार्य मात्र का समवायी कारण है उसे द्रव्य कहते हैं।
2. **गुण**— जो द्रव्य और कर्म से भिन्न होकर सामान्य रहता है उसे गुण कहते हैं।
3. **कर्म**— जो संयोग से भिन्न होकर संयोग का असमवायी है उसे कर्म कहते हैं।
4. **सामान्य**— सामान्य को जाति भी कहते हैं। यह दो प्रकार का है— पर सामान्य और अपर सामान्य।
5. **विशेष**— जो अन्त्य होकर नित्य द्रव्य में रहता है उसे विशेष कहते हैं।
6. **समवाय**— नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।
7. **अभाव**— भाव से भिन्न को अभाव कहते हैं। अथवा प्रतियोगी के ज्ञान के अधीन ज्ञान विषय को अभाव कहते हैं।

अब इन सप्त पदार्थों का पृथक्-पृथक् परिचय किंचित् विस्तार के साथ लिखते हैं।

द्रव्य पदार्थ का परिचय

जिसमें द्रव्यत्व जाति रहती है अथवा जो कार्य मात्र का समवायी कारण है उसे द्रव्य कहते हैं। यथा—

‘द्रव्यत्वजातिमत्त्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम् ।’

—तर्कसंग्रह टीका

यहाँ समवायी कारण विशेष ध्यान देने योग्य है। कारण तीन प्रकार के होते हैं— समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति हो उसे समवायी कारण कहते हैं, कार्य अथवा कारण के साथ एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होता हुआ जो कारण है उसे असमवायी कारण कहते हैं और जो समवायी कारण एवं असमवायी कारण से भिन्न कारण हो उसे निमित्त कारण कहते हैं। यहाँ द्रव्य उसे ही कहा गया है जो कार्य का समवायी कारण हो।

द्रव्यों की संख्या नौ ही होती है, उससे कम या अधिक नहीं। यद्यपि मीमांसक अंधकार को जोड़कर दस द्रव्य मानते हैं, किन्तु वैशेषिकों के अनुसार अंधकार तो तेज के अभाव का ही नाम है, पृथक् से कोई अन्य द्रव्य नहीं है। इन नौ द्रव्यों के नाम इस प्रकार हैं— 1. पृथिवी, 2. अप, 3. तेज, 4. वायु, 5. आकाश, 6. काल, 7. दिक्, 8. आत्मा 9. मन।

वही वैशेषिकसूत्र, 1/1/5 में कहा गया है। यथा—

‘पृथिव्यपतेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।’

इन सभी नव द्रव्यों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है—

1. पृथिवी— पृथिवी का लक्षण है— ‘गंधवती पृथिवी’ अथवा ‘गन्धसमवायिकारणत्वं पृथिवीत्वम्’ अर्थात् जिसमें गन्ध रहता है उसे पृथिवी कहते हैं। पृथिवी दो प्रकार होती है— नित्या पृथिवी और अनित्या पृथिवी। परमाणु रूप पृथिवी को नित्या पृथिवी कहते हैं और कार्यरूप पृथिवी को अनित्या पृथिवी कहते हैं। अनित्या पृथिवी के पुनः तीन प्रकार होते हैं— शरीर, इन्द्रिय और विषय। हमारा आपका शरीर पृथिवी का शरीर है। पृथिवी का इन्द्रिय घ्राण है, क्योंकि वह गन्ध को ग्रहण करता है। पृथिवी का विषय मृत्तिका और पाषाण आदि है। पृथिवी के चौदह गुण माने गये हैं— रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग।

2. अप (जल)— जल का लक्षण है— ‘शीतस्पर्शवत्यापः’ अथवा ‘शीतस्पर्शसमवायिकारणत्वं जलत्वम्’ अर्थात् जिसमें शीत स्पर्श रहता है उसे जल कहते हैं। जल दो प्रकार का होता है— नित्य जल और अनित्य जल। परमाणु रूप

जल को नित्य जल कहते हैं और कार्यरूप जल को अनित्य जल कहते हैं। अनित्य जल के पुनः तीन प्रकार होते हैं— शरीर, इन्द्रिय और विषय। जल का शरीर वरुण है। जल का इन्द्रिय रसन है, जो जिह्वा के अग्र भाग में रहता है। जल का विषय नदी और समुद्र आदि है। जल के भी चौदह गुण माने गये हैं— रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग।

3. तेज (अग्नि)— अग्नि का लक्षण है— ‘उष्णस्पर्शवत्तेजः’ अथवा ‘उष्णस्पर्शसमवायिकारणत्वं तेजत्वम्’ अर्थात् जिसमें उष्ण स्पर्श रहता है उसे तेज कहते हैं। यह तेज भी दो प्रकार का होता है— नित्य तेज और अनित्य तेज। परमाणु रूप तेज को नित्य तेज कहते हैं और कार्यरूप तेज को अनित्य तेज कहते हैं। अनित्य तेज के पुनः तीन प्रकार होते हैं— शरीर, इन्द्रिय और विषय। तेज का शरीर सूर्य है। तेज का इन्द्रिय नेत्र है, जो पुतली के अग्र भाग में रहता है। तेज का विषय भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज के भेद से चार प्रकार का है। तेज के ग्यारह गुण माने गये हैं— रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और वेग।

4. वायु— वायु का लक्षण है— ‘रूपरहितस्पर्शवान् वायुः’ अर्थात् जिसमें रूप नहीं है और स्पर्श है उसे वायु नामक द्रव्य कहते हैं। वायु भी दो प्रकार का होता है— नित्य वायु और अनित्य वायु। परमाणुरूप वायु को नित्य वायु कहते हैं और कार्यरूप वायु को अनित्य वायु कहते हैं। अनित्य वायु के पुनः तीन प्रकार होते हैं— शरीर, इन्द्रिय और विषय। वायु का शरीर वायु लोक में है। वायु का इन्द्रिय त्वक् है, जो समस्त शरीर में रहता है। वायु का विषय वृक्ष आदि के कम्पन का हेतु है। वह वास्तव में एक ही है, परन्तु उपधि-भेद से प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान नामों से जाना जाता है। वायु के नौ गुण माने गये हैं— स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग।

5. आकाश— आकाश का लक्षण है— ‘शब्दगुणकमाकाशम्’ अथवा ‘शब्दसमवायिकारणत्वं आकाशत्वम्’ अर्थात् जिसमें शब्द गुण रहता है उसे आकाश नामक द्रव्य कहते हैं। यह आकाश एक, विभु और नित्य है। विभु का अर्थ है कि जो सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों का संयोगी है, उसे विभु कहते हैं। विभु चार द्रव्य माने गये हैं— आकाश, काल, दिक् और आत्मा। आकाश के छह गुण माने गये हैं— संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग और शब्द।

6. काल— काल का लक्षण है— ‘अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः’ अथवा ‘विभुत्वे सति अतीतादिव्यवहारस्य निमित्तकारणत्वं कालत्वम्’ अर्थात् जो अतीतादि (अतीत, वर्तमान, भविष्य) व्यवहार का निमित्त कारण है उसे काल द्रव्य कहते हैं। यह भी

एक, विभु और नित्य है। काल के पाँच गुण माने गये हैं— संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।

7. दिक्— दिक् का लक्षण है— ‘प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्’ अथवा ‘प्राच्यादिव्य-वहारस्य असाधारणकारणत्वं दिक्त्वम्’ अर्थात् जो प्राची आदि (प्राची, प्रतीची, उदीची, अवाची) व्यवहार का असाधारण कारण है उसे दिक् द्रव्य कहते हैं। यह भी एक, विभु और नित्य है। दिक् के भी पाँच गुण माने गये हैं— संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।

8. आत्मा— आत्मा का लक्षण है— ‘ज्ञानाधिकरणमात्मा’ अर्थात् जो ज्ञान का अधिकरण है, आश्रय है, उसे आत्मा द्रव्य कहते हैं। यह दो प्रकार का है— जीवात्मा और परमात्मा। उनमें से जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न, विभु और नित्य है। तथा परमात्मा ईश्वर (समर्थ) और सर्वज्ञ (सब कुछ जानने वाला) एक ही है। आत्मा के चौदह गुण माने गये हैं— संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना।

9. मन— मन का लक्षण है— ‘सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः’ अर्थात् जो सुख-दुःख आदि की प्राप्ति के साधनरूप इन्द्रिय है, उसे मन द्रव्य कहते हैं। यह मन प्रत्येक आत्मा में नियत होने से अनंत, परमाणुरूप और नित्य है। मन के आठ गुण माने गये हैं— संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्त्व, अपरत्त्व और वेग।

गुण पदार्थ का परिचय

जो द्रव्य और कर्म से भिन्न होकर सामान्य रहता है उसे गुण कहते हैं। यही कहा है—

‘द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवत्त्वं गुणसामान्यलक्षणम्।’

—तर्कसंग्रह टीका

गुणों की संख्या चौबीस मानी गई है। उन सबका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

- 1. रूप—** मात्र चक्षु से ग्रहण किये जाने वाले गुण को रूप कहते हैं। यह सात प्रकार का है— शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश (काला भूरा) और चित्र (चितकबरा)।
- 2. रस—** रसना इन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले गुण को रस कहते हैं। यह छह प्रकार का है— मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), कषाय (कषायला) और तिक्त (तीखा)।
- 3. गन्ध—** घ्राण इन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले गुण को रस कहते हैं। यह दो प्रकार का है— सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)।

4. **स्पर्श**— मात्र त्वक् (स्पर्शन) इन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले गुण को स्पर्श कहते हैं। यह तीन प्रकार का है— शीत, उष्ण और अनुष्णशीत।
5. **संख्या**— एकत्वादि व्यवहार के हेतुभूत गुण को संख्या कहते हैं।
6. **परिमाण**— मान (माप) के व्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते हैं। यह चार प्रकार का है— अणु (पतला), महत् (बड़ा), दीर्घ (लम्बा) और दृक् (छोटा)।
7. **पृथक्त्व**— पृथक् व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं।
8. **संयोग**— संयुक्त व्यवहार के असाधारण कारण को संयोग कहते हैं।
9. **विभाग**— संयोग के नाशजनक गुण को विभाग कहते हैं।
10. **परत्व**— पर व्यवहार के असाधारण कारण को परत्व कहते हैं।
11. **अपरत्व**— अपर व्यवहार के असाधारण कारण को अपरत्व कहते हैं।
12. **गुरुत्व**— आद्य पतन के असमवायि कारण को गुरुत्व कहते हैं।
13. **द्रवत्व**— आद्य स्यन्दन (चूने) के असमवायि कारण को द्रवत्व कहते हैं।
14. **स्नेह**— चूर्ण आदि के पिंडत्व के कारणभूत गुण को स्नेह कहते हैं।
15. **शब्द**— श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले गुण को शब्द कहते हैं। यह दो प्रकार का है— ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। भेरी आदि के शब्द को ध्वन्यात्मक कहते हैं और संस्कृत आदि भाषा रूप शब्द को वर्णात्मक कहते हैं।
16. **बुद्धि**— सर्व व्यवहार के हेतुभूत गुण को बुद्धि कहते हैं। इसे ज्ञान भी कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं— स्मृति और अनुभव। संस्कारमात्र जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं और उस स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। स्मृति और अनुभव —ये दोनों भी दो-दो प्रकार के होते हैं— यथार्थ और अयथार्थ। जहाँ जिसका सम्बन्ध है वहाँ उसके सम्बन्ध का अनुभव यथार्थ अनुभव है और जहाँ जिसका सम्बन्ध का अभाव है वहाँ उसके सम्बन्ध का अनुभव अयथार्थ अनुभव है। यथार्थ अनुभव को प्रमा भी कहते हैं। यह प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव पुनः चार प्रकार का है— प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। प्रमा (यथार्थ अनुभव) के करण को प्रमाण कहते हैं। यहाँ ‘करण’ शब्द महत्त्वपूर्ण है। करण अर्थात् साधकतम कारण, असाधारण कारण। किसी भी कार्य के आठ कारण माने गये हैं—
 1. ईश्वर, 2. ईश्वर का ज्ञान, 3. ईश्वर का प्रयत्न, 4. ईश्वर की इच्छा,
 5. काल, 6. धर्म-अधर्म, 7. दिशा, 8. प्रागभाव-प्रतिबन्धकाभाव
 ये सभी साधारण कारण हैं। इनको ‘करण’ नहीं कहा जा सकता। करण

वही है जो असाधारण कारण है। कारण तीन प्रकार के होते हैं— समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति हो उसे समवायी कारण कहते हैं, कार्य अथवा कारण के साथ एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होता हुआ जो कारण है उसे असमवायी कारण कहते हैं और जो समवायी कारण एवं असमवायी कारण से भिन्न कारण हो उसे निमित्त कारण कहते हैं।

प्रमाण चार प्रकार का होता है— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रत्यक्ष प्रमाण— जो प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण कारण (इन्द्रिय) है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं— निर्विकल्प प्रत्यक्ष और सविकल्प प्रत्यक्ष। प्रकारता (विशेषणता), विशेष्यता एवं संसर्गता शून्य ज्ञान को निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। नाम, जाति आदि विशेषण तथा विशेष्य के सम्बन्धावग्राही ज्ञान को सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान को सन्निकर्ष उत्पन्न करता है। सन्निकर्ष छह प्रकार का है— संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय, विशेषण-विशेष्य भाव।

अनुमान प्रमाण— अनुमिति के करण को अनुमान कहते हैं। अनुमिति का अर्थ होता है— परामर्श से उत्पन्न ज्ञान। परामर्श का अर्थ है— व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं। व्याप्ति— व्याप्य एवं व्यापक के साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। अनुमान प्रमाण दो प्रकार का होता है— स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमिति के करण को स्वार्थानुमान कहते हैं और परार्थानुमिति के करण को परार्थानुमान कहते हैं। जो अपने अर्थ को अर्थात् साध्यसंशयनिवृत्तिरूप प्रयोजन को सिद्ध करे उसे स्वार्थानुमिति कहते हैं और जिस अनुमिति से दूसरे का साध्यसंशयनिवृत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होता है उसे परार्थानुमिति कहते हैं।

उपमान प्रमाण— उपमिति के करण को उपमान प्रमाण कहते हैं। संज्ञा, संज्ञी और सम्बन्ध के ज्ञान को उपमिति कहते हैं।

शब्द प्रमाण— ‘आप्तोपदेशः शब्दः’ अर्थात् आप्त के उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं। यद्यपि सामान्य रूप से तो जो कंठ तालु आदि के उपघात से उत्पन्न होता है उसे शब्द कहते हैं, किन्तु ऐसा हर शब्द प्रमाण नहीं हो सकता है, अतः यहाँ कहा गया है कि ‘आप्तोपदेशः शब्दः’ अर्थात् जो आप्त के द्वारा कहा गया है, वही शब्द प्रमाण है। प्रश्न है कि आप्त कौन है? वही कहते हैं कि— ‘रागादिवशा-दपि यः नान्यथावादी स आप्तः’ अर्थात् जो रागादि के वशीभूत होते हुए भी अन्यथावादी, मिथ्यावादी नहीं है, वही आप्त है। यहाँ आप्त के लिए ‘रागादिवशादपि’, रागादि के वशीभूत होते हुए भी —ऐसा कहा गया है, परन्तु ध्यान रहे वह रागादि के वशीभूत होकर कथन नहीं करता है। यदि करे तो वह

आप्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि दर्शन की अन्य शाखाओं में आप्त को रागादि से रहित ही स्वीकार किया गया है।

17. **सुख**— जो सभी के अनुकूल ज्ञान का विषय है उसे सुख कहते हैं।
18. **दुःख**— जो सभी के प्रतिकूल ज्ञान का विषय है उसे दुःख कहते हैं।
19. **इच्छा**— कामना को इच्छा कहते हैं।
20. **द्वेष**— क्रोध को द्वेष कहते हैं।
21. **प्रयत्न**— कृति को प्रयत्न कहते हैं।
22. **धर्म**— विहित कर्म से उत्पन्न गुण को धर्म कहते हैं।
23. **अधर्म**— निषिद्ध कर्म से उत्पन्न गुण को अधर्म कहते हैं।
24. **संस्कार**— सामान्य गुण और विशेष गुण —इन दोनों में रहने वाली गुणत्व जाति जहाँ रहती है उसे संस्कार कहते हैं।

कर्म पदार्थ का परिचय

चलन स्वरूप वाली क्रिया को कर्म कहते हैं, जैसा कि कहा भी है— चलनात्मकं कर्म। अथवा कर्म का लक्षण है— संयोगभिन्नत्वे सति संयोगोसमवायिकारणत्वं कर्म अर्थात् संयोग से भिन्न होकर जो संयोग का असमवायि कारण है उसे कर्म कहते हैं।

इसके पाँच भेद होते हैं— उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। ऊर्ध्व देश में संयोग के कारण को उत्क्षेपण कहते हैं। अधो देश में संयोग के कारण को अपक्षेपण कहते हैं। शरीर के निकट संयोग के कारण को आकुंचन कहते हैं। शरीर के दूर संयोग के कारण को प्रसारण कहते हैं। इनके अतिरिक्त सभी क्रियाओं को गमन कहते हैं। गमन के अंतर्गत भ्रमण, रेचन, स्पंदन, निष्क्रमण, प्रवेशन आदि विविध क्रियाओं का समावेश होता है। उदाहरण के तौर पर—

किसी चादर आदि को प्रयत्न करके ऊपर उठाना उत्क्षेपण है।

उसे फिर से नीचे लाना अपक्षेपण है।

उसे तह करके समेट देना आकुंचन है।

उसे फिर से फैलाकर बिछा देना प्रसारण है।

और उसे हिलाना, घुमाना, कंपाना आदि अन्य सब क्रियाएँ गमन हैं।

सामान्य पदार्थ का परिचय

सामान्य को ‘जाति’ भी कहते हैं। जो नित्य और एक होकर अनेकों में अनुगत है, उसे ‘सामान्य’ या ‘जाति’ कहते हैं। सामान्य का लक्षण है— ‘नित्यत्वे सति

अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्’ अर्थात् जो नित्य होकर अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहता है उसे सामान्य कहते हैं। यह सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है।

सामान्य दो प्रकार का होता है— पर सामान्य और अपर सामान्य। जो अधिक देश में रहता है उसे पर सामान्य कहते हैं और जो अल्प देश में रहता है उसे अपर सामान्य कहते हैं। जैसे कि द्रव्यत्व सामान्य पृथिवी आदि समस्त द्रव्यों में रहता है अतः उसे अधिक देश में रहने के कारण पर सामान्य कहते हैं और पृथिवीत्व सामान्य केवल पृथिवी में ही रहता है अतः उसे अल्प देश में रहने के कारण अपर सामान्य कहते हैं।

विशेष पदार्थ का परिचय

नित्य द्रव्य में रहने वाले व्यावर्तकों को विशेष कहते हैं। विशेष का लक्षण है— ‘अन्त्यत्वे सति नित्यद्रव्यवृत्तित्वं विशेषत्वम्’ अर्थात् जो अन्त्य होकर नित्य द्रव्य में रहता है उसे विशेष कहते हैं। विशेष अनन्त हैं। वे पृथिवी, जल, तेज और वायु के नित्य परमाणुओं में भी रहते हैं और आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन—इन नित्य द्रव्यों में भी रहते हैं।

यहाँ नित्य और अनित्य का भी लक्षण समझ लेना चाहिए। जो ध्वंस से भिन्न होकर ध्वंस का प्रतियोगी नहीं है उसे नित्य कहते हैं और जो ध्वंस का प्रतियोगी है उसे अनित्य कहते हैं।

समवाय पदार्थ का परिचय

नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। समवाय का लक्षण है— ‘नित्यसम्बन्धत्वं समवायलक्षणम्’ अर्थात् अवयव और अवयवी के, जाति और व्यक्ति के, गुण और गुणी के, क्रिया और क्रियावान के और विशेष और नित्य द्रव्य के मध्य होने वाले सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि दो अयुतसिद्ध पदार्थों का वह नित्य सम्बन्ध जिसके कारण ‘यह इसमें है’— ऐसा प्रत्यय (प्रतीति, ज्ञान) होता है उसे समवाय कहते हैं। जैसे कि ‘तन्तुओं में पट है’— यहाँ तन्तु और पट में अवयव-अवयवी रूप नित्य सम्बन्ध है, अतः इन दोनों में समवाय सम्बन्ध है। इसी प्रकार ‘अग्नि में उष्णत्व है’— यहाँ भी अग्नि और उष्णत्व में अयुतसिद्ध सम्बन्ध है, अतः इन दोनों में भी समवाय सम्बन्ध है।

अभाव पदार्थ का परिचय

अभाव का लक्षण है— ‘भावभिन्नत्वं वा प्रतियोगिज्ञानोधीनज्ञानविषयत्वम् अभावत्वम्’ अर्थात् भाव से भिन्न को अथवा प्रतियोगी के ज्ञान के अधीन ज्ञानविषय

को अभाव कहते हैं। यह अभाव चार प्रकार का है— प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

प्रागभाव— जिसका आदि नहीं और अंत (नाश) है ऐसे अभाव को प्रागभाव कहते हैं। यह कार्य की उत्पत्ति के पहले रहता है। कहा भी है— ‘अनादिः सान्तः प्रागभावः, उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य।’ जैसे मृत्पिंड में घट नहीं है।

प्रध्वंसाभाव— जिसका आदि है और अंत नहीं है ऐसे अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यह कार्य की उत्पत्ति के बाद होता है। कहा भी है— ‘सादिरनन्तः प्रध्वंसः, उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य।’ जैसे घट कपाल में घट नहीं है। यहाँ प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में अंतर ध्यान देने योग्य है। कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसका अभाव प्रागभाव है और कार्य के नष्ट होने के बाद उसका अभाव प्रध्वंसाभाव है। इसके लिए मैं आपको एक सरल और व्यावहारिक उदाहरण देना चाहता हूँ। जैसे कि हम रेलवे स्टेशन गये, गाड़ी का समय पाँच बजे का था। हम ठीक पाँच बजे ही वहाँ पहुँचे। प्लेटफ़ॉर्म पर गाड़ी नहीं थी। हमने घबराकर किसी से पूछा कि गाड़ी क्यों नहीं है? वह बोला— अभी आई नहीं है, लेट हो गई है। तो इसका नाम प्रागभाव है। प्रागभाव अर्थात् गाड़ी के आने से पूर्व उसका अभाव। किन्तु मान लीजिए कि उस व्यक्ति ने बताया होता कि गाड़ी अभी-अभी चली गई है, आप लेट हो गये हैं। तो इसका नाम प्रध्वंसाभाव है। प्रध्वंसाभाव अर्थात् गाड़ी के जाने के बाद उसका अभाव।

अत्यन्ताभाव— जिसमें त्रैकालिक (त्रिकालवर्ती) और संसर्ग से युक्त प्रतियोगिता है उस अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे कि इस भूतल पर घट नहीं है। कहा भी गया है कि— ‘त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिता-कोऽभावोऽत्यन्ताभावः। यथा भूतले घटो नास्तीति।’

अन्योन्याभाव— तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे कि घट घट है, पट नहीं है। वही कहा है— ‘तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोन्योन्याभावः। यथा घटः पटो नेति।’

अब हम इन चारों अभावों को एक निम्नलिखित उदाहरण से सरलतापूर्वक समझ सकते हैं—

प्रागभाव— जैसे कि मृत्पिंड में घट नहीं है, क्योंकि अभी उसकी उत्पत्ति नहीं हुई है।

प्रध्वंसाभाव— जैसे कि कपाल में घट नहीं है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर नष्ट हो चुका है।

अत्यन्ताभाव— जैसे कि इस भूतल पर घट नहीं है, क्योंकि यहाँ वह बिल्कुल

नहीं था, नहीं है, नहीं होगा।

अन्योन्याभाव— जैसे कि घट घट है, पट नहीं है, क्योंकि घट पटरूप से नहीं है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यहाँ वैशेषिक मत के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव —इन सप्त पदार्थों का सामान्य परिचय प्राप्त किया। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों को इसीप्रकार सभी दर्शनों के पदार्थों का स्वरूप समझकर तर्क-युक्ति से समीचीन ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए।

सहायक ग्रंथ सूची-

1. तर्कसंग्रह — अन्नम् भट्ट, व्याख्याकार आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी, प्रकाशक— चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, गोपालमंदिर लेन, वाराणसी
2. तर्कसंग्रह — अन्नम् भट्ट, भाषाटीकाकार— परमहंस परमानन्द, कल्याण प्रेस, मुम्बई, विक्रम संवत् 1954
3. वैशेषिकदर्शनम् — आचार्य उदयवीर शास्त्री, प्रकाशक— विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली-6
4. वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन — श्रीनारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, गोपालमंदिर लेन, वाराणसी
5. वैशेषिक सूत्र — चौखम्बा प्रकाशन, गोपालमंदिर लेन, वाराणसी



विद्वान् कौन है?

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।

यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः॥

—आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासन, 145

अर्थ— जो जीव अन्य अपेक्षाओं को छोड़कर केवल गुण-दोष के कारण ही ग्रहण-त्याग करता है, वही श्रेष्ठ विद्वान् है।

अपरीक्षित कार्य करनेवाले को बड़ा सन्ताप होता है

अपरीक्षितं न कर्तव्यं, कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।

पश्चाद्भवति सन्तापो, ब्राह्मणी नकुलं यथा॥

—आचार्य रत्नकीर्ति, आराधनासार-टीका, 49

अर्थ— हमें कभी भी अपरीक्षित कार्य नहीं करना चाहिए, अपितु अच्छी तरह परीक्षा करके ही करना चाहिए; क्योंकि जो व्यक्ति अपरीक्षित कार्य करते हैं, उन्हें बाद में बहुत सन्ताप होता है, जैसे कि ब्राह्मणी को नकुल को मारने के बाद हुआ था।

सूत्र के बत्तीस दोषों का संक्षिप्त विवेचन

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम् ।

निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥¹

अर्थ— जो अल्पाक्षर हो, असंदिग्ध हो, सारवद् हो, गूढ हो, निर्दोष हो, हेतुमत् हो और तथ्यपूर्ण हो, उसे ही विद्वज्जन सूत्र कहते हैं ।

‘सूत्र’ का यह लक्षण सूत्र की अद्भुत गंभीरता को प्रकट करता है ।

सूत्र में एक-एक अक्षर का बहुत महत्त्व होता है, वहाँ कोई एक भी अक्षर निरर्थक नहीं होता, हर अक्षर के पीछे बहुत अर्थ छुपा रहता है । यदि आधी मात्रा भी कम हो जाए और भाव कम न हो तो सूत्रकार को पुत्रप्राप्ति के समान सुख प्राप्त होता है—

‘अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।’

इससे भी सूत्र की अद्भुत गंभीरता का प्रमाण मिलता है । सूत्रों का निर्माण ही नहीं, उनका अध्ययन-अध्यापन भी अत्यधिक कुशलता की अपेक्षा रखता है ।

शास्त्रों में, सूत्र के उपर्युक्त लक्षण में निर्दिष्ट 7 गुणों में से ‘निर्दोष’ विशेषण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सूत्र को 32 दोषों से रहित होना चाहिये—

गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि ।²

‘वृहत्कल्पसूत्र’ में इन 32 दोषों का पृथक्-पृथक् रूप से स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है । यथा—

अलियमुवघायजणयं अवत्यगं निरत्ययं छलं दुहिलं ।
निस्सारमहियमूणं पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं॥
कमभिन्नं वयणभिन्नं विभत्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च ।
अणभिहियमपयमेव य सभावहीणं ववहियं च॥
काल-जड़-छविदोसो समयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।
अत्यावत्तीदोसो हवड़ य असमासदोसो उ॥
उवमा-रुवगदोसो परप्पवत्ती य संधिदोसो य ।
ए ३ सुत्तदोसा बत्तीसं हुंति नायव्वा॥³

अर्थ— 1. अलीक, 2. उपघातजनक, 3. अपार्थक, 4. निरर्थक, 5. छल, 6. द्रुहिल, 7. निस्सार, 8. अधिक, 9. ऊन, 10. पुनरुक्त, 11. व्याहत, 12. अयुक्त, 13. क्रमभिन्न, 14. वचनभिन्न, 15. विभक्तिभिन्न, 16. लिंगभिन्न, 17. अनभिहित, 18. अपद, 19. स्वभावहीन, 20. व्यवहित, 21. कालदोष, 22. यतिदोष, 23. छविदोष, 24. समयविरुद्ध, 25. वचनमात्र, 26. अर्थापत्ति, 27. असमासदोष, 28. उपमादोष, 29. रूपकदोष, 30. परप्रवृत्तिदोष, 31. पददोष, 32. सन्धिदोष —ये सूत्र के बत्तीस दोष जानने चाहिये।

अहो, मुनिगण जिसप्रकार एक-एक ग्रास भोजन का ग्रहण 32 दोषों (अन्तरायों) को टालकर करते हैं, उसीप्रकार एक-एक वाक्य का उच्चारण भी 32 दोषों को टालकर करते हैं। कितनी अधिक सावधानी अपेक्षित है जिनवाणी के कथन में! जिनवाणी की आज्ञा का पालन करने के लिए जिनवाणी के प्रत्येक वक्ता को सूत्रों की भाँति बहुत ही संतुलित और सावधानीपूर्ण कथन करना चाहिए अन्यथा घोर पाप का भागी बनना पड़ता है। दूषित कथन करनेवाला वक्ता दण्ड का भागी कहा गया है। ‘वृहत्कल्पसूत्र’ के अनुसार तो दूषित कथन करनेवाला वक्ता यदि साधु हो तो भी दंडनीय है, उसकी सर्व दीक्षा ही निरर्थक कही गई है—

‘सर्वा दीक्षा निरर्थिका’।

सूत्र के 32 दोषों का संक्षिप्त विवेचन इसप्रकार है—

1. **अलीक**— अलीक का अर्थ है— मिथ्या, झूठ। यह दो प्रकार का है— अभूतोद्-भावन और भूतनिहनव। जो नहीं है उसे ‘है’ कहना अभूतोद्भावन है, जैसे— सृष्टिकर्ता ईश्वर है अथवा वटकणिका मात्र जीव है; और जो है उसे ‘नहीं’ कहना भूतनिहनव है, जैसे— जीव नहीं है।
2. **उपघातजनक**— जिस कथन से हिंसा के भाव उत्पन्न होते हों, उसमें उपघातजनक दोष समझना चाहिये। जैसे— न मांसभक्षणे दोषः न मद्ये न च मैथुने।⁴ (अर्थ— मांसभक्षण में दोष नहीं है, मद्यपान और मैथुन में भी दोष नहीं है) इत्यादि।
3. **अपार्थक**— इसे ‘असंबद्ध’ भी कहते हैं। जिस कथन के अवयवों का तो अर्थ हो, पर उन सबके समुदाय का कोई अर्थ न निकलता हो, वहाँ अपार्थक दोष होता है। जैसे— शंख कदली में है और कदली भेरी में है।
4. **निरर्थक**— जिस कथन के अवयवों का ही कोई अर्थ न हो वहाँ निरर्थक दोष होता है। जैसे— डित्थ डवित्थ वाजिन।
5. **छल**— इस ‘छल’ नामक दोष को बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। शास्त्रों में बारम्बार छल ग्रहण नहीं करने का उपदेश दिया गया है। यथा— ‘चुक्केज्ज छलं ण घेतत्तव्वं’⁵ अर्थात् यदि कहीं चूक हो जाए तो छल ग्रहण मत करना।

वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके कथन में दोषारोपण करना छल है। यह तीन प्रकार का है— वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल।⁶

(क) **वाक्छल**— जैसे— **नवकम्बलोऽयं देवदत्तः।** यहाँ वक्ता ने ‘नव’ शब्द का प्रयोग ‘नवीन’ के अर्थ में किया था, परन्तु कोई उसे ‘नौ’ संख्या के अर्थ में ग्रहण करे तो यह वाक्छल है।

(ख) **सामान्य छल**— जैसे— **अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः।** यहाँ वक्ता ने किसी विशेष ब्राह्मण को विद्याचरणसम्पन्न कहा था, परन्तु कोई उसे सभी ब्राह्मणों के सम्बन्ध में ग्रहण करे तो यह सामान्य छल है।

(ग) **उपचार छल**— जैसे— **मंचाः क्रोशन्ति।** यहाँ वक्ता ने उपचार से ‘मंच रोते हैं’ कहा था, परन्तु कोई ऐसा अर्थ ग्रहण करे कि मंच जैसे अचेतन पदार्थ कैसे रो सकते हैं, तो यह उपचार छल है।

6. **द्रुहिल**— जिस कथन में पुण्य-पापादि का अपलाप किया जाए वहाँ द्रुहिल दोष समझना चाहिये। जैसे—

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।

(अर्थ— यह लोक इतना ही है जितना कि इन्द्रियगोचर है।)

7. **निस्सार**— जिस कथन में कोई सार न हो, वहाँ निस्सार दोष जानना चाहिये। जैसे—

अस्थिचर्मशिलापृष्ठं वृद्धाः। (अर्थ— अस्थि-चर्म का ढाँचा मात्र वृद्ध हैं।)

8. **अधिक**— जहाँ आवश्यकता से अधिक अवयवों का प्रयोग किया जाए वहाँ ‘अधिक’ दोष होता है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन —ये 5 अवयव हैं; परन्तु इनका प्रयोग यथायोग्य ही करना चाहिये। जहाँ प्रतिज्ञा और हेतु —इन दो से काम चल जाए वहाँ तीन का प्रयोग नहीं करना चाहिये, अन्यथा ‘अधिक’ दोष होगा।

9. **ऊन**— जहाँ आवश्यकता से कम अवयवों का प्रयोग किया जाए वहाँ ‘ऊन’ दोष होता है। जैसे— जहाँ मंदबुद्धि शिष्य के बोधार्थ पाँचों अवयवों का प्रयोग आवश्यक है वहाँ चार या तीन अवयवों का ही प्रयोग करना।

10. **पुनरुक्त**— पुनः-पुनः कहना ही पुनरुक्त है। वह तीन प्रकार का है—

(क) **अर्थपुनरुक्त**— जैसे— इन्द्र, शक्र, पुरन्दर। यहाँ एक ही अर्थ को विभिन्न शब्दों से पुनः-पुनः कहा गया है, अतः यहाँ अर्थपुनरुक्त है।

(ख) **वचनपुनरुक्त**— जैसे— सैन्धवमानय, सैन्धवमानय। यहाँ एक ही बात को पुनः-पुनः कहा गया है, अतः वचनपुनरुक्त है।

(ग) **उभयपुनरुक्त**— जैसे— क्षीरं क्षीरम्। यहाँ अर्थ और शब्द दोनों को ही

पुनः-पुनः कहा गया है, अतः यहाँ उभयपुनरुक्त है।

11. **व्याहत**— पूर्वकथन का उत्तरकथन से खण्डित हो जाना व्याहत दोष है। जैसे— **कर्म चास्ति फलं चास्ति भोक्ता नास्ति च निश्चयः।** (अर्थ— कर्म भी है और उसका फल भी है, परन्तु उसका कोई भोक्ता नहीं है।) यहाँ पूर्वकथन उत्तर कथन से बाधित (खण्डित) हो गया है अतः यहाँ ‘व्याहत’ दोष है।
12. **अयुक्त**— जो कथन युक्तिसंगत न हो अथवा जो कथन बुद्धि से विचार करने पर युक्ति को सहन न कर सके, उसमें अयुक्त दोष होता है। जैसे—

**तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः।
प्रावर्तन नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥**

(अर्थ— उन मदोन्मत्त हाथियों के मदबिन्दुओं से ऐसी नदी बह निकली, जो हाथी, घोड़े और अनेक रथों को भी बहा दे।)

अथवा— अनुचित कथन करना अयुक्त दोष है। जैसे— यह शास्त्र आपके चरण-कमलों में भेंट करता हूँ।

13. **क्रमभिन्न**— जहाँ उचित क्रम का उल्लंघन हो जाए वहाँ ‘क्रमभिन्न’ दोष होता है। जैसे— वर्द्धमान के माता-पिता का नाम सिद्धार्थ और त्रिशला है। यहाँ माता-पिता के क्रमानुसार पहले त्रिशला और बाद में सिद्धार्थ कहना चाहिये था, अतः यहाँ क्रमभिन्न दोष है।

अथवा जैसे— ‘उसका हृदय समुद्र और पुष्प की भाँति कोमल और गम्भीर है।’ यहाँ समुद्र का गुण गम्भीरता पहले कहना चाहिये था और पुष्प का गुण कोमलता बाद में; अतः यहाँ भी क्रमभिन्न दोष है।⁷

14. **वचनभिन्न**— उचित वचन का प्रयोग न करना वचनभिन्न दोष है। अर्थात् जहाँ एकवचन का प्रयोग करना चाहिये वहाँ द्विवचन या बहुवचन का प्रयोग हो जाए अथवा जहाँ द्विवचन का प्रयोग करना चाहिये वहाँ एकवचन या बहुवचन का प्रयोग हो जाए, जहाँ बहुवचन का प्रयोग करना चाहिये वहाँ एकवचन या द्विवचन का प्रयोग हो जाए, वहाँ ‘वचनभिन्न’ दोष होता है।
15. **विभक्तिभिन्न**— उचित विभक्ति का प्रयोग न करना अथवा अन्यथा विभक्ति का प्रयोग करना ही विभक्तिभिन्न दोष है। जैसे— जहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग करना चाहिये वहाँ पंचमी विभक्ति का प्रयोग कर देना विभक्तिभिन्न दोष है।
16. **लिंगभिन्न**— उचित लिंग का प्रयोग न करके अन्यथा लिंग का प्रयोग करना लिंगभिन्न दोष है। अर्थात् जहाँ स्त्रीलिंग का प्रयोग करना चाहिये वहाँ पुल्लिंग या नपुंसकलिंग का प्रयोग कर देना, अथवा जहाँ पुल्लिंग का प्रयोग करना चाहिये वहाँ स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग का प्रयोग कर देना, अथवा जहाँ

नपुंसकलिंग का प्रयोग करना चाहिये वहाँ स्त्रीलिंग या पुल्लिंग का प्रयोग कर देना 'लिंगभिन्न' दोष है।

17. **अनभिहित**— जो शास्त्र में नहीं कहा गया है उसे कहना अथवा अपनी इच्छा से कुछ भी कहना अनभिहित दोष है।
18. **अपद**— उचित पद का प्रयोग न करना अपद दोष है। जैसे— जहाँ गाथा पद का प्रयोग करना चाहिये वहाँ गीतिका पद का प्रयोग कर देना अपद दोष है।
19. **स्वभावहीन**— जहाँ किसी वस्तु को उसके आत्मीय स्वभाव से ही रहित बता दिया जाए वहाँ स्वभावहीन दोष होता है। जैसे— वायु स्थिर होती है।
20. **व्यवहित**— प्रकरणान्तर में चले जाना व्यवहित दोष है। जैसे— स्वर्ग-पटलों का वर्णन करते समय उसे बीच में ही छोड़कर नरकभूमि का वर्णन करने लग जाना।
21. **कालदोष**— भूत-भविष्य-वर्तमान कालों का अन्यथा प्रयोग कालदोष है। अर्थात् जहाँ भूतकाल का प्रयोग करना चाहिये वहाँ भविष्य या वर्तमान काल का प्रयोग कर देना, अथवा— जहाँ भविष्य काल का प्रयोग करना चाहिये वहाँ भूत या वर्तमान काल का प्रयोग कर देना, अथवा— जहाँ वर्तमान काल का प्रयोग करना चाहिये वहाँ भूत या भविष्य का प्रयोग कर देना कालदोष है।
22. **यतिदोष**— यति का अर्थ होता है— विश्राम या विराम। यति (विराम) का अन्यथा प्रयोग यतिदोष है। श्लोक, गाथा या किसी अन्य छन्द में भी यति का एक निश्चित स्थान होता है, उसका उल्लंघन करना यतिदोष है।
23. **छविदोष**— छवि का अर्थ है— अलंकार। जहाँ अलंकारों का अनुचित प्रयोग हो वहाँ छविदोष होता है।
24. **समयविरुद्ध**— किसी दर्शन-विशेष के नाम पर उसके विरुद्ध बात कहना समयविरुद्ध दोष है। जैसे— वैशेषिक कहते हैं कि प्रधान कारण है, अथवा— जैन कहते हैं कि स्वर्ग-नरक और आत्मा-परमात्मा का अस्तित्व नहीं है।
25. **वचनमात्र**— निराधार कुछ भी यद्वा-तद्वा बोलना वचनमात्र दोष है। जैसे— कोई पुरुष पृथ्वी में कहीं एक कील ठोककर कहे कि यह लोक का मध्य बिन्दु है।
26. **अर्थापत्ति**— जहाँ कहा गया कथन तो निर्दोष दिखाई देता हो, परन्तु उसी में से ध्वनित होने वाला अन्य अर्थ आपत्तिजनक हो वहाँ अर्थापत्ति दोष होता है। जैसे— **ब्राह्मणो न हन्तव्यः** अर्थात् ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये। यहाँ 'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये'—यह कथन ऊपर से निर्दोष दिखाई देता है, परन्तु

इसमें से यह अर्थ भी निकलता है कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को मारा जा सकता है, जो आपत्तिजनक है, अतः यहाँ अर्थापत्ति दोष है।

27. **असमास**— जहाँ समास का योग प्राप्त होने पर भी समास-रहित पद कहे जाएँ वहाँ असमास दोष होता है। जैसे— ‘नरेश जा रहा है’ के स्थान पर ‘नर का ईश जा रहा है’ —ऐसा कहना असमास दोष है।
28. **उपमा**— जहाँ उपमा का अन्यथा प्रयोग हो वहाँ उपमा दोष होता है। जैसे— **कांजिकमिव ब्राह्मणस्य सुरा पेया।** अर्थात् कांजी के समान ब्राह्मण को सुरा पीनी चाहिये। यहाँ सुरा को कांजी की उपमा देकर पेय बताया गया है, अतः यहाँ उपमा दोष है।
29. **रूपक**— जहाँ रूपक का अन्यथा प्रयोग हो वहाँ रूपक दोष होता है। जैसे— **पर्वतो रूप्यमान् आत्मीयैरङ्गैः शून्यो वर्ण्यते।**
30. **परप्रवृत्ति**— जहाँ बहुत अर्थ बताकर भी वस्तु का निर्देश न किया जाए वहाँ परप्रवृत्ति दोष होता है।
31. **पद**— जहाँ तिङन्त या सुबन्त रूप पद का अन्यथा प्रयोग हो वहाँ पद दोष होता है। अथवा व्याकरण से असिद्ध पद का प्रयोग करना पद दोष है, जिसे ग्राम्यत्व भी कहते हैं।
32. **सन्धि**— जहाँ सन्धि का योग होते हुए भी सन्धि न की जाए अथवा अशुद्ध रूप से सन्धि की जाए वहाँ सन्धि-दोष होता है।

इसप्रकार ये सूत्र के 32 दोष हैं। कुशल सूत्रकार अपने सूत्रों की रचना इन सभी दोषों से बचाकर अत्यन्त निर्दोष रूप से करते हैं।

सम्पूर्ण जिनवाणी सूत्रात्मक कही गई है,⁸ अतः उसके कथन करनेवालों को अत्यधिक सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा घोर पाप का भागी बनना पड़ेगा। आजकल जिनवाणी के अनेक वक्ता दूषित कथन करते देखे जाते हैं। वे सावधान हों, शास्त्रानुकूल कथन ही करें— यही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

दूषित कथन करना धार्मिक एवं साहित्यिक अपराध ही नहीं है, सामाजिक अपराध भी है, क्योंकि दूषित कथनों से समाज में भी अनेक प्रकार के कलह उत्पन्न होते हैं। इसके अनेक उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। अतः हम सबको अपना एक-एक कथन बहुत सोच-समझकर उक्त 32 दोषों को टालकर बड़ी कुशलतापूर्वक आगमानुकूल ही करना चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

1. (क) पंचसंग्रह, 4/3, पृष्ठ 585
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृष्ठ 238

2. भगवती आराधना, गाथा 192 की टीका, पृष्ठ 144
3. वृहत्कल्पसूत्र, अनुयोगाधिकार, गाथा 278 से 281
4. मनुस्मृति, अध्याय 5, श्लोक 56
5. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 5
6. “तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातश्छलम्। तत् त्रिधा वाक्छलं सामान्य-छलमुपचारच्छलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः संख्यामारोप्य निषेधति—कुतोऽस्य नव कम्बला इति। सम्भावनयातिप्रसंगिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यछलम्। यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसंगे कश्चिद्वदति—सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति। तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते— यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद् भवति, ब्राह्मणेऽपि सा भवेत् ब्राह्मणेऽपि ब्राह्मण एवेति। औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारच्छलम्। यथा मंचाः क्रोशन्तीति उक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतनाः मंचाः क्रोशन्ति? मंचस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्तीति।” —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 2/1/30
7. “अपक्रमं भवेद्यत्र प्रसिद्धक्रमलंघनम्।
यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरुन् देवांश्च वन्दते।।” —सम्यक्त्वकौमुदी, 216
जहाँ प्रसिद्ध क्रम का उल्लंघन होता है वहाँ अपक्रम कहलाता है। जैसे— भोजन करके स्नान करता है और गुरु एवं देवों की वन्दना करता है।
8. (क) ‘अथ सूत्रावतारः’ —आचार्य अमृतचन्द्र
(ख) ‘गाथासूत्राणि सूत्राणि’ —जयधवल



सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः।
तवैव ताः पूर्वमहर्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥

—आचार्य सिद्धसेन, द्वात्रिंशतिका, 2

अर्थ— हे ऋषभदेव! मुझे यह सुनिश्चित है कि अन्य मतों में जो युक्तिवाद और अच्छी बातें चमकती हैं, वे भी वास्तव में तुम्हारी ही हैं, तुम्हारे ही चतुर्दश पूर्व रूपी महासागर से निकली हुई जिनवाक्यरूपी जलबिन्दुएँ हैं।

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिता स्मः॥

—आचार्य हेमचन्द्र, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, 29

अर्थ— हे महावीर! मैं केवल श्रद्धा से ही आपका पक्ष नहीं ले रहा हूँ और द्वेष मात्र से ही अन्यो से अरुचि नहीं रखता हूँ, अपितु ठीक से परीक्षा करके ही केवल आपकी शरण लेता हूँ।

आप्तमीमांसा : एक अनुशीलन

(मंगलाचरण)

वीतराग सर्वज्ञ जो, स्याद्वाद भाषन्त।
उनको मन-वच-काय से, मेरा नमन अनन्त ॥

1. 'आप्तमीमांसा' के रचयिता और उनकी कृतियाँ-

‘आप्तमीमांसा’ की रचना आज से लगभग 1800 वर्ष पूर्व विक्रम की द्वितीय-तृतीय शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने की है।

‘आप्तमीमांसा’ का दूसरा नाम ‘देवागमस्तोत्र’ भी प्रसिद्ध है, क्योंकि इसका प्रारंभ ‘देवागम’ शब्द से होता है और यह मूलतः एक स्तोत्रकाव्य है। इसमें आप्त की मीमांसा के साथ उसकी स्तुति भी की गई है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी का परिचय यद्यपि पूर्णरूप से प्राप्त नहीं होता, पर जितना भी उपलब्ध होता है उसे उनकी सभी प्रकाशित कृतियों के प्रारंभ में दी गई ‘भूमिका’ या ‘प्रस्तावना’ आदि से भी जाना जा सकता है और ‘तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा’ आदि इतिहास-ग्रंथों से भी जाना जा सकता है, अतः उसे यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखते हैं; तथापि आचार्य समन्तभद्र स्वामी के सम्बन्ध में इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि वे वादी, वाग्मी, कवि और एक उच्चकोटि के दार्शनिक एवं तार्किक थे तथा उनके द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है जिनमें से अनेक तो किसी कारण से नष्ट या अनुपलब्ध हो गये हैं, यथा—गंधहस्तिमहाभाष्य, षट्खण्डागम-टीका¹, सिद्धान्तरसायनकल्प² आदि; किन्तु निम्नलिखित 5 ग्रंथ हमें आज भी उपलब्ध होते हैं—

1. **आप्तमीमांसा**— इसका विस्तृत परिचय यहाँ आगे लिखा ही जा रहा है।
2. **युक्त्यनुशासन**— इस ग्रन्थ में युक्तिपूर्वक जिनशासन को समीचीन सिद्ध किया गया है। इस पर आचार्य विद्यानन्दस्वामी की संस्कृतटीका ‘युक्त्यनुशासनालंकार’ भी मिलती है। इसमें 64 श्लोक हैं।
3. **स्वयंभूस्तोत्र**— इसमें 143 श्लोकों में 24 तीर्थंकरों की दार्शनिक स्तुति की गई है। इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृतटीका भी उपलब्ध होती है।

4. **स्तुतिविद्या (जिनशतक)**— इसमें भी कलात्मक ढंग से जिनेन्द्र-स्तुति की गई है। इसका अपर नाम 'जिनशतक' भी है। इसमें 116 श्लोक हैं।

5. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**— इसमें 150 श्लोकों में श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृतटीका उपलब्ध होती है।

उक्त सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में काव्यात्मक शैली में लिखे गये हैं। यहाँ इन्हीं में से एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'आप्तमीमांसा' का संक्षिप्त सार साधारण लोगों के समझने के लिए लिखा जाता है। आशा है कि इससे जैनदर्शन एवं जैनन्याय के छात्रों को भी बहुत लाभ होगा।

2. 'आप्तमीमांसा' का अर्थ-

'आप्तमीमांसा' पद दो शब्दों से मिलकर बना है— 1. आप्त और 2. मीमांसा। दोनों ही शब्द सावधानीपूर्वक समझने योग्य हैं।

'आप्त' एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ होता है— समीचीन वक्ता, प्रामाणिक पुरुष और 'मीमांसा' का अर्थ होता है— स्वरूप का विश्लेषण एवं निर्धारण। इस ग्रंथ में समीचीन वक्ता के स्वरूप का विश्लेषण एवं निर्धारण किया गया है, अतः इसका नाम 'आप्तमीमांसा' है।

जैनदर्शन के अनुसार 'आप्त' में निम्नलिखित तीन गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इनके बिना कोई भी आप्त नहीं हो सकता—

1. वीतरागता (निर्दोषत्व)
2. सर्वज्ञता (निरावरणत्व)
3. हितोपदेशिता (स्याद्वादित्व)

आप्त की अनेक परिभाषाएँ (लक्षण) विभिन्न जैन-ग्रंथों में निम्नानुसार प्राप्त होती हैं—

(क) 'आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।' —(रत्नकरण्डश्रावकाचार, 5)

(ख) 'यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः ।' —(अष्टशती, 78)

(ग) 'यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः ।' —(प्रमेयरत्नमाला, 3/95)

(घ) 'आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः ।' —(न्यायदीपिका, 3/74)

(ङ) 'सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम्।

सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ।।' —(यशस्तिलकचम्पू, 6/52)

(च) 'ववगदअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ।।' —(नियमसार, 5)

- (छ) ‘आप्तः शंकारहितः। शंका हि सकलमोहरागद्वेषादयः।’ –नियमसार, टीका, 5
 (ज) ‘आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षयः, सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः।’
 –(स्याद्वादमंजरी, 1/18)

इसीप्रकार की और भी अनेक परिभाषाएँ यहाँ उद्धृत की जा सकती हैं, परन्तु इन सब परिभाषाओं को आचार्य उमास्वामी ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के एक ही मंगलाचरण-श्लोक में बड़ी कुशलता से समाहित कर दिया है। यथा—

“मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूताम्।
 ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥”

अर्थात् जो मोक्षमार्ग का नेता (हितोपदेशी/स्याद्वादी) है, कर्म-पर्वतों का भेत्ता (वीतराग/निर्दोष) है और विश्वतत्त्वों का ज्ञाता (सर्वज्ञ/निरावरण) है, वही आप्त है और मैं उसे उसके इन्हीं गुणों की प्राप्ति के लिए प्रणाम करता हूँ।

3. मीमांसा और परीक्षा में अन्तर

प्रश्न— जैनदर्शन में ‘आप्तमीमांसा’ की भाँति एक ‘आप्तपरीक्षा’³ नाम का ग्रंथ भी उपलब्ध होता है और वह भी प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में जैनदर्शन के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। प्रश्न है कि क्या ‘परीक्षा’ और ‘मीमांसा’ में कोई अन्तर है?

उत्तर— हाँ, एक दृष्टि से इन दोनों में अन्तर है। आप्त कौन है— इसका निश्चय करना ‘आप्तपरीक्षा’ है और आप्त कैसा है— इसका निश्चय करना ‘आप्त-मीमांसा’ है।

जिसप्रकार अनेक असली-नकली रत्नों में से कौन-सा असली रत्न है— इसे बताने को ‘रत्नपरीक्षा’ कहते हैं और उसके बाद उस असली रत्न का स्वरूप कैसा-कैसा होता है और कैसा-कैसा नहीं होता है— ऐसा बताने को ‘रत्नमीमांसा’ कहते हैं। उसीप्रकार कौन आप्त है और कौन नहीं— ऐसा निश्चय करना ‘आप्तपरीक्षा’ कहलाता है और आप्त ऐसा ही (वीतराग, सर्वज्ञ और स्याद्वादी ही) होता है तथा ऐसा (रागी-द्वेषी, अल्पज्ञ और एकान्तवादी) नहीं होता है— ऐसा निश्चय करने का नाम ‘आप्तमीमांसा’ है।

इस बात को और अधिक स्पष्टता से समझने के लिए हम ‘आप्तपरीक्षा’ और ‘आप्तमीमांसा’ ग्रंथों की विषयवस्तु का भी विहंगावलोकन कर सकते हैं। यथा ‘आप्तपरीक्षा’ में समझाया गया है कि महेश्वर आप्त नहीं है, सुगत भी आप्त नहीं है, कपिल भी आप्त नहीं है, परमपुरुष भी आप्त नहीं है और अर्हत् ही आप्त है; अतः इस ग्रंथ का नाम ‘आप्तपरीक्षा’ रखा गया है। किंतु ‘आप्तमीमांसा’ में सीधे-सीधे यह नहीं समझाया गया है कि महेश्वर, सुगत, कपिल आदि आप्त नहीं हैं और अर्हत् ही आप्त है; अपितु यह समझाया गया है कि जो वीतराग हो, सर्वज्ञ

हो और स्याद्धादी हो वही आप्त हो सकता है और जो रागी-द्वेषी हो, अल्पज्ञ हो, एकान्तवादी हो, वह कथमपि आप्त नहीं हो सकता; इसीलिए इस ग्रंथ का नाम ‘आप्तमीमांसा’ है।

4. आप्त की मीमांसा/परीक्षा की आवश्यकता

प्रश्न— जैनदर्शन तो कहता है कि व्यक्ति कोई भी हो, हमें तो तत्त्व की परीक्षा करनी चाहिए और जिसके वचन युक्तिसंगत हो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।⁴ ऐसी स्थिति में ‘आप्त’ (समीचीन वक्ता/प्रामाणिक पुरुष) की परीक्षा की क्या आवश्यकता है? सीधे तत्त्व की ही परीक्षा क्यों न कर ली जाए?

उत्तर— आप्त भी तो एक तत्त्व ही है, अतः उसकी परीक्षा भी तत्त्व-परीक्षा ही है। दूसरी बात, सभी लोग सदा सभी तत्त्वों की परीक्षा नहीं कर सकते हैं, संभव ही नहीं है; अतः आप्त की परीक्षा करना आवश्यक है। उसी से हमको सर्व तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धान संभव है।

जिसप्रकार रोज-रोज सभी दुकानों पर जा-जाकर एक-एक सामान की परीक्षा करना संभव नहीं होता, अतः हम किसी प्रकार से परीक्षा करके एक दुकान की प्रामाणिकता का निर्णय कर लेते हैं और फिर रोजाना उसी दुकान से सारा सामान खरीदते रहते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक तत्त्व की परीक्षा करना सदा सबके लिए संभव नहीं है, अतः आप्त (प्रामाणिक वक्ता) की परीक्षा करना आवश्यक है।

यही कारण है कि जैनाचार्यों ने ‘आप्त’ की परीक्षा एवं मीमांसा के सम्बन्ध में आप्तपरीक्षा, आप्तमीमांसा आदि ग्रंथों की रचना की। ये ग्रंथ अत्यन्त प्रयोजनभूत हैं।

5. आप्तमीमांसा की विभिन्न टीकाएँ

आप्तमीमांसा पर संस्कृत भाषा में मुख्य रूप से तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं—

1. अष्टशती, आचार्य अकलंक, सातवीं शती।
2. अष्टसहस्री (आप्तमीमांसासालंकृति), आचार्य विद्यानन्दि, आठवीं शती।
3. आप्तमीमांसावृत्ति, आचार्य वसुनन्दि, बारहवीं शती।

जो सज्जन ‘आप्तमीमांसा’ का गूढ़-गंभीर अध्ययन करना चाहते हैं अथवा ‘आप्तमीमांसा’ की गंभीरता का अनुभव करना चाहते हैं, उन्हें इन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। ये तीनों संस्कृत टीकाएँ जैन वाङ्मय की अनमोल विरासत हैं। इनके अतिरिक्त पं. जयचंद छाबड़ा (उन्नीसवीं शती) ने भी देवागमस्तोत्र-वचनिका लिखी है, जो इस ग्रन्थ को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है। तथा किसी ने एक आप्तमीमांसा-टब्बाटीका भी लिखी है।

प्रो. उदयचन्द जैन सर्वदर्शनाचार्य ने इसकी एक हिंदी-टीका 'आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका' नाम से लिखी है, जो श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान वाराणसी से प्रकाशित हुई है। वह भी हिंदी-पाठकों के लिए अत्यंत लाभदायक टीका है। जिज्ञासुओं को उसका भी अध्ययन करना चाहिए।

एक सरल-सुबोध एवं संक्षिप्त हिन्दी-टीका पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' की भी उपलब्ध होती है, जो वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

इसीप्रकार आर्यिका ज्ञानमती माताजी, आचार्य विद्यासागरजी और पं. अभय कुमार शास्त्री देवलाली ने भी देवागमस्तोत्र का हिन्दी-पद्यानुवाद किया है।

जो लोग अंग्रेजी भाषा में 'आप्तमीमांसा' का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, संस्कृत ग्रन्थालय अहमदाबाद और विकल्प प्रिंटर्स देहरादून से अंग्रेजी में भी 'आप्तमीमांसा' प्रकाशित की गई है।

6. आप्तमीमांसा की विषयवस्तु

'आप्तमीमांसा' में कुल 114 कारिकाएँ हैं, जो दस परिच्छेदों में विभाजित हैं। सभी परिच्छेदों की विषय-वस्तु संक्षेप में इस प्रकार है—

पहला परिच्छेद (कारिका 1 से 23 तक)

इस परिच्छेद में सर्वप्रथम कहा गया है कि आप्त में अन्य कोई कितने ही चामत्कारिक गुण (देवागम-नभोयान-चामरादि) हों, पर उनसे कुछ नहीं होता, उनसे उसे 'आप्त' नहीं माना जा सकता, आप्त को तो केवल वीतरागता, सर्वज्ञता और स्याद्वादिता के कारण ही 'आप्त' माना जा सकता है।

तथा यह वीतरागता और सर्वज्ञता कोई असंभव बात नहीं है, अपितु संभव है, युक्तिसिद्ध है। (सामान्य सर्वज्ञसिद्धि)

पुनश्च, ऐसा वीतरागी एवं सर्वज्ञ अन्य कोई कपिलादि नहीं है, किंतु अरिहंत ही है, क्योंकि वही दोषावरणों से रहित है। (विशेष सर्वज्ञसिद्धि)

कपिलादि वीतराग-सर्वज्ञ नहीं हैं और अरिहंत ही वीतराग-सर्वज्ञ हैं— इसका ठोस प्रमाण यह है कि कपिलादि एकान्तवादी हैं और अरिहंत स्याद्वादी।

जो एकान्तवादी होता है वह वीतराग-सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसके वचन युक्ति एवं शास्त्र के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। तथा जो स्याद्वादी होता है वह वीतराग (निर्दोष) एवं सर्वज्ञ (निरावरण) सिद्ध होता है, क्योंकि उसके वचन युक्ति एवं शास्त्र के विरुद्ध नहीं होते, युक्ति एवं शास्त्र से खंडित नहीं होते।

इसप्रकार आप्त (अरिहंत) में निर्दोषत्व (वीतरागता), निरावरणत्व (सर्वज्ञत्व) एवं स्याद्वादित्व— ये तीन गुण सिद्ध किये; किंतु इन तीनों में भी स्याद्वादित्व गुण को आप्त का विशेषतः मूलाधारभूत गुण सिद्ध किया; अतः अब पूरे ग्रंथ में इसी

बात को अनेक प्रकार से विस्तारपूर्वक सिद्ध किया जाएगा कि एकान्तवाद किस प्रकार मिथ्या (युक्तिशास्त्रविरोधी) सिद्ध होता है और स्याद्वाद किस प्रकार समीचीन (युक्तिशास्त्रविरोधी) सिद्ध होता है।

विभिन्न एकान्तवादों के निराकरण (खण्डन) और तत्संबंधी स्याद्वाद की स्थापना (मण्डन) के इस क्रम में सर्वप्रथम भावाभाव (सत्-असत्) सम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करते हुए स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा—

भावैकान्त में दोष— भावैकान्त (सदेकान्त) को स्वीकार करने में निम्नलिखित दोष आते हैं—

1. प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावों का सर्वथा अभाव हो जाएगा। और ऐसा होने पर अनेक दोष उपस्थित हो जाएंगे।
2. प्रागभाव को न मानने पर कार्यद्रव्य अनादि सिद्ध हो जाएगा।
3. प्रध्वंसाभाव को न मानने पर कार्यद्रव्य अनन्त सिद्ध हो जाएगा।
4. अन्योन्याभाव (इतरेतराभाव/अन्यापोह) को न मानने पर सभी सर्वात्मक हो जाएगा।
5. अत्यन्ताभाव को न मानने पर दो द्रव्य दो नहीं रहेंगे, चेतन अचेतन और अचेतन चेतन हो जाएगा।

अभावैकान्त में दोष— अभावैकान्त (असदेकान्त) को स्वीकार करने में निम्नलिखित दोष हैं—

ज्ञान और वाक्य— इन दोनों का भी अभाव ही सिद्ध होगा। और तब, समझने-समझाने की यह सब प्रक्रिया ही सिद्ध नहीं होगी। कौन किस प्रकार स्वपक्षसिद्धि और परपक्षदूषण कर सकेगा?

उभयैकान्त में दोष— उभयैकान्त में निम्नलिखित दोष हैं—

सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव —इन दोनों में परस्पर विरोध है, अतः दोनों को निरपेक्षरूप से एक साथ कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

अवाच्यैकान्त में दोष— अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष हैं—

यदि वस्तु सर्वथा अवाच्य ही हो तो फिर उसे ‘अवाच्य’ शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा।

स्याद्वाद की स्थापना— प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव) की अपेक्षा सत् है, परचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव) की अपेक्षा असत् है, क्रमशः दोनों की अपेक्षा उभय है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवाच्य है। तथा जिस प्रकार यहाँ चार भंग घटित किये हैं, उसी प्रकार अपनी-अपनी अलग-अलग विवक्षाओं से शेष तीन भंग (सदवाच्य, असदवाच्य,

सदसदवाच्य) भी घटित कर लेना चाहिए।

दरअसल, भाव (सत्/अस्तित्व/विधि) और अभाव (असत्/नास्तित्व/निषेध) —ये दोनों धर्म अविनाभावी हैं, एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। अस्तित्व-नास्तित्वरूप उभय धर्मों वाली वस्तु ही शब्द का विषय होती है तथा भाव-अभाव दोनों रूप वस्तु ही अर्थक्रिया कर सकती है, एकान्त भाव या एकान्त अभावरूप वस्तु अर्थक्रिया नहीं कर सकती।

वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, जब एक को मुख्य किया जाता है, तब अन्य धर्म गौण हो जाते हैं यही स्याद्वाद-व्यवस्था है।

जिस प्रकार यहाँ भावाभावसम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है, उसी प्रकार द्वैताद्वैत, नित्यानित्य, एकानेक आदि से सम्बन्धित एकान्तों का भी निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना करनी चाहिए, अतः अब आगे के परिच्छेदों में उसे ही समझाने का प्रयत्न किया जाएगा।

दूसरा परिच्छेद (कारिका 24 से 36 तक)

जिस प्रकार पहले परिच्छेद में भावाभाव-सम्बन्धी एकान्त चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है, उसीप्रकार इस दूसरे परिच्छेद में द्वैताद्वैत-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा—

अद्वैतैकान्त में दोष— अद्वैतैकान्त में निम्नलिखित दोष आते हैं—

1. कारकभेद, क्रिया-भेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप द्वैत, बन्ध-मोक्षरूप द्वैत— यह सब कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।
2. यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि की जाए तो हेतु और साध्य—ये द्वैत सिद्ध हो जाएगा और यदि हेतु के बिना ही अद्वैत की सिद्धि की जाए तो यह अनुचित एवं अविश्वसनीय होगा, क्योंकि फिर तो कोई भी कुछ भी हेतु-विहीन कहेगा और उसे हमें मान्य करना होगा।
3. द्वैत के बिना तो ‘अद्वैत’ शब्द ही नहीं बनता, अतः द्वैत के अभाव में अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती।

द्वैतैकान्त में दोष— द्वैतैकान्त में निम्नलिखित दोष आते हैं—

1. द्रव्य और उसके अनन्त गुण-पर्याय सब पृथक्-पृथक् सिद्ध होंगे, उनमें किसी प्रकार का कोई अभेद सम्बन्ध नहीं रहेगा।
2. यदि कहा जाए कि वे पृथक्त्व गुण के कारण पृथक्-पृथक् नहीं होंगे तो पृथक्त्व गुण भी तो द्वैतैकान्त मानने पर द्रव्य से पृथक् ही सिद्ध हो जाएगा।

और यदि पृथक् नहीं माना जाएगा तो द्रव्य और उस पृथक्त्व गुण में तो अद्वैत सिद्ध हो जाएगा, द्वैतैकान्त कहाँ बचेगा?

3. द्वैतैकान्त में सन्तान, साधर्म्य, समुदाय, प्रेत्यभाव आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।
4. ज्ञान और ज्ञेय— दोनों में सत् की अपेक्षा अद्वैत (एकत्व) है। यदि उसे न माना जाए तो दोनों असत् सिद्ध होंगे।

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष— उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष है—

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तब उसे ‘अवाच्य’ शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा?

स्याद्वाद की स्थापना— अभेद की विवक्षा होने पर सत् सामान्य की अपेक्षा सभी पदार्थ एक हैं, अतः अद्वैत है और भेद की विवक्षा होने पर द्रव्यादि के भेद सभी पृथक्-पृथक् हैं, अतः द्वैत है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, उसमें भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं हैं, क्योंकि वे प्रमाण के विषय होते हैं।

भेद और अभेद दोनों की क्रमशः विवक्षा होने पर द्वैताद्वैत है और दोनों की युगपद् विवक्षा होने पर अवाच्य है।

तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार से घटित कर लेना चाहिए।

तीसरा परिच्छेद (कारिका 37 से 60 तक)

तीसरे परिच्छेद में नित्यानित्य-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा—

नित्यत्वैकान्त में दोष— नित्यत्वैकान्त में निम्नलिखित दोष हैं—

1. समस्त कारकों का अभाव सिद्ध होगा, किसी प्रकार की कोई क्रिया नहीं घटित होगी। सब कुछ सदा शाश्वत, कूटस्थ, निष्क्रिय सिद्ध होगा।
2. प्रमाण एवं प्रमाण-फल की व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी।
3. किसी भी कार्य की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी।
4. पुण्य-पाप, जन्म-जन्मान्तर, कर्म-कर्मफल एवं बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

अनित्यत्वैकान्त में दोष— अनित्यत्वैकान्त (क्षणिकत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष हैं—

1. इसमें भी जन्म-जन्मान्तर, कर्म-कर्मफल, बन्ध-मोक्ष एवं प्रमाण-प्रमाणफल आदि

की व्यवस्था नहीं बन सकती।

2. यदि कार्य सर्वथा असत् है तो आकाशकुसुम की तरह उत्पन्न ही नहीं होगा अथवा उपादान कारण का कोई नियम नहीं रहेगा।
3. कृतप्रणाश, अकृताभ्यागम आदि दोष उत्पन्न होते हैं।
4. हिंसक को बन्ध नहीं होगा और बन्धन-बद्ध हिंसक सिद्ध नहीं होगा।
5. इत्यादि।

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष— उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष है—

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तब उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा?

स्याद्वाद की स्थापना— द्रव्य-अपेक्षा वस्तु नित्य है, पर्याय-अपेक्षा अनित्य है, क्रमशः दोनों की अपेक्षा उभय (नित्यानित्य) है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है। तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार से घटित कर लेना चाहिए।

चौथा परिच्छेद (कारिका 61 से 72 तक)

इस परिच्छेद में भेदाभेद-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा—

भेदैकान्त में दोष— भेदैकान्त (अन्यत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष हैं—

1. यदि कारण-कार्य, गुण-गुणी, सामान्य-सामान्यवान् में सर्वथा भेद माना जाए तो उनमें कोई स्व-स्वामी आदि सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा, सब सर्वथा पृथक्-पृथक् सिद्ध होंगे।
2. उनमें देशभेद और कालभेद भी स्वीकार करना पड़ेगा, उनमें अभिन्नदेशता और अभिन्नकालता भी नहीं बन सकेगी।
3. समवाय से भी उनमें आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाएगा।

अभेदैकान्त में दोष— अभेदैकान्त (अनन्यत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष है—

1. कार्य और कारण— इन दो में से एक का ही अस्तित्व बचेगा, उनमें द्वित्वसंख्या भी नहीं बचेगी।

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष— उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष है—

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिये स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तब उसे

‘अवाच्य’ शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा?

स्याद्वाद की स्थापना— द्रव्य और पर्याय (गुण-पर्याय) भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् नहीं रहते, एक साथ रहते हैं, अतः उनमें ऐक्य है, अभेद है और संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद है, अतः उनमें भेद है, नानात्व है। क्रमशः दोनों की अपेक्षा भेदाभेदत्व है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्यत्व है। तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार घटित कर लेना चाहिए।

पाँचवाँ परिच्छेद (कारिका 73 से 75 तक)

इस परिच्छेद में मात्र तीन कारिकाएँ हैं, परन्तु उनमें एक बड़े ही महत्त्वपूर्ण विषय को स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि वस्तु-स्वरूप को सर्वथा आपेक्षिक (सापेक्ष) और सर्वथा अनापेक्षिक (निरपेक्ष) भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें भी अनेक दोष आते हैं। यथा—

यदि धर्म, धर्मी आदि को सर्वथा सापेक्ष माना जाए तो उनकी समीचीन व्यवस्था सिद्ध नहीं होती। तथा यदि सर्वथा निरपेक्ष माना जाए तो उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं बनता।

इसीप्रकार पूर्वोक्त रीति से उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त को भी मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि धर्म-धर्मी का अविनाभाव ही एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होता है, स्वरूप नहीं। स्वरूप तो अपने षट् कारकों से स्वतः सिद्ध है।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

छठा परिच्छेद (कारिका 76 से 78 तक)

इस परिच्छेद में हेतु और आगम के एकान्तवादियों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। कहा गया है कि वस्तु की सिद्धि सर्वथा हेतु से ही अथवा सर्वथा आगम से ही मानना भी मिथ्या एकान्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक दोष उपस्थित होते हैं। यथा—

वस्तु की सिद्धि यदि सर्वथा हेतु से ही मानी जाए तो प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से उसका ज्ञान नहीं हो सकेगा, वे व्यर्थ सिद्ध होंगे। तथा यदि सर्वथा आगम से ही वस्तु की सिद्धि मानी जाए तो परस्पर विरुद्ध मत भी समीचीन सिद्ध होंगे।

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त विधि से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि जहाँ वक्ता आप्त नहीं हो, वहाँ हेतु से साध्य की सिद्धि माननी/करनी चाहिए और जहाँ वक्ता आप्त हो, वहाँ आगम से साध्य की सिद्धि माननी/करनी चाहिए।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

सातवाँ परिच्छेद (कारिका 79 से 87 तक)

इस परिच्छेद में अन्तरंगार्थकान्तवादी (ज्ञानाद्वैतवादी) बहिरंगार्थकान्तवादी, उभयैकान्तवादी और अवाच्यैकान्तवादी— इन चारों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा—

यदि अन्तरंगार्थ (ज्ञानमात्र) ही तत्त्व है तो सभी बुद्धि और वचन मिथ्या सिद्ध होंगे, प्रमाणाभास सिद्ध होंगे। तथा प्रमाणाभास भी तो प्रमाण के बिना कैसे बनेगा?

अनुमान से भी विज्ञप्तिमात्र को तत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें प्रतिज्ञादोष एवं हेतुदोष— दोनों उपस्थित होंगे। केवल बाह्यार्थ की सत्ता मानने पर प्रमाणाभास का लोप हो जाएगा और ऐसी स्थिति में विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक सभी मतों की सिद्धि हो जाएगी।

उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि स्वसंवेदन की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है और बाह्य अर्थ की अपेक्षा ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास—दोनों की व्यवस्था होती है।

अर्थ तीन प्रकार का है— बुद्धिरूप, शब्दरूप और अर्थरूप। इनमें से बाह्य अर्थ के होने पर ही बुद्धि और शब्द में प्रमाणता होती है, बाह्य अर्थ के अभाव में नहीं। बाह्य अर्थ के अभाव में बुद्धि और शब्द अप्रमाण या प्रमाणाभास माने जाएँगे।

यहाँ भी यथाविधि सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

आठवाँ परिच्छेद (कारिका 88 से 91 तक)

इस परिच्छेद में दैव और पौरुष (पुरुषार्थ) सम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा—

यदि सर्वथा दैव से ही अर्थ की सिद्धि मानी जाए तो दैव की सिद्धि भी तो पौरुष से ही होती है, वह कैसे होगी? तथा यदि दैव से ही दैव की सिद्धि मानी जाए तो मोक्ष का अभाव हो जाएगा। मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करना निष्फल होगा।

यदि सर्वथा पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि मानी जाए तो पुरुषार्थ भी तो दैव से होता है, वह कैसे होगा? तथा यदि पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ की सिद्धि मानी जाए तो सभी प्राणियों का पुरुषार्थ सफल होना चाहिए। क्यों नहीं होता?

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त रीति से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि जहाँ इष्टानिष्ट अर्थ की प्राप्ति बुद्धिव्यापार के

बिना होती है वहाँ उसे दैव से हुआ कहा जाता है और जहाँ बुद्धिव्यापार पूर्वक होती है वहाँ उसे पुरुषार्थ से हुआ कहा जाता है।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्त भंग घटित कर लेना चाहिए।

नौवाँ परिच्छेद (कारिका 92 से 95 तक)

इस परिच्छेद में पुण्य और पाप के बन्ध-विषयक एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा—

यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि परदुःखहेतुत्व से पापबन्ध और परसुखहेतुत्व से पुण्यबन्ध है तो अचेतन पदार्थ और कषाय-रहित जीव भी बन्ध को प्राप्त होंगे, क्योंकि वे भी पर के दुःख-सुख में हेतु (निमित्त) होते हैं। किन्तु उन्हें बन्ध नहीं होता है।

तथा यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि स्व को दुःख देने से पुण्यबन्ध और सुख देने से पापबन्ध होता है तो वीतराग एवं विद्वान् मुनि भी बन्ध को प्राप्त होंगे।

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त रीति से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि स्व या पर में होने वाला सुख-दुःख यदि विशुद्धि और संक्लेश का अंग है तो उससे क्रमशः पुण्यबन्ध और पापबन्ध होता है, किन्तु यदि वह विशुद्धि या संक्लेश किसी का भी अंग नहीं है तो वह बन्ध का कारण नहीं होता।

दसवाँ परिच्छेद (कारिका 96 से 114 तक)

इस परिच्छेद में सर्वप्रथम 4 कारिकाओं में बन्ध-मोक्ष के कारणों का स्याद्वाद-शैली से निर्णय किया गया है, उसके बाद 14 कारिकाओं में कतिपय विशेष अज्ञानों का निराकरण करके समीचीन तत्त्वज्ञान की स्थापना की गई है और अन्तिम 1 कारिका में उपसंहार है।

बन्ध-मोक्ष के कारणों के सम्बन्ध में दार्शनिक जगत में दो प्रकार के एकान्त इसप्रकार प्रचलित हैं— एक कहता है— अज्ञान से बन्ध होता है (सांख्य) और दूसरा कहता है— अल्पज्ञान से मोक्ष होता है (बौद्ध)। यहाँ इन्हीं दोनों प्रकार के एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है।

प्रथम एकान्त में दोष— यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि अज्ञान से बन्ध होता है तो ज्ञेय तो अनन्त हैं, उनका अज्ञान केवलज्ञान से पूर्व तक सबके रहता ही है। यदि उस अज्ञान से बन्ध होगा तो कभी भी कोई केवली नहीं हो सकेगा।

द्वितीय एकान्त में दोष— यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि ज्ञान से मोक्ष होता है तो अल्पज्ञान से ही मोक्ष हो जाना चाहिए। अथवा दूसरी आपत्ति यह है कि फिर अज्ञान से बन्ध भी मानना पड़ेगा और यदि अज्ञान से बन्ध माना जाएगा

तो पुनः वही दोष उपस्थित होगा जो प्रथम एकान्त में हुआ था अर्थात् बहुत अज्ञान से बहुत बन्ध भी मानना पड़ेगा।

ज्ञान और अज्ञान जिस दशा में एक साथ रहते हैं वहाँ क्या होगा— बन्ध या मोक्ष? ज्ञान से मोक्ष मानोगे तो वह तो अल्प है, अज्ञान ही बहुत है, अतः बहुत अज्ञान से बहुत बन्ध भी मानना पड़ेगा। और फिर कभी कोई मुक्त नहीं हो सकेगा।

उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त में दोष— उक्त दोनों एकान्तों के जोड़रूप उभयैकान्त को और तत्सम्बन्धी अवाच्यैकान्त को भी पूर्वप्रतिपादित विधि से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद की स्थापना— स्याद्वाद की समीचीन व्यवस्था यह है कि मोह-सहित अज्ञान से बन्ध होता है और मोह-रहित अज्ञान से बन्ध नहीं होता है। इसीप्रकार मोह-रहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, किन्तु मोह-सहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता है।

इसप्रकार विविध एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई।

अब कुछ कारिकाओं में विशेष अज्ञानों (मिथ्या मान्यताओं) का निराकरण करते हुए सम्यक् तत्त्वज्ञान की स्थापना करते हैं। यथा—

कारिका	विषयवस्तु
99	इच्छादि नाना कार्यो की उत्पत्ति अपने-अपने कर्मानुसार होती है, उन्हें ईश्वर नहीं करता।
100	जीवों में स्वाभाविक ही भव्याभव्यत्व शक्ति पाई जाती है।
101	युगपत् सर्वभासी ज्ञान प्रमाण है और क्रमभावी सम्यग्ज्ञान नय है।
102	केवलज्ञान का फल उपेक्षा है और अन्य ज्ञानों का फल ग्रहण-त्याग। सामान्यतः तो अज्ञाननाश ही सर्वज्ञानों का फल है।
103	‘स्याद्वाद’ में ‘स्यात्’ पद एक धर्म का वाचक है, अनेकान्त का द्योतक है।
104	स्याद्वाद एकान्त का निषेधक और सप्तभंग-नय-सापेक्ष होता है।
105	स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवलज्ञान—दोनों ही सर्वतत्त्वप्रकाशक हैं, दोनों में मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही अन्तर है।
106	हेतु और नय का स्वरूप।
107	द्रव्य का स्वरूप। तीनों कालों को विषय करने वाले समस्त नयों और उपनयों के विषयभूत अनन्त धर्मों से जिसका तादात्म्य सम्बन्ध है, उसे द्रव्य कहते हैं।
108	निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक्।
109	विधिवाक्य भी विधि एवं निषेध—दोनों अर्थों का कथन करता है और

- निषेधवाक्य भी।
- 110 विधिवाक्य ही वस्तुज्ञान कराता है— ऐसा मानना मिथ्या है, एकान्त है।
- 111 निषेधवाक्य ही वस्तुज्ञान कराता है— ऐसा मानना मिथ्या है, एकान्त है।
- 112 अन्यापोह-निराकरण।
- 113 विधि-निषेध अविनाभावी होने से स्याद्वाद की सिद्धि होती है।
- 114 आत्मकल्याणाभिलाषी जीवों को सम्यक्-मिथ्या उपदेश में भेदज्ञान कराने के लिए यह आप्तमीमांसा लिखी है।

7. विविध एकान्तों का संक्षिप्त परिचय

‘आप्तमीमांसा’ में विविध एकान्तों का निराकरण करते हुए अनेकान्तवाद/स्याद्वाद की स्थापना की गई है, अतः उन एकान्तवादों को भी भलीभाँति समझना आवश्यक है। यद्यपि ऊपर आप्तमीमांसा की विषयवस्तु को पढ़ने-समझने के बाद इन एकान्तों को पृथक् से समझाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, तथापि विस्तार-रुचि शिष्यों के लाभार्थ कुछ लिखा जाता है।

उल्लेखनीय है कि यहाँ विभिन्न एकान्तवादों का सम्बन्ध पृथक्-पृथक् दर्शनों के साथ बताया गया है, वह स्थूल-अपेक्षा से ही समझना चाहिए। अन्यथा वैसे तो एकान्त असंख्य-अनन्त प्रकार के हो सकते हैं।

इसप्रकार एकान्तवादों की संख्या यद्यपि अनन्त है, तथापि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विधि-निषेध से आठ एकान्त विशेष रूप से बनते हैं। ऐसा लगता है कि आप्तमीमांसा के प्रारम्भिक चार परिच्छेदों में उन्हीं 8 एकान्तों का निराकरण किया गया है, अतः यहाँ उन्हीं आठ एकान्तों का संक्षिप्त परिचय लिखा जा रहा है—

- i. द्रव्य-अपेक्षा — भावैकान्त, अभावैकान्त।
- ii. क्षेत्र-अपेक्षा — द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त।
- iii. काल-अपेक्षा — नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त।
- iv. भाव-अपेक्षा — भेदैकान्त, अभेदैकान्त।

1. **भावैकान्त**— इसका दूसरा नाम सदेकान्त भी है। इसका मानना है कि इस जगत् में सदा सर्वत्र भाव/सत् ही है, अभाव/असत् कहीं कुछ भी नहीं है, अतः अभाव को कथमपि (किसी भी अपेक्षा से) स्वीकार नहीं करना चाहिए। भावैकान्तवादी दर्शन मुख्यतः सांख्य है।

2. **अभावैकान्त**— इसका दूसरा नाम असदेकान्त भी है। यह भावैकान्त/सदेकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि इस जगत् में सदा सर्वत्र अभाव/असत् ही है, भाव/सत् तो कुछ भी नहीं है, अतः भाव को कथमपि (किसी

भी अपेक्षा से) स्वीकार नहीं करना चाहिए। अभावैकान्तवादी दर्शन मुख्यतः वेदान्त है। क्योंकि वह ब्रह्मतिरिक्त सबका सर्वथा अभाव मानता है।

3. **भेदैकान्त**— इसका दूसरा नाम अन्यत्वैकान्त या पृथक्त्वैकान्त भी है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् ही है, चाहे वे वस्तु के अपने गुण-पर्याय ही हों; उन्हें किसी भी अपेक्षा से एक, अभिन्न या अपृथक् नहीं माना जा सकता। भेदैकान्तवादी मुख्यतः वैशेषिक दर्शन है।

4. **अभेदैकान्त**— इसका दूसरा नाम अनन्यत्वैकान्त या अपृथक्त्वैकान्त भी है। यह भेदैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा अभिन्न या अपृथक् रूप ही है, उन्हें किसी भी अपेक्षा से भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् नहीं कहा जा सकता। अभेदैकान्तवादी मुख्यतः सांख्य एवं वेदान्त दर्शन प्रतीत होते हैं।

5. **नित्यैकान्त**— इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा नित्य, कूटस्थ, शाश्वत या अनाद्यनिधन ही है; कुछ भी किसी भी अपेक्षा से अनित्य या परिणमनशील भी नहीं है। नित्यैकान्तवादी मुख्यतः सांख्य दर्शन है।

6. **अनित्यैकान्त**— इसका दूसरा नाम क्षणिकैकान्त भी है। यह नित्यैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा अनित्य या क्षणिक ही है, कुछ भी किसी भी अपेक्षा से नित्य नहीं कहा जा सकता। अनित्यैकान्तवादी मुख्यतः बौद्ध दर्शन है।

7. **अद्वैतैकान्त**— इसका मानना है कि जगत् में सर्वथा एक ही तत्त्व है; उसे किसी भी प्रकार से दो रूप नहीं कहा/माना जा सकता। अद्वैतैकान्तवादी मुख्यतः वेदान्त दर्शन है।

8. **द्वैतैकान्त**— यह अद्वैतैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि तत्त्व को किसी भी अपेक्षा से अद्वैत रूप नहीं कहा जा सकता, वह तो सर्वथा द्वैत रूप ही है। द्वैतैकान्तवादी मुख्यतः वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। वह किसी भी एकान्त को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि एकान्त में अनेकानेक दोष उपस्थित होते हैं, जैसा कि ऊपर विषयवस्तु लिखते समय बताया जा चुका है।

8. आप्तमीमांसा-विषयक अनुश्रुतियाँ

आप्तमीमांसा के विषय में अनेक अनुश्रुतियाँ या किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। यद्यपि उनके सत्य होने में भी सन्देह नहीं प्रतीत होता, तथापि उन्हें सप्रमाण इदमित्थं के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, अतः उन्हें यहाँ लिखते हैं।

ये अनुश्रुतियाँ, हो सकता है अनेकानेक हों, पर यहाँ मैं दो ही अनुश्रुतियों

का विशेष उल्लेख करना चाहता हूँ। यथा—

1. आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत टीका के रूप में एक ‘गन्धहस्तिमहाभाष्य’ नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जो आज हमें उपलब्ध नहीं होता। परन्तु कहा जाता है कि यह जो 114 श्लोक-प्रमाण ‘आप्तमीमांसा’ हमें उपलब्ध है, वह उसी ‘गन्धहस्तिमहाभाष्य’ का मंगलाचरण है।
आश्चर्य होता है कि जिस ग्रन्थ का मंगलाचरण ही इतना सारगर्भित हो कि उस पर अकलंक एवं विद्यानन्दि जैसे महान् आचार्यों ने अष्टशती एवं अष्टसहस्री जैसी व्याख्याएँ लिखीं तो वह पूरा ग्रन्थ (गन्धहस्तिमहाभाष्य) कैसा होगा?
काश, वह गन्धहस्तिमहाभाष्य हमें कहीं-न-कहीं मिल जाए।
2. सातवीं शताब्दी की बात है। एक बार एक श्रावक चैत्यालय में जिनदर्शन करते समय स्तुति के रूप में देवागमस्तोत्र अर्थात् आप्तमीमांसा का सस्वर पाठ कर रहा था। बाहर से आचार्य विद्यानन्द स्वामी, जो तब ब्राह्मण विद्वान् ही थे, गुजर रहे थे। वे उस स्तोत्र को मन लगाकर सुनने लग गये और पूरा सुनने के बाद बहुत अधिक प्रभावित हुये। उन्होंने यद्यपि उस श्रावक से भी उसका अर्थ पूछा था, जो वह नहीं बता सका था, किन्तु बाद में वे उसे कथमपि जानकर इतने अधिक प्रभावित हुए कि जैन मुनि के रूप में दीक्षित हो गये। उनके साथ उनके सैकड़ों शिष्य भी जैन मुनि बन गये।

9. उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि ‘आप्तमीमांसा’ आचार्य समन्तभद्र स्वामी की एक ऐसी अत्यन्त प्रयोजनभूत कृति है, जो आप्त का सम्यक् स्वरूप समझाकर हमारा बड़ा उपकार करती है। यह कृति विविध एकान्तों को मिथ्या सिद्ध करके स्याद्वाद की स्थापना करने में भी अपना अप्रतिम योगदान प्रदर्शित करती है। इससे एकान्तरूप संकीर्ण (मिथ्या) दृष्टि का त्याग कर स्याद्वादरूप उदार (सम्यक्) दृष्टि से सम्पन्न बनने की उत्तम शिक्षा प्राप्त होती है।

सन्दर्भ-

1. “स्वामी समन्तभद्र ने भी षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डों की अति सुन्दर संस्कृत भाषा में 48000 श्लोक-प्रमाण टीका की रचना की।” —जयधवला, प्रस्तावना, पृष्ठ 9
2. इसकी जानकारी मुझे निवाईवाले पं. राजकुमारजी जैन आयुर्वेदाचार्य ने दी है। उनका कहना है कि यह ग्रन्थ अभी भी बेंगलोर में पंडित शशिकांत शास्त्री के पास सुरक्षित है और वे उसे प्राप्त कर प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।
3. रचयिता— आचार्य विद्यानन्द स्वामी, सम्पादक— डॉ. दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक— वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली।
4. “पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।” —हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38 ❖❖

अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी : एक संक्षिप्त विवेचन

अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी —इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में लोगों को बड़ा भ्रम रहता है, अतः यहाँ उसे संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

अनेकान्त का अर्थ है— अनेक (अनन्त) धर्मों/गुणों वाली वस्तु। जैनदर्शन के अनुसार सभी वस्तुएँ अनन्त धर्मों/गुणों वाली हैं, अनन्तधर्मात्मक हैं, अतः अनेकान्तस्वरूप हैं। जैनदर्शन को इसीलिए अनेकान्तवादी कहते हैं, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानता है। अनन्तधर्मात्मक का अर्थ भी मात्र इतना ही नहीं है कि उसमें अनन्त धर्म रहते हैं, बल्कि यह है कि उसमें ऐसे अनन्त धर्मयुगल रहते हैं जो परस्पर विरुद्ध भी प्रतीत होते हैं। यही अनेकान्त है।

स्याद्वाद का अर्थ है, अनेकान्तात्मक वस्तु को कहने की एक विशेष पद्धति, जिसमें हर एक वाक्य को ‘स्यात्’ लगाकर बोला जाता है, स्याद्वाद कहलाती है। ‘स्यात्’ पद लगाने से कथन में दोष नहीं रहता और समग्र वस्तु-स्वरूप का समीचीन प्रतिपादन हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है और स्याद्वाद उसे कहने की पद्धति/शैली है। दूसरे शब्दों में— अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है, अनेकान्त द्योत्य है और स्याद्वाद द्योतक है।

प्रश्न— अब प्रश्न है कि सप्तभंगी क्या है?

उत्तर— अनेकान्त कहता है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहते हैं। स्याद्वाद कहता है कि उन्हें सदा ‘स्यात्’ लगाकर ही कहो, ताकि उस समय उसके अन्य प्रतिपक्षी धर्म भी गौण रूप से प्रतिपादित हो सकें, उनका अभाव न हो जाये। किन्तु सप्तभंग सिद्धान्त और आगे बढ़कर कहता है कि वे प्रत्येक धर्म-युगल भी वास्तव में सात-सात भंग वाले हैं। यद्यपि ‘धर्मयुगल’ कहकर हम उनके मूल भंग

दो ही कहते हैं, पर यदि बारीकी में जाएँगे तो उनके सबके ही सात-सात भंग बनेंगे। इसे ही सप्तभंगी कहते हैं। उदाहरणार्थ— वस्तु में अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि अनन्त धर्मयुगल हैं। इनमें स्याद्वाद तो मात्र इतना कहकर चुप हो जाएगा कि वह स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति है, किन्तु सप्तभंगवाद अभी आगे की जिज्ञासा का भी समाधान करेगा, जो सात प्रकार से होती है। यथा—

- प्रथम भंग — स्यात् अस्ति — वस्तु स्वचतुष्टय से है।
 द्वितीय भंग— स्यात् नास्ति — वही वस्तु परचतुष्टय से नहीं है।
 तृतीय भंग — स्यात् अस्ति-नास्ति — युगपद् दोनों हैं।
 चतुर्थ भंग — स्यात् अवक्तव्य — युगपद् कह नहीं सकते।
 पंचम भंग — स्यात् अस्ति-अवक्तव्य — स्वचतुष्टय से अस्ति है, युगपद् कह नहीं सकते।
 षष्ठ भंग — स्यात् नास्ति-अवक्तव्य — परचतुष्टय से नास्ति है, युगपद् कह नहीं सकते।
 सप्तम भंग — स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य — क्रमशः कह सकते हैं, युगपद् नहीं कह सकते।

जिसप्रकार यहाँ अस्तित्व-नास्तित्व— इस धर्मयुगल पर सप्तभंगी घटित करके बताई है, उसीप्रकार सभी धर्मयुगलों पर घटित कर लेना चाहिए। यही सप्तभंगी सिद्धान्त है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि सप्तभंगी वस्तुतः कोई अलग सिद्धान्त नहीं है, अपितु स्याद्वाद का ही पूर्ण विस्तार है। स्याद्वाद एक धर्म को उसके एक अपर धर्म के साथ अविरोध भाव से समझाता है, किन्तु सप्तभंगवाद उसे और अधिक खोलकर उसके जो सात आयाम (भंग) बन सकते हैं, उन सबको उनकी अपेक्षा (विवक्षा) समझाते हुए अविरोधभाव से समझाता है।

ध्यान रहे, सप्तभंग सिद्धान्त एक धर्म के सात भंग नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि एक धर्मयुगल के सात भंग प्रस्तुत करता है। स्याद्वाद और सप्तभंग में अन्तर यह है कि स्याद्वाद तो उसके एक अपर पक्ष को दिखाने से ही बन जाता है, परन्तु सप्तभंगवाद उसमें सात भंग मुख्य-गौण विवक्षा से सिद्ध करता है।

प्रश्न— तो फिर प्रत्येक वस्तु में अनन्त सप्तभंगी कैसे कही गई हैं?

उत्तर— प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्मयुगल रहते हैं और सभी की विधि-निषेध रूप मूल दो भंगों से अनन्त सप्तभंगियाँ बन सकती हैं, अतः अनन्त सप्तभंगी

कही गई हैं। यही कारण है कि सप्तभंगी को अनेक विद्वानों ने विधि-निषेध-कल्पनामूलक पद्धति कहा है। आचार्यों ने भी सप्तभंगी की यही परिभाषा दी है—

“एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेध-विकल्पना सप्तभंगी विज्ञेया।”

—(अकलंक, राजवार्तिक 1/6/5)

प्रश्न— सप्तभंगी दो प्रकार की कही जाती है— प्रमाण-सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी। उनमें क्या अन्तर है?

उत्तर— प्रमाण-सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी में लगभग वही अंतर है जो प्रमाण और नय में होता है। प्रमाण पूर्ण वस्तु का ग्राहक होता है और नय उसके एक देश का। उसी प्रकार, जिस सप्तभंगी से पूरी वस्तु का प्रतिपादन किया जाय उसे प्रमाण-सप्तभंगी कहते हैं और जिस सप्तभंगी से वस्तु के एक देश का प्रतिपादन किया जाय उसे नय-सप्तभंगी कहते हैं।

उदाहरणार्थ— ‘स्यात् जीवः’— यह प्रमाण-सप्तभंगी का प्रथम भंग कहलायेगा, क्योंकि यह पूरी वस्तु का प्रतिपादन कर रहा है, किन्तु ‘स्यात् अस्ति’— यह नय-सप्तभंगी का प्रथम भंग कहलायेगा, क्योंकि यह वस्तु के एक देश का प्रतिपादन कर रहा है।

प्रश्न— ‘स्यात् सत्’— यह प्रमाण-सप्तभंगी का प्रथम भंग है या नय-सप्तभंगी का?

उत्तर— बहुत अच्छा प्रश्न किया। इसमें लोगों को बड़ा भ्रम होता है। ‘सत्’ शब्द गुणवाचक भी है और द्रव्यवाचक भी। जब द्रव्यवाचक हो तो उसे प्रमाण-सप्तभंगी समझना चाहिए और जब गुणवाचक हो तो उसे नय-सप्तभंगी समझना चाहिए।

इस प्रकार अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंग सिद्धान्त का अन्तर संक्षेप में स्पष्ट किया गया। विशेष जिज्ञासुओं को अन्य बड़े ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।



नय ज्ञान की आवश्यकता

णत्थि णएहि विहूणं, सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदमिह।

तो णयवादे णिउणा, मुणिणो सिद्धंतिया होत्ति॥

—(आचार्य वीरसेन, धवला, 1/1/1/68)

अर्थ— नयों के बिना सूत्र या अर्थ कुछ भी जिनमत में नहीं कहा है, अतः जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं वे ही सिद्धान्तज्ञ होते हैं।

स्याद्वाद : निष्पक्ष विद्वानों की दृष्टि में

जैनदर्शन के ‘स्याद्वाद’ सिद्धान्त की कोई कितनी भी आलोचना करे परन्तु निष्पक्ष चिन्तकों ने तो इसे समीचीन सिद्ध करते हुए इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा ही की है। स्याद्वाद सिद्धान्त है ही ऐसा जो प्रथम दृष्टि में बड़ा अटपटा-सा (असंभव-सा) प्रतीत होता है, किन्तु थोड़ी गहराई में जाते ही वह सम्पूर्ण व्यवहार एवं परमार्थ का ठोस आधार है— यह भी समझ में आ जाता है। यही कारण है कि जिन्होंने इसे हल्के से लिया, वे इसका मर्म नहीं समझ सके और इसकी आलोचना से स्वयं को ही दूषित कर बैठे, किन्तु जिन्होंने इस पर थोड़ा भी गंभीरतापूर्वक चिन्तन करने का प्रयत्न किया, वे इसकी समीचीनता पर ऐसे मुग्ध हो गये, मानो उन्हें अमृत मिल गया हो।

दरअसल अनेकान्तवाद/स्याद्वाद वस्तु का स्वरूप है और इसे स्वीकार किए बिना और कोई चारा ही नहीं है। संसार के सभी दर्शन, दार्शनिक एवं दर्शनग्रन्थ (शास्त्र) येन-केन-प्रकारेण स्याद्वाद को स्वीकार भी करते ही हैं; परन्तु जिन्हें ‘जैन’ या ‘स्याद्वाद’ शब्द से ही चिढ़ है अथवा जो किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं और इस विषय पर थोड़ी भी निष्पक्षता एवं गंभीरता से सोचना ही नहीं चाहते, उनका क्या किया जा सकता है?

तथापि हम तो पवित्र भाव से यही प्रयत्न करते रहना चाहते हैं कि सभी लोग निष्पक्षतापूर्वक इस स्याद्वाद सिद्धान्त को समझने का प्रयत्न करें और इससे लाभान्वित हों। जो सच्चे दार्शनिक/चिन्तक होंगे अथवा जिनकी भली होनहार होगी वे तो समझेंगे ही। यहाँ हम इसी पवित्र भावना से दुनिया भर के कुछ निष्पक्ष चिन्तकों के विचार, जो उन्होंने स्याद्वाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रकट किये हैं, प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि इन्हें पढ़कर हमारे कुछ मित्र अपना पूर्वाग्रह छोड़कर ‘स्याद्वाद’ को ठीक से समझने का प्रयत्न कर सकें तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

डॉ. सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं **डॉ. धीरेन्द्र मोहन** दत्त संयुक्त रूप से लिखते हैं— “स्याद्वादी होने के कारण जैनमत के सम्बन्ध में एक भ्रम उत्पन्न हो गया है। इसे कुछ लोग संशयवाद (Scepticism) या अज्ञेयवाद (Agnosticism) मानते

हैं। इसकी तुलना ग्रीक दार्शनिक पीरो (Pyrrho) के संशयवाद से की जाती है, क्योंकि पीरो के अनुसार भी वाक्यों के पहले 'शायद' (Maybe) का प्रयोग आवश्यक समझा जाता था, किन्तु यथार्थ में जैन संशयवादी नहीं है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से किसी वाक्य से उसकी असत्यता या संदिग्धता का बोध नहीं कराया जाता है, बल्कि उसकी सापेक्षता का संकेत किया जाता है। परिस्थिति तथा विचार-प्रसंग के अनुसार परामर्श अवश्य ही सत्य होता है— इसे जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। अतः स्याद्वाद को संशयवाद समझना ठीक नहीं है।¹

डॉ. चन्द्रधर शर्मा, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय लिखते हैं— अन्य भारतीय दार्शनिकों ने 'स्यात्' पद का साधारण अर्थ 'शायद' या सम्भवतः मानकर स्याद्वाद की संशयवाद के रूप में कटु आलोचना की है। बौद्धों और वेदान्तियों ने स्याद्वाद को संशयवाद या संभावनाववाद कहकर इसे 'पागलों का प्रलाप' बताया है।²..... किन्तु स्याद्वाद की यह आलोचना सही नहीं है, क्योंकि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, अपितु सापेक्षवाद है। पुनः स्याद्वाद यह नहीं कहता कि वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म एक ही दृष्टि से, एक ही अर्थ में रहते हैं।..... द्रव्य दृष्टि से वस्तु में एकता, नित्यता आदि का और पर्याय दृष्टि से अनेकता, अनित्यता आदि का सापेक्षतया विधान किया जाता है। स्वद्रव्य-रूप-देश-काल की दृष्टि से वस्तु की सत्ता का और परद्रव्य-रूप-देश-काल की दृष्टि से वस्तु की असत्ता का सापेक्षतया विधान किया जाता है, अतः स्याद्वाद में विरोध नहीं है।³

भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड विद्वान् **वाचस्पति गैरोला** लिखते हैं— जैनों के 'अनेकान्त' को कुछ आस्तिक दर्शनों में छल की संज्ञा दी गयी है; किन्तु यह ठीक नहीं है। छल के सिद्धान्त में एक ही शब्द के दो अर्थ माने जाते हैं, जो अनेकान्तवाद की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। एक पदार्थ को एक दृष्टि से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार करना और उसी को दूसरी दृष्टि (अपेक्षा) से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार न करना—एक शब्द के दो अर्थ नहीं हैं, जैसा कि छल में होता है। वह तो व्यापक सिद्धान्तों एवं विचारों पर आधारित है। अतः अनेकान्तवाद को छल नहीं कहा जा सकता है। अनेकान्तवाद, संशय का हेतु भी नहीं है, क्योंकि सप्तभंगी नय में समझाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ में स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप के विशेषों की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद में संशय की कोई गुंजाइश नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि हम चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय और मीमांसा आदि दर्शनों के तात्त्विक विवेचन तथा सैद्धान्तिक स्वरूप को देखते हैं तो हमें विश्वास होता है कि जैनों का अनेकान्तवाद कुछ ऐसा गढ़ा हुआ सिद्धान्त नहीं है, जिसमें

जैन दर्शन की वैयक्तिक दृष्टि का आभास मिलता हो। वह तो लोकदृष्टि से जितना उपयोगी है, विचार की दृष्टि से भी उतना ही उपयोगी है।⁴

राष्ट्रपिता **महात्मा गाँधी** लिखते हैं— मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूँ, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमें गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को ही सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था, किन्तु अब मैं मानता हूँ कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं, कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोलकर उसका जो वर्णन किया था, वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया है कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा—इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।⁵

श्री मंगलदेव शास्त्री (प्राचार्य संस्कृत कालेज, वाराणसी) लिखते हैं कि— पाणिनि सूत्र ‘अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः’ (पा. 4/4/30) के अनुसार जैनदर्शन आस्तिक दर्शन में ही परिगणित होता है। जैनदर्शन का अनेकान्त तो उसका आधार स्तम्भ है ही, परन्तु परमार्थतः प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए क्योंकि स्वभावतः प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता होनी ही चाहिए। नैतिक उत्कर्ष के साथ व्यावहारिक शुद्धि के लिए भी अनेकान्त दर्शन जैन दर्शन की महान् देन है।⁶

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के दर्शनशास्त्र-विभागाध्यक्ष **प्रो. फणिभूषण अधिकारी** लिखते हैं— जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए अवश्य क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने की परवाह नहीं की।⁷

महामहोपाध्याय **पं. स्वामी राममिश्र शास्त्री**, प्रोफेसर, संस्कृत कॉलेज, वाराणसी कहते हैं— मैं कहाँ तक कहूँ, बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे देख-सुन हँसी आती है। स्याद्वाद यह जैनधर्म का एक अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते। जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय

तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्वसत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।⁸

विख्यात समालोचक **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी**, भूतपूर्व सम्पादक 'सरस्वती' कहते हैं— प्राचीन दर्जे के हिन्दू-धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को, जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की और भारतवर्ष के इतर जैनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि वे विदेशी विद्वान् जैनधर्म-ग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों की महत्ता प्रकट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही डूबते रहते।⁹

डॉ. सम्पूर्णानन्द कहते हैं— अनेकान्तवाद या सप्तभंगीन्याय जैनदर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ के जो सात अन्त या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे गये हैं, उनको ठीक रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान् सात में भी कुछ को गौण मानते हैं। साधारण मनुष्य को वह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही वस्तु के लिए एक ही समय में 'है' और 'नहीं' दोनों बातें कैसे कही जा सकती हैं, परन्तु कठिनाई के होते हुए भी वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है।¹⁰

डॉ. एस.वी. नियोगी, भूतपूर्व चीफ जस्टिस तथा उपकुलपति, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर कहते हैं— जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक (Revelation) के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया, जिसके कारण मानव-इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है।.....स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है; कारण, वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है। सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होंगे।¹¹

डॉ. गंगाप्रसाद झा, प्रयाग विश्वविद्यालय कहते हैं— जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो कुछ अब तक जैनधर्म को जान सका हूँ, उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।¹²

प्रो. आनन्दशंकर बाबूभाई ध्रुव कहते हैं— महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व को किस रीति से अवलोकन करना चाहिए? यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना अनुचित है।¹³

रामधारीसिंह 'दिनकर' कहते हैं— इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।¹⁴

श्रीमद् रायचन्द्र कहते हैं— सब धर्मों में एक परमतत्त्व का ही गुणगान है, और सब दर्शनों ने भिन्न-भिन्न शैली से उस परमतत्त्व का विवेचन किया है, परन्तु स्याद्वाद शैली संपूर्ण एवं यथार्थ है।¹⁵

जर्मन के महान् वैज्ञानिक **अल्बर्ट आइन्स्टीन** कहते हैं कि— हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं। वस्तु के समग्र सत्यांशों को विश्वद्रष्टा ही जान सकता है। कारण कि वस्तु में अनेक गुण रहते हैं और वे स्याद्वाद से ही अल्पज्ञानी द्वारा जाने जा सकते हैं।¹⁶

अमेरिकी वैज्ञानिक **प्रो. डॉ. आर्चीब्रह्म** लिखते हैं कि— अनेकान्त जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसको पश्चिमी वैज्ञानिकों तथा हिन्दू तर्कशास्त्रियों द्वारा सामान्यरूप से ही नहीं स्वीकृत किया गया है किन्तु उसको भौतिक एकता या समझौते द्वारा विश्वशान्ति के लिए भी प्रमुख सिद्धान्त माना गया है।¹⁷

जर्मनी के विद्वान् **हर्मन जैकोबी** ने लिखा है कि— जैनदर्शन के सिद्धान्त प्राचीन तत्त्वज्ञान तथा धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके स्याद्वाद नामक सिद्धान्त से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।¹⁸

डॉ. थामस प्रधान ग्रंथपाल, इंडिया ऑफिस, लन्दन लिखते हैं कि— न्यायशास्त्रों में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। उसमें स्याद्वाद वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।¹⁹

ग्रीक दर्शन में **एलिअटिक्स** और **हेरेक्लिट्स** नामक विचारकों के बाद ईसा से 495 वर्ष पूर्व **एम्पीडोक्लीज**, **एटोमिस्ट्स** **अनैक्सागोरस** नामक दार्शनिकों का युग था। इन तत्त्वचिन्तकों ने एलिअटिक्स के एकान्त नित्यवाद और हेरेक्लिट्स के एकान्त क्षणिकवाद का समन्वय करके दोनों सिद्धान्तों को नित्यानित्य रूप में ही स्वीकार किया। इनके मतानुसार सर्वथा नित्यवाद तथा सर्वथा क्षणिकवाद

असम्भव है।²⁰

अब हम ग्रीस के प्रतिभाशाली कवि तथा दार्शनिक **प्लेटो** के विचारों की ओर जाते हैं। सोफिस्ट नामक संवाद में एलिमा का मुसाफिर कहता है— जब हम असत्य के विषय में कुछ कहते हैं तो इसका मतलब सत् से विरुद्ध (सर्वथा असत्) न होकर केवल सत् से भिन्न होता है।²¹

जर्मन विद्वान् **हीगेल** कहते हैं विरुद्ध धर्मात्मकता ही सब वस्तुओं का मूल है।

ब्रेडले कहते हैं कि कोई भी वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखी जाने पर किसी अपेक्षा से आवश्यक तथा किसी अपेक्षा से अनावश्यक दोनों रूप सिद्ध होती है।²²

प्रो. जे. अचिम ‘सत्य का स्वरूप’ नामक पुस्तक में लिखते हैं कि कोई भी विचार स्वतः ही दूसरे विचार से सर्वथा अनपेक्षित होकर, केवल अपनी अपेक्षा से सत्य नहीं कहा जा सकता।²³

प्रो. पेटी के अनुसार यह विश्व किसी अपेक्षा से नित्य है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें परिवर्तन नहीं होता। यह नित्यानित्यात्मकता का सिद्धान्त संसार की छोटी से छोटी वस्तु में भी लागू होता है।²⁴

यूनान के दार्शनिक **सुकरात**, **अफलातूँ** तथा **अरस्तू** ने भी अपने विचारों के प्रतिपादन में ज्ञात भाव अथवा अज्ञात भाव से अनेकान्त का कथन किया ही है। सुकरात को अपने ज्ञान की अपूर्णता का, अल्पज्ञता का पूरा परिज्ञान था। इस मर्यादा के भान को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहा करता था कि मैं ज्ञानी हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ। दूसरे लोग ज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे अज्ञ हैं। यह कथन अनेकान्त के अनुरूप है।²⁵

सुकरात के शिष्य **अफलातूँ** ने कहा था कि हम लोग सागर के किनारे खेलने वाले उन बच्चों के समान हैं जो अपनी सीपियों से सागर के अथाह जल को नापना चाहते हैं। यह सत्य है कि हम सीपियों से पानी भर-भर कर कभी उसे खाली नहीं कर सकते। फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियों से जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं, वह उस महासागर का ही एक अंश है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता।²⁶

मिल के अनुसार विधि (अस्ति) दर्शन में नागर (सिविल) शब्द का उच्चारण करने पर ही अपराधी, सैनिक, राजनीतिक तथा धर्मशास्त्रीय अर्थों का निषेध (नास्ति) हो जाता है। **थामस कैम्पबेल** सुस्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मनुष्य इसलिए है

(अस्ति) कि वह पत्थर, सिंह, गर्दभ आदि नहीं (नास्ति) है। यह कथन स्याद्वाद-अनेकान्त के निकट है तथा इसी कारण सर्वसंकर दोष का नाशक एवं अर्थक्रियाकारित्व का उत्पादक है।²⁷

दार्शनिक अरस्तू के मत में समस्त परिवर्तन (अनित्यता) के लिए एकरूपता (नित्यता-स्थिरता) को स्वीकार करना आवश्यक है। समस्त परिवर्तन के अन्दर कुछ स्थायी तत्त्व अवश्य रहना चाहिए जिसके अन्दर परिवर्तन हो सके। बिना स्थायी तत्त्व को स्वीकार किए परिवर्तन (अस्थायिता) हो सके— यह हमें प्रतीत नहीं होता।²⁸

काण्ट भी स्यात् नित्य स्यात् अनित्य स्वीकार करते हैं। ‘सेकण्ड एनोलोजी ऑफ़ एक्सपीरियेंस’ में वे कहते हैं कि बिना स्थिर सत्ता के, काल का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। ‘क’ के पीछे ‘ख’ आने का तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व कि ख प्रारम्भ हो, ‘क’ समाप्त हो चुका। उनके बीच का सम्बन्ध जिसे हम अनुक्रम के नाम से पुकारते हैं, न तो ‘क’ के लिए और न ‘ख’ के लिए ही रह सकता है; किन्तु एक ऐसी वस्तु के लिए अवश्य रह सकता है जो दोनों के लिए एक समान उपस्थित हो। यदि एक-दूसरे के पीछे आने वाली घटनाओं के अतिरिक्त इस संसार में और कुछ न हो — अर्थात् ‘ख’ के प्रारम्भ होने से पूर्व ‘क’ का विलोप हो जाना एवं इससे पूर्व कि ‘ग’ का प्रारम्भ हो, ‘ख’ का विलुप्त हो जाना आदि-आदि, तो इस प्रकार का कोई सिलसिला नहीं बैठ सकता। किसी भी सिलसिले का सम्भव होना उपलक्षित करता है कि एक सापेक्ष स्थिर तत्त्व अवश्य है।²⁹

इस प्रकार अनेक निष्पक्ष चिन्तकों ने स्याद्वाद-अनेकान्तवाद को स्वीकार किया है और उसकी भूरि-भूरि सराहना भी की है।

सन्दर्भ सूची

1. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 55 (पुस्तक भंडार, पटना, सितम्बर 1964)
2. प्रमाणवार्तिक 1/182-185; तत्त्वसंग्रह 311-327; शांकरभाष्य 2/2/33
3. भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन, पृष्ठ 36
4. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 114
5. तीर्थकर वर्द्धमान (आचार्य विद्यानन्द), पृष्ठ 84
6. जैनदर्शन, प्राक्कथन, पृष्ठ 14 से 17 (गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी)
- 7-13. तीर्थकर वर्द्धमान महावीर (पद्मचन्द्र शास्त्री), पृष्ठ 111 से 113
14. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 137
15. श्रीमद् राजचंद्र, भाग 1, पृष्ठ 245
16. स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री), पृष्ठ 249
17. आचार्य शिवसागर स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ 546-47
- 18-29. स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री), पृष्ठ 249 से 251



सभी शास्त्रों में मिलता है स्याद्वाद

जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धांत का सबसे अधिक दुर्गम पक्ष है— एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों के अस्तित्व की स्वीकृति। इसी पर लोगों को सर्वाधिक आपत्ति होती है। यही पक्ष लोगों के गले नहीं उतरता। परन्तु जरा ध्यान से देखा जाए तो यह बात बिलकुल कठिन नहीं है, असम्भव तो है ही नहीं, क्योंकि उनमें अपेक्षाभेद है। जैनाचार्यों ने एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों का अस्तित्व एक ही अपेक्षा से नहीं स्वीकार किया है, अपितु उनमें अपेक्षा-भेद बताया है, इसलिए इसमें कहीं कोई आपत्ति नहीं आती। दर्शनशास्त्र में ही नहीं, भारतीय विविध विद्याओं के सभी शास्त्रों में अपेक्षाभेद से परस्पर विरुद्ध धर्मों का एकत्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है, जिससे सारा जगत सुपरिचित भी है। यथा—

1. ज्योतिषशास्त्र में एक ही तिथि को (नक्षत्र, वार आदि को भी) एक अपेक्षा से शुभ भी कहा है और अन्य अपेक्षा से अशुभ भी।
2. गणितशास्त्र में एक ही संख्या/मान को एक अपेक्षा से कम भी कहा है और अन्य अपेक्षा से अधिक भी। एक ही रेखा को छोटी भी कहा है और बड़ी भी।
3. भूगोल में एक ही स्थान को एक अपेक्षा से दूर भी कहा है और अन्य अपेक्षा से पास भी, पूर्व में भी कहा है और पश्चिम में भी, उत्तर में भी कहा है और दक्षिण में भी।
4. भौतिकशास्त्र में एक ही वस्तु को एक अपेक्षा से ठोस कहा है और अन्य अपेक्षा से द्रव भी कहा है, एक अपेक्षा से आकर्षक भी कहा है और अन्य अपेक्षा से विकर्षक भी। इसीप्रकार सूक्ष्म भी कहा है और स्थूल भी।
5. पाकशास्त्र में एक ही वस्तु को एक अपेक्षा से भक्ष्य/हितकारी भी कहा है और अन्य अपेक्षा से अभक्ष्य/अहितकारी भी। एक ही खीर अपेक्षाभेद से मीठी भी है और फीकी भी।
6. साहित्य में एक ही कहानी को काल्पनिक और यथार्थ दोनों माना जाता है। पात्रों के नाम-ग्राम आदि काल्पनिक होते हैं, अतः उसे काल्पनिक कहा जाता है, परन्तु अन्य सारा चित्रण यथार्थ होता है, अतः उसे यथार्थ भी कहते हैं।

7. संगीतशास्त्र में एक ही स्वर को उच्च भी कहा है और निम्न भी।
8. आयुर्वेद में एक ही वस्तु को औषध भी कहा है और विष भी।
9. छंदशास्त्र में एक ही छंद के प्रयोग को गुण भी कहा है और दोष भी।
10. न्यायशास्त्र में एक ही साधन को हेतु भी कहा है और हेत्वाभास भी।
11. नीतिशास्त्र के अनुसार एक ही व्यक्ति शत्रु भी है और मित्र भी, योग्य भी है और अयोग्य भी।
12. राजनीतिशास्त्र के अनुसार विरोधी दल का सदस्य सरकार का विरोधी भी है और सहयोगी भी।
13. नाट्यशास्त्र के अनुसार राम का अभिनय करनेवाला व्यक्ति राम है भी और नहीं भी।
14. चित्रकला के अनुसार चित्रित मयूरादि मयूरादि हैं भी और नहीं भी।
15. व्याकरण के अनुसार एक ही वर्ण समान भी है और असमान भी।

इसीप्रकार अन्यत्र भी स्वयं समझ लेना चाहिए। सभी शास्त्र अपेक्षाभेद से विरोधी धर्मों का एकत्र अवस्थान मानते हैं। जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धांत भी इसी बात को गहराई से स्पष्ट करता है, अतः वहाँ कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है।

दरअसल, वस्तु की सार्थकता ही तब सिद्ध होती है, जब उसमें दोनों विरोधी धर्मों का एकत्र अवस्थान हो, अन्यथा नहीं। जैसेकि— नाटक का राम राम होना भी चाहिए और नहीं भी, तभी वह नाटक सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं। यदि वह सचमुच राम हो तब भी वह नाटक सिद्ध नहीं होगा और यदि वह कैसे भी राम नहीं हो तो भी वह नाटक सिद्ध नहीं होगा। नाटक को नाटक होने के लिए अभिनेता राम को राम है भी और नहीं भी— ऐसा दोनों मानना पड़ेगा। इसी प्रकार चित्र में प्रदर्शित मयूर मयूर है भी और नहीं भी, तभी चित्रकला की सार्थकता सिद्ध होगी। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।



जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।

एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥

—(आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार-टीका, गाथा 11)

अर्थ— यदि जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो। एक के बिना तीर्थ का नाश हो जाएगा और दूसरे के बिना तत्त्व का।

स्यात् पद का महत्त्व

जैन दर्शन स्याद्वादी है। उसका कहना है कि हमें हर वाक्य ‘स्यात्’ पद लगाकर ही बोलना चाहिए, तभी वह वाक्य सत्य होगा, अन्यथा असत्य हो जाएगा। (‘स्यात्पदेन वदनं स्याद्वादः।’)

‘स्यात्’ पद का अर्थ होता है— कथंचित्, किसी अपेक्षा से, एक अपेक्षा से। यदि हम इस ‘स्यात्’ पद का प्रयोग नहीं करेंगे तो उसका अर्थ हो जाएगा— सर्वथा, सभी अपेक्षाओं से। यही बड़ी गलती हो जाएगी; क्योंकि कोई भी वाक्य सभी अपेक्षाओं से सत्य नहीं होता, एक अपेक्षा से ही सत्य होता है।

अतः जैन दर्शन के अनुसार सत्य बोलने के अभिलाषी को सर्वत्र ‘स्यात्’ पद लगाना अनिवार्य है। जैन दर्शन कहता है कि ‘स्यात्’ पद एक ऐसी संजीवनी बूँटी के समान है, जो सभी वाक्यों में लगे हुए ‘सर्वथा’ पद के विष को नष्ट करता है और उसे अमृत के समान स्व-पर-हितकारी बनाता है। यदि इसे नहीं लगाया जाएगा तो वह वाक्य ‘सर्वथा’ के विष के कारण स्व-पर-प्रणाशक सिद्ध होगा। यथा—

मिथोनपेक्षा स्वपरप्रणाशिनः, परस्परपेक्षाः स्वपरोपकारिणः।

—आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक 61

अर्थ— यदि दोनों पक्ष अनपेक्षा —निरपेक्ष हैं तो स्वपरप्रणाशक हैं और यदि सापेक्ष हैं तो स्वपरोपकारी हैं।

तथा यह भी बहुत महत्वपूर्ण बात है—

सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते।

—आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक 101

अर्थ— ‘सर्वथा’ पद लगाने से बात प्रदूषित हो जाती है और ‘स्यात्’ पद लगाने से वही बात पुष्ट हो जाती है।

यहाँ कोई कहे कि मैं तो ‘सर्वथा’ पद लगाता ही नहीं हूँ, फिर वह वाक्य स्व-पर-प्रणाशक कैसे सिद्ध होगा?

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ‘सर्वथा’ पद लगाना नहीं पड़ता है, वह तो

सर्वत्र लगा ही होता है, भाषा का ऐसा ही स्वरूप है। ‘सर्व वाक्यं सावधारणम्’ —न्यायदीपिका, 3/83। इसीलिए ‘स्यात्’ पद लगाकर उसकी शुद्धि करना अनिवार्य है, उसका विष निर्मूलन करना अनिवार्य है।

जैनाचार्यों ने इस ‘स्यात्’ पद के सम्बन्ध में बहुत गहरा चिन्तन किया है और निष्कर्षस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण उद्गार व्यक्त किये हैं। बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक 65 में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि मेरी वाणी जंग खाए हुए लोहे के समान निर्मूल्य थी, किन्तु जब से इसमें ‘स्यात्’ पद लगाया है, यह पारस पत्थर के समान बहुमूल्य हो गई है। अथवा वे कहते हैं कि ‘स्यात्’ पद लगा देने से हर वाक्य सम्यक् बन जाता है, चाहे वह कुछ भी हो और ‘स्यात्’ पद हटा देने से हर वाक्य मिथ्या बन जाता है, चाहे वह कुछ भी हो। युक्त्यनुशासन, श्लोक 62 में भी आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि मैं तो अभद्र था, किन्तु ‘स्यात्’ पद लगाने से समन्तभद्र बन गया। उनका भाव है कि ‘स्यात्’ पद से रहित कथन करनेवाला व्यक्ति अभद्र है और ‘स्यात्’ पद लगाकर कथन करनेवाला व्यक्ति ‘समन्तभद्र’ है।

अब यहाँ जरा इस बात पर कुछ विचार करते हैं कि क्या ‘स्यात्’ पद लगा देने से सभी वाक्य समीचीन हो जाते हैं, चाहे वह कुछ भी हो, उसमें कुछ भी मिथ्या बात कही गई हो?

इस प्रश्न का उत्तर यद्यपि कुछ जैनाचार्यों ने ऐसा दिया है कि हमने तो स्याद्वाद की परिभाषा में ही ‘प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेधकल्पना’ कहा है, अतः कुछ भी प्रमाण-विरुद्ध बात समीचीन सिद्ध नहीं की जा सकती है। जो बात प्रमाण-अविरुद्ध है, केवल उसे ही समीचीन सिद्ध करना चाहिए। किन्तु समन्तभद्र आदि आचार्यों का कहना है कि हाँ, ‘स्यात्’ पद लगा देने से सब कुछ समीचीन सिद्ध हो जाता है, चाहे वह कुछ भी बात हो; क्योंकि शब्द, अर्थ, ज्ञान आदि की इतनी अधिक विवक्षाएँ उपलब्ध हैं कि कुछ भी घटित होना असम्भव नहीं है। तुम एक बार ‘स्यात्’ पद का प्रयोग करके अपना दुराग्रह तो छोड़ो।

शंका— क्या ‘स्यात्’ पद लगा देने से ये कथन भी समीचीन सिद्ध हो सकते हैं कि— अग्नि शीतल है, हिंसा में धर्म है, जीव अचेतन है, आत्मा पुद्गल है, ईश्वर जगत् का कर्ता-धर्ता है, गधे के सिर पर सींग हैं, मैं देश का प्रधानमंत्री हूँ, इत्यादि?

समाधान— हाँ, ‘स्यात्’ पद लगा देने से उक्त कथन भी समीचीन सिद्ध हो सकते हैं। यथा—

अग्नि शीतल है —यह कथन चित्र या स्वप्न की अपेक्षा समीचीन है। हिंसा में धर्म है —यह कथन मीमांसक मत की अपेक्षा समीचीन है। जीव अचेतन है

—यह कथन चेतन के अतिरिक्त अन्य गुणों की अपेक्षा समीचीन है, जैसाकि ‘स्वरूपसम्बोधन-पंचविंशति’ में कहा है— ‘जीवो चेतनाचेतनात्मकः’। आत्मा पुद्गल है —यह कथन कर्मपुद्गलों के संयोग की अपेक्षा समीचीन है। ईश्वर जगत् का कर्ता-धर्ता है —यह कथन न्यायदर्शन की अपेक्षा समीचीन है। गधे के सिर पर सींग हैं —यह कथन किसी चित्र की अपेक्षा समीचीन है। मैं देश का प्रधानमंत्री हूँ —यह कथन किसी के स्वप्न या नाटक की अपेक्षा समीचीन है।

इसी प्रकार से अन्य सभी कथनों पर आसानी से घटित किया जा सकता है। यहाँ केवल कुछ ही वाक्यों के उदाहरण दिए हैं।

शंका— आपने कहा कि ‘स्यात्’ पद हटाकर हर वाक्य को मिथ्या भी सिद्ध किया जा सकता है, चाहे वह कोई भी हो, तो क्या ये वाक्य भी मिथ्या सिद्ध हो सकते हैं— सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता मोक्षमार्ग है, आत्मा अमूर्तिक है, मुक्त जीव सुखी हैं, राम-सीता पति-पत्नी थे, इत्यादि?

समाधान— हाँ, ‘स्यात्’ पद हटाकर इन वाक्यों को भी मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है। यथा—

ज्ञानादेव मोक्षः —ऐसा माननेवाले सांख्य आदि की अपेक्षा ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता मोक्षमार्ग है’ —यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। संसारी पुद्गलकर्मसंयुक्त आत्मा की अपेक्षा ‘आत्मा अमूर्तिक है’ —यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। सांसारिक इन्द्रियसुख की अपेक्षा ‘मुक्त जीव सुखी हैं’ —यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। निश्चय नय से अथवा नाटक के पात्रों की अपेक्षा अथवा किसी विशेष रामायण-ग्रन्थ की अपेक्षा ‘राम-सीता पति-पत्नी थे’ —यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

इसी प्रकार से अन्य सभी कथनों पर आसानी से घटित किया जा सकता है। यहाँ केवल कुछ ही वाक्यों के उदाहरण दिए हैं। शास्त्रों में भी ऐसे बहुत सारे कथन मिलते हैं। जैसे कि प्रवचनसार में कहा है कि दुर्गति में भ्रमण करने के लिए धर्म निष्फल है— ‘धम्मो जदि णिप्फलो’ (गाथा 2/24)।

शंका— बात तो आपकी सही लग रही है, परन्तु ऐसा सब घटित करके जैनाचार्य आखिर कहना क्या चाहते हैं?

समाधान— अन्य क्या कहना चाहेंगे भाई! वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है और वे उसे ही सम्यक् रीति से, सर्वांग रूप से, भलीभाँति समझाना चाहते हैं। एक ही पक्ष को पूर्ण मानकर हम अनादि काल से अज्ञान का सेवन करते आ रहे हैं, उसी को ठीक कराना चाहते हैं। साथ ही, वे यह भी कहना चाहते हैं कि ‘स्यात्’ पद का प्रयोग करके एक बार अपना आग्रह तो समाप्त करो, आग्रह ही विष है, तत्त्वज्ञान की सबसे बड़ी बाधा है। ❖❖

स्याद्वाद : कतिपय प्रश्नोत्तर

प्रश्न— स्याद्वाद का मूल सन्देश क्या है— संक्षेप में बताइए?

उत्तर— स्याद्वाद कहना चाहता है कि हमें हर कथन को 'स्यात्' पद लगाकर ही बोलना चाहिए और समझना चाहिए।

प्रश्न— 'स्यात्' पद का क्या अर्थ होता है? इसे लगाने से क्या लाभ है?

उत्तर— 'स्यात्' पद का अर्थ होता है— कथंचित्, किसी अपेक्षा से, एक अपेक्षा से। इसे लगाने से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण-धर्म हैं, किन्तु हम अभी उनमें से केवल एक ही गुण-धर्म को कह रहे हैं, सबको नहीं। जो कहा जा रहा है, वह अभी मुख्य है, किन्तु उसी समय अन्य गुण-धर्म भी गौण रूप से विद्यमान हैं। 'स्यात्' पद अनुक्त गुण-धर्मों की स्वीकृति के लिए लगाया जाता है।

प्रश्न— यदि 'स्यात्' पद न लगाएँ तो क्या होगा?

उत्तर— अनुक्त गुण-धर्मों की स्वीकृति नहीं हो पाएगी, हमारे द्वारा कहा हुआ कथन 'सर्वथा' सिद्ध होगा, सभी अपेक्षाओं से कहा हुआ सिद्ध होगा और इसीलिए वह कथन गलत सिद्ध होगा।

प्रश्न— तो फिर 'सर्वथा' पद लगाने को मना कीजिए न? हर जगह 'स्यात्' पद लगाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर— 'सर्वथा' पद तो हमें कभी लगाना ही नहीं चाहिए, किन्तु भाषा का स्वरूप ऐसा ही है कि उसमें 'सर्वथा' पद न लगाने पर भी लगा ही रहता है, दिखाई नहीं देता हो तब भी लगा ही रहता है, क्योंकि कहा भी है— 'सर्व वाक्यं सावधारणम्' —न्यायदीपिका 3/83 अतः हमें सर्वत्र 'स्यात्' पद लगाकर ही बोलना चाहिए। तथा समझना भी 'स्यात्' पद लगाकर ही चाहिए।

प्रश्न— किन्तु जैनाचार्य तो स्वयं भी सर्वत्र 'स्यात्' पद लगाकर बोलते हुए नहीं दिखाई देते हैं?

उत्तर— बोलते हैं, बारम्बार बोलते हैं; किन्तु फिर भी वचन-व्यवहार का स्वरूप

ऐसा ही है कि वह अनेक बार लुप्त हो जाता है, अतएव जैनाचार्यों ने स्थान-स्थान पर यह स्पष्टीकरण दिया है कि हमारे हर कथन में 'स्यात्' पद लगा हुआ ही समझना, चाहे हमने उसे लगा पाया हो या नहीं। हमारा हर कथन स्यात्पदमुद्रित ही है —ऐसा पक्का समझ लेना।

प्रश्न— जैनाचार्य कहते हैं कि 'स्यात्' पद लगाने से हर बात समीचीन हो जाती है, चाहे वह कुछ भी हो, तो क्या ये कथन भी 'स्यात्' पद लगाने से समीचीन सिद्ध हो सकते हैं कि— अग्नि शीतल है, हिंसा में धर्म है, जीव अचेतन है, आत्मा पुद्गल है, ईश्वर जगत् का कर्ता-धर्ता है, गधे के सिर पर सींग हैं, मैं देश का प्रधानमंत्री हूँ, इत्यादि?

उत्तर— हाँ, 'स्यात्' पद लगा देने से उक्त कथन भी समीचीन सिद्ध हो सकते हैं। यथा—

अग्नि शीतल है —यह कथन चित्र या स्वप्न की अपेक्षा समीचीन है। हिंसा में धर्म है —यह कथन मीमांसक मत की अपेक्षा समीचीन है। जीव अचेतन है —यह कथन चेतन के अतिरिक्त अन्य गुणों की अपेक्षा समीचीन है, जैसाकि 'स्वरूपसम्बोधन-पंचविंशति' में भी कहा है— 'जीवो चेतनाचेतनात्मकः'। आत्मा पुद्गल है —यह कथन कर्मपुद्गलों के संयोग की अपेक्षा समीचीन है। ईश्वर जगत् का कर्ता-धर्ता है —यह कथन न्यायदर्शन की अपेक्षा समीचीन है। गधे के सिर पर सींग हैं —यह कथन किसी चित्र की अपेक्षा समीचीन है। मैं देश का प्रधानमंत्री हूँ —यह कथन किसी स्वप्न या नाटक की अपेक्षा समीचीन है।

प्रश्न— बात तो आपकी सही है, परन्तु ऐसा सब घटित करने से आखिर क्या लाभ है?

उत्तर— ऐसा घटित करने से हमें वस्तु का पूर्ण स्वरूप समझ में आता है और एक पक्ष का दुराग्रह दूर होता है। हम अनादि काल से एक ही पक्ष को पूर्ण स्वरूप मानकर अज्ञान का सेवन कर रहे हैं, वह सब ठीक होता है। तथा आग्रह या दुराग्रह, जो तत्त्वज्ञान की सबसे बड़ी बाधा है, विषतुल्य है, वह दूर होता है। प्रत्येक कथन अपनी समीचीन अपेक्षा से समझ में आता है। यही कारण है कि स्याद्वाद को अपेक्षावाद भी कहते हैं।

प्रश्न— स्याद्वाद को नयवाद भी तो कहते हैं?

उत्तर— हाँ, स्याद्वाद, नयवाद, सापेक्षवाद, अपेक्षावाद आदि सब इसी के नाम हैं। नयवाद तो बहुत ही अच्छा नाम है। इससे बात शीघ्र स्पष्ट होती है कि हर कथन का अपना विशेष नय होता है, हमें उस कथन को उसी नय से समझना चाहिए, तभी वह समीचीन है, अन्यथा नहीं। नय अनन्त होते हैं शब्द-अर्थ-ज्ञान

के भेद-प्रभेद की व्यापक दृष्टि से, सत्याभिलाषी को इनका भलीभाँति ज्ञान अवश्य करना चाहिए, ताकि हर कथन का सही नय (अपेक्षा) समझा जा सके। जैसे कि अग्नि शीतल है —यह कथन स्वप्न नय की अपेक्षा समीचीन है। माता त्रिशला के स्वप्न की अग्नि उष्ण नहीं थी, शीतल ही थी, यदि उष्ण होती तो माता जल जाती। इसी प्रकार माता त्रिशला का मुख चन्द्रमा है —यह कथन उपमा नय से समीचीन है। इसी प्रकार हिमालय और गंगा मेरे हाथ में हैं, यह कल्पवृक्ष माँगने पर भी कुछ नहीं देता है —ये कथन चित्रनय की अपेक्षा समीचीन है। इसी प्रकार सर्वत्र कथन की समीचीन अपेक्षा समझनी चाहिए —यही स्याद्वाद का मूल सन्देश है।

नयवाद के सम्बन्ध में ‘नयचक्र’ में एक बहुत ही महत्वपूर्ण गाथा आई है—

णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तमत्थोव्व जिणवरमदग्धि ।

तो नयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होति॥

अर्थ— नयों के बिना जिनवर-मत में कुछ भी सूत्र या अर्थ नहीं कहा गया है, अतः नयवाद में निपुण मुनि ही सिद्धान्त के ज्ञाता होते हैं।

प्रश्न— स्याद्वाद को सप्तभंगवाद भी कहते हैं?

उत्तर— हाँ, स्याद्वाद को सप्तभंगवाद भी कहते हैं, सप्तभंगवाद स्याद्वाद का पूर्ण विस्तार है। स्याद्वाद में संक्षेप में केवल दो विरोधी धर्मों को दर्शाना पर्याप्त रहता है, किन्तु उसे ही यदि कोई विस्तार से कहना-समझना चाहे तो वही सप्तभंगवाद है।

प्रश्न— कृपया सप्तभंगवाद को थोड़ा स्पष्ट कीजिए?

उत्तर— यह तो बहुत विस्तृत विषय है, जिस पर कभी स्वतन्त्र रूप से चर्चा करेंगे, किन्तु अभी इसे एक सरल उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। जैसे कि मान लीजिए एक लड़के-लड़की की सगाई हो गई है और आप उनसे पूछ रहे हैं कि क्या आप पति-पत्नी हैं। तो वे इस प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से ऐसे दे सकते हैं—

1. हाँ, हम पति-पत्नी हैं।
2. नहीं, अभी हम पति-पत्नी नहीं हैं।
3. हाँ भी और नहीं भी, हम पति-पत्नी हैं भी और नहीं भी हैं।
4. एकदम सत्य स्थिति तो अवक्तव्य है।
5. हम पति-पत्नी हैं —यह बात भी अवक्तव्य है।
6. हम पति-पत्नी नहीं हैं —यह बात भी अवक्तव्य है।
7. हम पति-पत्नी हैं और नहीं भी —यह बात भी अवक्तव्य है।

इसी प्रकार सर्वत्र घटित करना चाहिए। यहाँ तो हमने सगाई हो चुके जोड़े

पर ही घटित करके दिखाया है, पर विवाहित जोड़े पर भी ऐसा ही घटित किया जा सकता है और जिनकी सगाई नहीं हुई उन पर भी ऐसा ही घटित किया जा सकता है। यही स्याद्वाद या सप्तभंगवाद का सौन्दर्य है। सप्तभंगवाद की परिभाषा ही यह है कि— एक ही वस्तु में विधि-निषेध की कल्पना को सप्तभंगवाद कहते हैं। यथा— “एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेध-कल्पना सप्तभंगी।”
—आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/6/5

प्रश्न— क्या स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद भी कहते हैं?

उत्तर— नहीं, स्याद्वाद और अनेकान्त में बड़ा अंतर है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक। अथवा अनेकान्त द्योत्य है और स्याद्वाद द्योतक। अनेकान्त वस्तु का नाम है और स्याद्वाद उसके कथन करने की शैली का नाम है, जैसा कि आचार्य अकलंकदेव ने भी कहा है— ‘अनेकान्तात्मार्थकथनं स्याद्वादः।’ —लघीयस्त्रय, 62

इस प्रकार वास्तव में प्रत्येक वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानने का नाम अनेकान्तवाद है। किन्तु स्थूल अपेक्षा से, अथवा ‘अनेकान्त को बोलना अनेकान्तवाद है’ —इस अर्थ की अपेक्षा से अनेक लोग स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद भी कहते हैं, जो गलत नहीं है।

प्रश्न— ‘स्यात्’ पद लगाने से ‘शायद’ का अर्थ निकलकर संशय उत्पन्न करता है?

उत्तर— नहीं, यह तो आपका भाषासम्बन्धी अज्ञान हुआ, क्योंकि ‘स्यात्’ पद यहाँ विधिलिंग लकार का रूप नहीं है, अपितु निपात है, जिसका अर्थ होता है— कथंचित्, एक अपेक्षा से; अतः यह संशय उत्पन्न नहीं करता, अपितु एक अपेक्षा विशेष का निर्धारण करता है।

प्रश्न— कुछ लोग कहते हैं कि स्याद्वाद तो छल है?

उत्तर— नहीं, स्याद्वाद छलरूप भी नहीं है, क्योंकि छल तो वहाँ होता है जहाँ वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन-विधात किया जाए। उदाहरणार्थ कोई कहे— ‘नवकम्बलोऽयं देवदत्तः’ अर्थात् इस देवदत्त के पास नया कम्बल है, तब कोई श्रोता ‘नव’ शब्द का अर्थ ‘नौ’ की संख्या करके कहे कि इस देवदत्त के पास नौ कम्बल कहाँ हैं, एक ही तो है। इसे छल कहते हैं, किन्तु स्याद्वाद ऐसा छलरूप नहीं है, क्योंकि इसमें तो सुनिश्चित मुख्य-गौण-विवक्षा से सम्भव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन किया जाता है।

—तत्त्वार्थवार्तिक, 1/6/8

प्रश्न— कहते हैं कि स्याद्वाद से हर बात सही हो जाती है तो क्या जैन दर्शन के अनुसार कोई भी बात गलत नहीं होती है?

उत्तर— होती है, जो बात जिस अपेक्षा से सत्य हो, उसे यदि उसी अपेक्षा से नहीं माना जाए और अन्य अपेक्षा से माना जाए तो वही गलत बात है। अथवा उस बात को उसी अपेक्षा से न मानकर सर्वथा माना जाए तो भी वह बात गलत है। जैसे कि— आत्मा नित्य है —यह बात द्रव्य अपेक्षा सत्य है, किन्तु यदि इस बात को कोई पर्याय अपेक्षा माने तो यही बात असत्य हो जाएगी। अथवा यदि इस बात को सर्वथा माने तो भी यह बात असत्य हो जाएगी। इसी प्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिए।

वस्तु में अनन्त आयाम/अपेक्षाएँ हैं और कोई भी बात एक ही अपेक्षा से सत्य होती है। उसे यदि अन्य किसी भी अपेक्षा से या सर्व अपेक्षाओं से माना जाएगा तो वह बात असत्य होगी, गलत होगी। जैसे कि कौआ काला है —यह कथन वर्ण की अपेक्षा कहा है, उसे यदि स्पर्श, रस गन्ध आदि की अपेक्षा से माना जाएगा तो यह असत्य होगा। तथा वर्ण में भी पंखों के वर्ण की अपेक्षा उसे काला कहा है, उसे यदि उसके पित्त, अस्थि, रुधिर आदि की अपेक्षा काला माना जाएगा तो यह भी असत्य होगा। तथा यदि उसे सर्वथा काला माना जाएगा तो भी असत्य होगा। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण धवल, जयधवल, तत्त्वार्थवार्तिक आदि अनेक ग्रन्थों में आया है। यथा— ‘काकश्च काकात्मकः, न कृष्णात्मकः, तत्पित्तास्थिरुधिराणामपि कृष्णतापत्तेः।’—जयधवल, पुस्तक 1, पृष्ठ 206

एक और उदाहरण देखते हैं। किसी ने मुझसे कहा कि सम्मदशिखर 700 किलोमीटर दूर है। उसने अपनी अपेक्षा से बताया था, हर व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं। हर व्यक्ति की अपेक्षा से तो वह अलग-अलग अनन्त दूर-पास धर्मों वाला है। अतः उसे उस व्यक्ति की अपेक्षा ही 700 किलोमीटर दूर समझना सत्य है, शेष सब की अपेक्षा समझना असत्य है। सत्य एक ही है, असत्य अनेक हैं।

प्रश्न— प्रमाण एवं प्रमाणाभास, नय एवं नयाभास आदि की तरह क्या स्याद्वाद भी दो तरह का है— स्याद्वाद और स्याद्वादाभास?

उत्तर— हाँ, जो स्याद्वाद नहीं है, पर स्याद्वाद जैसा लगता है या माना जाता है वह स्याद्वादाभास है। जैसे कि—

कोई व्यक्ति धर्मों को ठीक से न समझे और ऊटपटांग रीति से उन्हें वस्तु पर घटित करे तो वह स्याद्वादाभास होगा। अथवा अपेक्षा गलत लगाए तो भी स्याद्वादाभास होगा। जैसे कि कोई व्यक्ति कहे कि वस्तु पर्याय-अपेक्षा नित्य और द्रव्य-अपेक्षा अनित्य है तो वह भी स्याद्वादाभास होगा। अथवा धर्मयुगल सही न बनाए तो भी स्याद्वादाभास होगा जैसे कोई दुःख बनाकर कहे कि सिद्ध सुखी भी हैं और दुःखी भी तो यह स्याद्वादाभास होगा। इत्यादि अनेक प्रकार से समझा जा सकता है—
स्याद्वादलक्षणरहितः स्याद्वादवदवभासमानः स्याद्वादाभासः। ❖❖

अनेकान्तदृष्टि से सामाजिक सौहार्द

जैनदर्शन एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है। उसके सिद्धान्त न केवल पारमार्थिक दृष्टि से, अपितु लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्द जैसे विद्वान् मुनि ने भी जैनदर्शन के सभी प्रमुख सिद्धान्तों की सामाजिक/व्यावहारिक व्याख्या निम्न प्रकार से प्रसिद्ध की है¹—

आत्मानुशासन — स्वयं पर स्वयं का शासन।

अनेकान्तवाद — सबके साथ समन्वय की कला।

अहिंसावाद — किसी का मन व्यर्थ में मत दुखाओ।

अपरिग्रहवाद — अति लोभ खतरे की घण्टी है।

स्याद्धाद — पहले तोलो, फिर बोलो।

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की उक्त व्याख्या को उन्होंने ‘विश्वकल्याण में उपयोगी श्रेष्ठ जीवन-निर्माण के पाँच सूत्र’ शीर्षक देकर सर्वत्र प्रचारित किया है। इससे सिद्ध होता है कि जैनदर्शन एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है और उसके सिद्धान्त आत्मकल्याणार्थ ही नहीं, विश्वकल्याणार्थ भी अत्यन्त उपयोगी हैं।

आचार्य विद्यानन्द मुनि की भाँति अन्य भी अनेक मनीषी चिन्तकों ने जैनदर्शन और उसके सिद्धान्तों की व्यावहारिकता एवं लोकहित में उपादेयता पर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश डाला है, परन्तु विस्तार-भय से यहाँ हम उसकी विशेष चर्चा नहीं कर सकते हैं। मात्र सत्यदेव विद्यालंकार का एक कथन उद्धृत कर अपनी बात को आगे बढ़ाते हैं। उनका वह कथन इस प्रकार है—

“जैन धर्म का साम्यभाव या समाजवाद केवल मानव तक सीमित नहीं है। प्राणिमात्र उसकी परिधि में समा जाते हैं ... वह विपक्षी के लिए भी अपने ही समान गुंजाइश रखता है। यदि दूसरे के लिए गुंजाइश रखकर जीवन व्यवहार किया जाये तो संघर्ष की संभावना नहीं रहती।... व्यावहारिक रूप में जैनधर्म की क्षमता असीम है।”²

आज हमारा विषय जैनदर्शन के एक अत्यन्त प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद की

सामाजिक सौहार्द में उपयोगिता पर चिन्तन करना है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इसके लिए सर्वप्रथम हमें अनेकान्तवाद का समीचीन स्वरूप समझना होगा, तभी हम उसकी सामाजिक सौहार्द में भूमिका का निर्णय एवं विचार कर पाएंगे।

क्या है अनेकान्तवाद का स्वरूप-

जैनदर्शन के अनुसार इस विश्व की सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं, अनेकान्तस्वरूप हैं अर्थात् उनका स्वरूप ही अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ है कि उसमें अनेक अन्त हैं। ‘अन्त’ शब्द का अर्थ यहाँ धर्म, गुण, स्वभाव, विशेषता आदि समझना चाहिए तथा ‘अनेक’ का भी अर्थ वैसे तो अनेक (एकाधिक, बहुत, संख्यात, असंख्यात, और अनन्त तक भी) समझे जा सकते हैं, किन्तु यहाँ रूढ़िवशाद् ‘दो’ ही और वह भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो ही ग्रहण किए जाएं तो उपयुक्त रहेगा, उसी से अनेकान्तवाद का सौन्दर्य अथवा वैशिष्ट्य उभरकर सामने आ सकेगा—ऐसा जैनाचार्यों का स्पष्ट निर्देश है।

कहने का तात्पर्य यह हुआ कि विश्व की प्रत्येक वस्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो-दो धर्मों के अनन्त युगलों का निवास-स्थान है और इसीलिए वह अनेकान्तात्मक या अनेकान्तस्वरूप है। तथा इस प्रकार विश्व की प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तस्वरूप मानना अनेकान्तवाद है और उसे कहने या समझने के लिए जिस समीचीन पद्धति का आश्रय लिया जाता है, वह स्याद्वाद है।

अनेकान्तवाद के साथ स्याद्वाद को भी समझना परम आवश्यक है। दोनों परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध हैं। अनेकान्त प्रत्येक वस्तु को परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्मयुगलों का निवास-स्थान घोषित करता है, किन्तु ऐसे जटिल स्वरूप वाली वस्तु को स्याद्वाद के बिना कहना या समझना सम्भव नहीं है, अतः स्याद्वाद अनेकान्तात्मक वस्तु को समीचीनतया कहने या समझने की उत्तम विधि है, जो प्रायः इस प्रकार कथन करती है कि— प्रत्येक वस्तु स्यात् (कथंचित/किसी एक अपेक्षा से/अमुक अपेक्षा से) अस्ति है और वही वस्तु स्यात् नास्ति भी है। अथवा स्यात् एक है, स्यात् अनेक भी है, इत्यादि।³

अनेकान्त-स्याद्वाद का यह सिद्धान्त वस्तु-स्वरूप को समीचीनतया समझने-समझाने में अत्यन्त समर्थ होने से दर्शन के क्षेत्र में तो बड़ा उपयोगी/महत्त्वपूर्ण माना ही जाता है; किन्तु व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्व में सुख-शान्ति स्थापित करने की दृष्टि से भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और उपादेय समझा जाता है। इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने तो अपना दृष्टिकोण प्रबलतापूर्वक रखा ही है, किन्तु दुनिया भर के समाजशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने भी इस संबंध में अपने विचार मुक्त कण्ठ से रखे हैं, जिससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता, असहिष्णुता, आतंकवाद आदि सभी

समस्याओं को समाप्त कर सामाजिक सौहार्द और समरसता का वातावरण बनाने में अनेकान्तदृष्टि अत्यन्त समर्थ है। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि एकमात्र अनेकान्तदृष्टि ही इसका समीचीन उपाय है, अमोघ उपाय है। प्रमाणस्वरूप हम यहाँ कतिपय जैनाचार्यों और विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक, सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तकों के कथन/विचार उद्धृत कर रहे हैं। आशा है, इनसे अनेकान्तदृष्टि की व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता भलीभाँति स्पष्ट हो सकेगी।

तीन लोक का अद्वितीय गुरु है अनेकान्तवाद, उसके बिना लोकव्यवहार भी नहीं चल सकता-

“तस्यानेकान्तवादस्य लिंगं स्याच्छब्द उच्यते।
तदुक्तार्थे बिना भावे लोकयात्रा न सिद्ध्यति ॥”⁴

अर्थ— उस अनेकान्तवाद का चिह्न ‘स्यात्’ शब्द है। उसे कहे बिना लोकयात्रा भी नहीं चल सकती है।

“जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥”⁵

अर्थ— जिसके बिना लोकव्यवहार भी बिल्कुल नहीं चल सकता, उस तीन लोक के अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

सर्व विवादों का विनाशक (समाधान) है अनेकान्तवाद-

“परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥”⁶

अर्थ— जो सम्पूर्ण परमागम का प्राण है, जिसमें सभी नय इस प्रकार विलास करते हैं कि जन्मान्ध व्यक्तियों के हस्ति-दर्शन संबंधी विवाद की भाँति सर्व विवाद सहज ही समाप्त हो जाते हैं, उस अनेकान्तवाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

विभिन्न दृष्टिकोणों के समन्वय की अद्भुत कला सिखाकर शान्ति स्थापित करता है अनेकान्तवाद-

“स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय हमारे सामने उपस्थित करता है। वह अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार वस्तु के स्वरूप को मानकर परस्पर में विवाद करने वाले लोगों में समझौता कराने में समर्थ है। आज संसार में सर्वत्र त्राहि-त्राहि की पुकार सुनाई पड़ती है। अशांति से त्रस्त मानव शांति की अभिलाषा करते हैं, लेकिन उनको पूर्ण शांति नहीं मिलती। शांति का यथार्थ उपाय है—विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय या एकीकरण। किसी भी वस्तु को यदि पूर्ण रूप से समझना है तो इसके लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से उसका निरीक्षण करना

आवश्यक है, क्योंकि ऐसा किए बिना, वस्तु का पूर्ण रूप समझ में नहीं आ सकता। किसी भी बात पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने का नाम ही स्याद्वाद है और एक दृष्टिकोण से किसी विषय पर विचार करना एकान्त दृष्टि है। जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त भिन्न-भिन्न मतभेदों को दूर करने में सर्वथा समर्थ है।”⁷

—(प्रो. उदयचन्द्र जैन वाराणसी)

विरोधी से भी प्यार करने की अद्भुत कला सिखाता है अनेकान्तवाद-

“जिस प्रकार मैं स्याद्वाद को जानता हूँ उसी प्रकार उसको मानता भी हूँ। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों से प्यार करता हूँ। क्योंकि अब मैं विरोधियों की दृष्टि से अपने को देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा इन्हीं युगल सिद्धान्तों का परिणाम है।”⁸

—(महात्मा गाँधी)

साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता, असहिष्णुता आदि अनेक समस्याओं का समाधान है अनेकान्तवाद-

“जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक के नाम पर उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया, जिसके कारण मानव-इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है।..... स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है, कारण वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है। सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होंगे।”⁹

—(डॉ. एस. वी. नियोगी, भूतपूर्व चीफ जस्टिस तथा कुलपति, नागपुर विश्वविद्यालय)

लोकदृष्टि से भी बड़ा उपयोगी है अनेकान्तवाद-

“जैनों के अनेकान्त को कुछ आस्तिक दर्शनों में छल की संज्ञा दी गई है, किन्तु यह ठीक नहीं है। अनेकान्तवाद संशय का हेतु भी नहीं है, क्योंकि सप्तभंगी नय में समझाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ में स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप के विशेषों की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद में संशय की कोई गुंजाइश नहीं है। इसके अतिरिक्त वह तो लोकदृष्टि से जितना उपयोगी है, विचार की दृष्टि से भी उतना ही उपयोगी है।”¹⁰

—(डॉ. वाचस्पति गैरोला)

नैतिक उत्कर्ष और व्यावहारिक शुद्धि के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है अनेकान्तवाद-

“पाणिनि-सूत्र ‘अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः’ (पा. 4/4/30) के अनुसार जैनदर्शन आस्तिक दर्शन में ही परिगणित होता है। जैनदर्शन का अनेकान्त तो उसका आधार-

स्तम्भ है ही, परन्तु परमार्थतः प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए, क्योंकि स्वभावतः प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता होनी चाहिए। नैतिक उत्कर्ष के साथ व्यावहारिक शुद्धि के लिए भी अनेकान्त दर्शन जैन दर्शन की महान देन है।”¹¹

—(मंगलदेव शास्त्री)

स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है-

“जैनदर्शन के सिद्धान्त प्राचीन तत्त्वज्ञान तथा धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इसके स्याद्वाद नामक सिद्धान्त से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।”¹²

—(हर्मन जैकोबी)

अनेकान्तवाद को जितना शीघ्र अपनाया जाएगा उतनी ही शीघ्र विश्व में शान्ति स्थापित होगी-

“इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।”¹³

—(रामधारीसिंह दिनकर)

अनेकान्त दृष्टि ही पूर्ण एवं यथार्थ दृष्टि है-

“सब धर्मों में एक परमतत्त्व का ही गुणगान है और सब दर्शनों ने भिन्न-भिन्न शैली से उस परमतत्त्व का विवेचन किया है, परन्तु स्याद्वाद शैली संपूर्ण एवं यथार्थ है।”¹⁴

—(श्रीमद् राजचंद्र)

इसी प्रकार के विचार महान वैज्ञानिक ‘अल्बर्ट आइन्स्टीन’ ने भी प्रकट किए हैं— “हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं। वस्तु के समग्र सत्यांशों को विश्वद्रष्टा ही जान सकता है। कारण कि वस्तु में अनेक गुण रहते हैं और वे स्याद्वाद से ही अल्प ज्ञानी द्वारा जाने जा सकते हैं।”¹⁵

—(आइन्स्टीन)

भौतिक एकता और विश्वशान्ति के लिए अत्यधिक उपयोगी है अनेकान्तवाद-

“अनेकान्त जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसको पश्चिमी वैज्ञानिकों तथा हिन्दू तर्कशास्त्रियों द्वारा सामान्य रूप से ही नहीं स्वीकृत किया गया है, किन्तु उसको भौतिक एकता या समझौते द्वारा विश्वशान्ति के लिए भी प्रमुख सिद्धांत माना गया है।”¹⁶

—(प्रो. आर्ची ब्रह्म)

विचार-सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की भावना जागृत करता है अनेकान्तवाद-

“अनेकान्त दृष्टि से विचारसहिष्णुता और परसन्मान की वृत्ति जग जाने पर मन दूसरे के स्वार्थ को अपना स्वार्थ मानने की ओर प्रवृत्त होकर समझौते की ओर सदा झुकने लगता है। जब उसके स्वाधिकार के साथ ही साथ स्वकर्तव्य

का भी भाव उदित होता है, तब वह दूसरे के आन्तरिक मामलों में जबरदस्ती टाँग नहीं अड़ाता।.... पं. जवाहरलाल नेहरू ने विश्वशान्ति के लिए जिन पंचशील सिद्धान्तों का उद्घोष किया है उनकी बुनियाद अनेकान्त दृष्टि – समझौते की वृत्ति, सह-अस्तित्व की भावना, समन्वय के प्रति निष्ठा और वर्ण-जाति-रंग आदि के भेदों से ऊपर उठकर मानव मात्र के समभ्युदय की कामना पर ही तो रखी गई है।”¹⁷

—(डॉ. महेंद्रकुमार न्यायाचार्य)

एकान्तवादी मानसिक रूप से विकलांग होता है-

“विकलांग दो प्रकार के होते हैं— शारीरिक विकलांग और मानसिक विकलांग। शारीरिक विकलांग से अधिक खतरनाक मानसिक विकलांग होते हैं। जो एकान्तवादी लोग होते हैं वे मानसिक विकलांग होते हैं। अनेकान्तवादी ही पूर्ण या सर्वांग हो सकता है और वही दूसरों की भी विकलांगता मिटा सकता है।”¹⁸

—(प्रो. वाचस्पति उपाध्याय)

वचनशुद्धि का एक मात्र उपाय है अनेकान्त-स्याद्वाद-

“जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त वस्तुतः बोलने की कला का ही चरम विकास है। स्याद्वाद के अवलम्बन बिना कभी कोई अच्छा नहीं बोल सकता, क्योंकि उसके बिना सच्चा नहीं बोला जा सकता। जो सच्चा न हो, वह कैसा भी हो, अच्छा नहीं हो सकता, अतः अच्छा व सच्चा बोलने के लिए स्याद्वाद का अवलम्बन अनिवार्य है। वस्तुतः अनन्तधर्मात्मक जटिल वस्तु को स्याद्वाद के बिना बोलने की कोई भी कोशिश ठीक से हो ही नहीं सकती।”¹⁹

—(प्राकृतविद्या)

आतंकवाद कहता है- मरो और मारो, अनेकान्तवाद कहता है- जीओ और जीने दो-

“एकान्तदृष्टि आतंकवाद है। उसमें पर-सहिष्णुता नहीं होती। उसका सिद्धान्त ही होता है— ‘मरो और मारो’। किन्तु अनेकान्तदृष्टि का सिद्धान्त है— ‘जियो और जीने दो’। वह सभी को अपने साथ-साथ पर का भी ध्यान रखना सिखाती है। मतभेद होते हुए भी मनभेद न रखने की अद्भुत कला का विकास अनेकान्तदृष्टि से ही होता है। अतः एकान्तदृष्टि आग्रहपूर्ण होने से विविध विवादों को जन्म देकर सर्वत्र अशान्ति का वातावरण उत्पन्न करती है और अनेकान्तदृष्टि सर्व विवादों को समुचित रूप से सुलझा कर सर्वत्र शान्ति की स्थापना करती है।”²⁰

—(आचार्य विद्यानंद मुनि)

अन्त में मैं अपनी बात श्रद्धेय पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के एक महत्त्वपूर्ण कथन के साथ पूर्ण करता हूँ—

“दुनिया में बहुत से वाद हैं, स्याद्वाद भी उनमें से एक है, पर वह अपनी अद्भुत विशेषता लिए हुए है। दूसरे वाद विवादों को उत्पन्न कर संघर्ष की वृद्धि के कारण

बन जाते हैं, तब स्याद्वाद जगत के सारे विवादों को मिटाकर संघर्ष को विनष्ट करने में ही अपना गौरव प्रकट करता है। स्याद्वाद के अतिरिक्त सब वादों में आग्रह है, इसलिए उनमें से विग्रह फूट पड़ते हैं, किन्तु स्याद्वाद तो निराग्रह वाद है, उसमें कहीं भी आग्रह का नाम नहीं है। यही कारण है कि इसमें किसी भी प्रकार के विग्रह का अवकाश नहीं है।”²¹

—(पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ)

सन्दर्भ सूची

1. कुन्दकुन्द भारती शोध संस्थान, नई दिल्ली के प्रवेशद्वार पर प्रचारित-प्रसारित।
2. बाबू छोटेलाल जैन अभिनन्दनग्रन्थ (कलकत्ता) में प्रकाशित उनके लेख से।
3. ‘यदेव तत्तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येक-वस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।’
—आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार-टीका आत्मख्याति, परिशिष्ट
4. आचार्य जटासिंहनन्दि, वरांगचरित्र, 26/83
5. आचार्य सिद्धसेन, सन्मत्तिसूत्र, 3/69
6. आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, श्लोक 2
7. अनेकान्त और स्याद्वाद (गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी), पृष्ठ 19
8. जैनधर्म, अहिंसा और महात्मा गांधी (कुंदकुंद भारती, नई दिल्ली), पृष्ठ
9. प्राकृतविद्या, अप्रैल-दिसम्बर, 2008, पृष्ठ 155
10. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 114
11. जैनदर्शन (महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य), प्राक्कथन, पृष्ठ 14
12. स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री), पृष्ठ 249
13. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 137
14. श्रीमद्राजचंद्र, भाग 1, पृष्ठ 245
15. स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री), पृष्ठ 249
16. आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ 546
17. जैनदर्शन (गणेशवर्णी संस्थान, वाराणसी), पृष्ठ 474
18. जैनसमाज, ग्रीनपार्क, नई दिल्ली द्वारा आयोजित विकलांग सहायता शिविर में।
19. प्राकृतविद्या, (अप्रैल-दिसम्बर, 2008), कवरपृष्ठ 2
20. आचार्य श्री विद्यानन्दजी के प्रवचनों से।
21. प्राकृतविद्या, (अप्रैल-दिसम्बर, 2008), कवरपृष्ठ 111



शास्त्राधिकारी कौन है?

“प्राक्तनमज्ञानस्वभावं हन्तुमुपरितनमर्थज्ञानस्वभावं स्वीकर्तुं च यः समर्थ आत्मा स एव शास्त्राधिकारी।”

—(अभिनव धर्मभूषण यति, न्यायदीपिका—3/82)

अर्थ— पिछला अज्ञान स्वभाव अर्थात् पूर्वाग्रह अर्थात् पक्षपात को छोड़ने में और आगामी पदार्थ के ज्ञानस्वभाव अर्थात् अनेकांत को स्वीकार करने में जो समर्थ है वही शास्त्राधिकारी या शास्त्री है।

आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के ज्ञान की उपयोगिता

“एक घड़ी आधी घड़ी, आधी से भी आध।
जो आत्म अनुभव करो, कटे कोटि अपराध॥”

—(परमात्मप्रकाश 1/114 का भावानुवाद)

आत्मानुभूति सम्पूर्ण द्वादशांग का सार है, सर्व आचार्यों के सर्व शास्त्रों के सर्व कथनों का एक मात्र मूल प्रतिपाद्य है। जैन दर्शन के अनुसार सच्चे धर्म का प्रारम्भ भी आत्मानुभूति से ही होता है, धर्म की वृद्धि भी आत्मानुभूति से ही होती है और धर्म की पूर्णता भी आत्मानुभूति से ही होती है। अतः वास्तव में देखा जाए तो आत्मानुभूति ही हम सबका एक मात्र मुख्य कर्तव्य है। जिनवाणी का सच्चा उपासक वास्तव में वही है जो निरंतर एक आत्मानुभूति का ही प्रयत्न करता रहता है, उसके अतिरिक्त एक क्षण भी कहीं व्यर्थ नहीं करता। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के ज्ञान की क्या उपयोगिता है, क्योंकि हमें तो एक आत्मानुभूति ही चाहिए। यही सर्व शास्त्रों का उपदेश है— आत्मानुभूति जरूरी है, बाकी सब मजबूरी (साधन) है। आचार्य अमृतचंद्र ने तो अपनी समयसार-टीका आत्मख्याति में यहाँ तक कह दिया है कि तुम कैसे भी करके, मरके भी आत्मानुभूति करो। यथा—

“अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्।
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्॥”

—(समयसारकलश, 23)

इसीप्रकार महाकवि भूधरदासजी ने भी एक सवैये में आत्मानुभूति के विषय में बहुत अच्छा कहा है, जो बहुत ही गम्भीरता से समझने योग्य है। यथा—

जीवन अल्प आयु बुधि बल हीन तामें,
आगम अगाध सिन्धु कैसे ताहि डाकहै।
द्वादशांग मूल एक अनुभव अपूर्व कला,
भव दाघ हारी घनसार की सलाक है॥

यही एक सीख लीजे याही को अभ्यास कीजे,
याको रस पीजे ऐसो वीर जिन वाक् है।
इतनो ही सार ये ही आत्म को हितकार,
याही लौं मदार और आगे दूक ढाक है ॥

—(जैन शतक, 91)

भावार्थ— सम्पूर्ण द्वादशांग का मूल एक आत्मानुभव है। हमें एक मात्र उसी को सीखना चाहिए, उसी का अभ्यास करना चाहिए और सदा उसी का रस पान करना चाहिए। यही एक सार है, आत्म हितकार है, शेष सब व्यर्थ है।

इसीप्रकार के और भी अनेक उद्धरण आत्मानुभूति के महत्त्व को बताने वाले यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि जीवन में करने लायक कार्य वस्तुतः एक ही है और वह है आत्मानुभूति, किन्तु प्रश्न यह है कि यह आत्मानुभूति हो कैसे? हम सब चाहते तो बहुत हैं, परन्तु होती क्यों नहीं?

उत्तर— यही तो विशेष बात है। मात्र चाहने से क्या होता है? कार्य तो अपनी विधि से ही होगा। अन्य लोगों के अध्यात्म में और जैन अध्यात्म में भी यही तो मूल अंतर है कि अन्यत्र तो यँ ही निराधार अध्यात्म की बातें की जाती हैं, किन्तु जैन अध्यात्म भावुकता मात्र नहीं है, अपितु उसके पीछे आगम का ठोस धरातल है। उसके अनुसार आत्मानुभूति से पूर्व सम्यक् आत्मज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। उसके बिना आत्मानुभूति कथमपि सम्भव नहीं है। आचार्य माङ्गलधवल ने अपने नयचक्र में स्पष्ट लिखा है—

“तच्चाणेषणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा ॥”

—(द्रव्यस्वभावप्रकाशक, नयचक्र, 268)

अर्थ— तत्त्वान्वेषण के काल में समय (आत्मा) को युक्तिमार्ग (न्यायशास्त्र) से भलीभांति समझना चाहिए और जब तत्त्व की आराधना (अनुभव) का काल आए तो उस युक्तिमार्ग (प्रमाण-नय-निक्षेप) को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि आत्मा का अनुभव तो प्रत्यक्ष है।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मतत्त्व की अनुभूति से पूर्व आत्मतत्त्व का अन्वेषण अनिवार्य है। अन्वेषण अर्थात् अनुसंधान; स्पष्ट, निष्पक्ष एवं दृढ़ निर्णय।

तथा ऐसा यह अन्वेषण, अनुसंधान या निर्णय न्यायशास्त्र से ही सम्भव है, उसके बिना नहीं; अतः हमें न्यायशास्त्र का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। न्यायशास्त्र के द्वारा हम आत्मा के सम्बन्ध में उसके सभी पक्षों का निष्पक्ष, स्पष्ट एवं दृढ़ निर्णय कर सकेंगे और फिर उससे सहज ही आत्मानुभूति का महान कार्य सम्पन्न

होगा। यही राजमार्ग है। उदाहरणार्थ न्यायशास्त्र के द्वारा हमें आत्मा के सम्बन्ध में निम्नलिखित बिन्दुओं को भलीभांति समझना होगा। सम्यक् लक्षण, हेतु, तर्क, अनुमान आदि के द्वारा एकदम पक्का निर्णय करना होगा। इसके बाद सहज ही ध्यानाभ्यास से आत्मानुभूति की प्राप्ति होगी और न केवल होगी, अपितु बारम्बार होती रहेगी। यथा—

1. आत्मा की सत्ता अवश्य है, क्योंकि वह मैं स्वयं ही तो हूँ।
2. आत्मा जड़ या अचेतन नहीं है, चेतन ही है, क्योंकि प्रत्यक्ष जानता-देखता अनुभव में आ रहा है।
3. आत्मा शरीर नहीं है अपितु उससे भिन्न ही है, जैसे कि गृहस्वामी गृह से भिन्न होता है अथवा तलवार म्यान से भिन्न होती है। आज तो चिकित्सा-विज्ञान ने भी दिखा दिया है कि सारा शरीर बदल देने पर भी ज्ञान वही रहता है— इससे भी सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है।
4. आत्मा में स्पर्श, रस, गंध आदि पुद्गल-गुण नहीं पाए जाते, क्योंकि उनमें चेतना नहीं है या चेतना उनके बिना भी रहती है।
5. चेतना आत्मा का स्वभाव है, अतः उसका भी कभी नाश नहीं हो सकता।
6. चेतना (ज्ञान-दर्शन) दुःख का कारण नहीं है, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है।
7. दुःख का कारण राग-द्वेष है, ज्ञान नहीं। दुःख की व्याप्ति राग के साथ है, ज्ञान के साथ नहीं।
8. आत्मा को चेतना के अवलंबन से जाना जा सकता है अर्थात् विशेष ज्ञान का तिरोभाव करके मात्र सामान्य ज्ञान के आविर्भाव से आत्मा को जाना जा सकता है।
9. आत्मा किसी का अंश या अपूर्ण वस्तु नहीं है, पूर्ण और अखंड वस्तु ही है, क्योंकि एक वस्तु की दो और दो वस्तुओं की एक हो ही नहीं सकती।
10. आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता, क्योंकि सत् का कभी नाश नहीं होता।
11. आत्मा का कभी जन्म भी नहीं हुआ, हो ही नहीं सकता, क्योंकि सत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती।
12. आत्मा एक ही नहीं है, अपितु अनंत हैं। सब स्वतंत्र व पूर्ण हैं।
13. वह मात्र स्व या पर को नहीं जानता, अपितु एक साथ स्व-पर-प्रकाशक है।
14. वह वटकणिका मात्र या सर्वव्यापी नहीं है, स्वदेहप्रमाण ही है, संकोच-विस्तार उसका स्वभाव है।

15. वह सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध नहीं है।
16. वह सर्वथा नित्य कूटस्थ, या सर्वथा अनित्य क्षणभंगुर भी नहीं है।
17. वह अपने परिणामों का कर्ता-भोक्ता स्वयं है।
18. राग-द्वेष आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं, उनका अभाव किया जा सकता है।
19. आत्मा शुद्ध होने के बाद कभी भी पुनः अशुद्ध नहीं हो सकता।
20. आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है, संसारावस्था में कर्म-प्रेरित होकर ही वह तिर्यक्-गमन करता है।

इन बिन्दुओं का समीचीन निर्णय हुए बिना अथवा इनके सम्बन्ध में मिथ्या मान्यता रहते हुए कदापि आत्मानुभूति सम्भव नहीं है और इनका समीचीन निर्णय न्यायशास्त्र के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं, किसी के कहने मात्र से भी नहीं। अतः हमें न्यायशास्त्र का अवश्य ही अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न— आत्मानुभूति तो सम्यग्दृष्टि तिर्यक् और नारकी जीवों को भी हो जाती है, उन्हें तो न्यायशास्त्र का ज्ञान होता ही नहीं, फिर उन्हें कैसे आत्मानुभूति हो जाती है?

उत्तर— उन्हें भी न्यायशास्त्र का यथोचित ज्ञान अवश्य ही होता है, तभी उन्हें आत्मानुभूति होती है। भले ही वे उसे हमारी तरह व्यवस्थित रूप से नहीं जान और कह सकते हैं, परन्तु प्रमाण-नयात्मक न्याय के द्वारा ही उन्हें भी आत्मतत्त्व का निर्णय और अनुभव होता है, उसके बिना नहीं। जिसप्रकार वे जीवादि सात तत्त्वों का भी सम्यक् स्वरूप पहचान जाते हैं, भले ही कह नहीं पाते, उसीप्रकार प्रमाण-नयात्मक न्याय को भी वे अनिवार्य रूप से पहचान जाते हैं।

तथा जिसप्रकार जीवादि सप्त तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान करने से हमें सुगमतापूर्वक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसीप्रकार न्यायशास्त्र के ज्ञान से हमें सुगमतापूर्वक आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। तिर्यक्चादि को तो यह दुर्लभ ही होती है, क्वचित् कदाचित् ही होती है।

आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के ज्ञान की कितनी अधिक उपयोगिता है— इसे समझने के लिए हमें कतिपय निम्नलिखित शास्त्र-वचनों (उद्धरणों) पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए, एक-एक वचन बहुत अधिक महत्वपूर्ण है, यहाँ हमें इतना अवकाश नहीं है कि सबकी व्याख्या कर सकें, परन्तु आप स्वयं शांतिपूर्वक मनन करेंगे— इस आशा के साथ प्रस्तुत करते हैं—

1. प्रमाणनयैरधिगमः।

—(तत्त्वार्थसूत्र, 1/6)

2. जैन न्याय का प्रयोजन तत्त्वाधिगम है, वाद-विवाद नहीं।—(न्यायविनिश्चय, 1/2)
3. आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये। —(नीतिवाक्यामृत, 5/63)
4. न्यायशास्त्र तुला के समान है। —(प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 2/1/30)
5. जो ण प्रमाण-णएहिं णिक्खेवेण णिरक्खदे अट्ठं। तस्स अजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।। (जो प्रमाण-नय-निक्षेप से अर्थ को नहीं देखता है, उसे अयुक्त युक्त और युक्त अयुक्त प्रतिभासित होता है।) —(तिलोयपण्णत्ति, 1/82)
6. यदि इच्छह उत्तरिदुं अण्णाणमहोदहिं सुलीलाए। ता णादुं कुणह मइं णयचक्के दुणयतिमिरमत्तंडे।। (यदि अज्ञान-समुद्र को लीला मात्र में पार करना चाहते हो तो नयचक्र में बुद्धि लगाओ।) —(नयचक्र, 419)
7. जे णयदिट्ठीविहीणा ताण ण वत्थु-सहाव-उवलद्धि। (जो नयदृष्टि से रहित हैं, उन्हें वस्तुस्वभाव की उपलब्धि नहीं होती।) —(नयचक्र, 181)
8. जो आत्मा का समीचीन लक्षण नहीं जानता, वह मूढ़ है, नपुंसक है। —(समयसार, आत्मख्याति, 39)
9. आत्मानमेवमधिगम्य नयप्रमाणनिक्षेपकादिभिरभिभ्रयतैकचित्ताः। (जो आत्मा को प्रमाण-नय-निक्षेप से जानता है वही उसमें एकाग्र हो पाता है।) —(पद्मनन्दी पंचविंशतिका, 139)

उक्त उद्धरणों को शांतिपूर्वक समझने से भी यह भलीभांति सिद्ध होता है कि आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के ज्ञान का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है, अतः हम सबको न्यायशास्त्र का यथासम्भव ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक अभ्यास हेतु मेरी दृष्टि में निम्नलिखित तीन ग्रंथ विशेष उपयोगी हैं— 1. परीक्षामुखसूत्र (आचार्य माणिक्यनन्दी), 2. न्यायदीपिका (अभिनव धर्मभूषण यति), 3. न्यायमंदिर (प्रो. वीरसागर जैन)।

अंत में, सभी लोग न्यायशास्त्र का ज्ञान करके उसके द्वारा आत्मतत्त्व का अन्वेषण करके आत्मतत्त्व की अनुभूति करें— इसी मंगल भावना से मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ। ❖❖

आत्मानुभूति के कतिपय पर्यायवाची

आत्मानुभव, आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार, आत्मध्यान, आत्मज्ञान, आत्मजाग्रति, आत्मरुचि, आत्मलाभ, आत्मोपलब्धि, आत्मरमणता, शुद्धोपयोग, सामायिक, योग, आत्मवेदन, स्वसंवेदन, स्वानुभव, स्वानुभूति, ज्ञानानुभूति, शुद्धात्मानुभूति, भेदानुभूति, आत्मरसपान, निर्विकल्प दशा, आत्मभावना इत्यादि अनेक शब्द आत्मानुभूति के पर्यायवाची हैं।

समयसार में न्यायशास्त्र के प्रयोग

न्यायशास्त्र को प्रायः लोग वाद-विवाद के लिए उपयोगी समझते हैं, किन्तु जैनाचार्यों ने न्यायशास्त्र को वाद-विवाद की अपेक्षा अध्यात्मविद्या के लिए विशेष उपयोगी माना है, जैसा कि आचार्य सोमदेवसूरि ने भी ‘नीतिवाक्यामृत’ (5/63) में स्पष्ट कहा है—

‘आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये ।’

अर्थ— आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या आध्यात्मिक विषय में उपयोगी है।

जैन अध्यात्म की यही बड़ी विशेषता है कि वह अन्य अनेक सम्प्रदायों के अध्यात्म की भांति यूँ ही निराधार या भावुकता मात्र नहीं है, अपितु तर्क, युक्ति या न्याय के ठोस धरातल पर स्थित है। जैन दर्शन में अध्यात्म विषय के ग्रन्थों को ‘परमागम’ कहा जाता है और वह परमागम ‘आगम’ पर स्थित होने के कारण अथवा ‘आगम’ का सारभूत होने के कारण ही ‘परमागम’ कहलाता है। आगम के बिना परमागम नहीं बनता है।

यही कारण है कि प्रायः सभी जैन-अध्यात्मग्रन्थों में न्यायशास्त्र के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं, किन्तु अभी हम अपने को ‘समयसार’ पर ही केन्द्रित करते हैं। समयसार सभी अध्यात्मग्रन्थों का शिरोमणि या प्रतिनिधि ग्रंथ माना जाता है। ‘समयसार’ में स्थान-स्थान पर न्यायशास्त्र के प्रचुर प्रयोग हुए हैं।

न्याय प्रमाणनयात्मक होता है, अतः यदि उस दृष्टि से देखा जाए तो समयसार के प्रायः प्रत्येक वाक्य में ही न्याय का प्रयोग हुआ है, क्योंकि सम्पूर्ण जिनवाणी की तरह उसके भी सभी वाक्य प्रमाणनयात्मक हैं, किन्तु अभी हम उतने सबको गौण करते हैं और मात्र अनुमानवाक्यों को ही मुख्य करते हैं, जो न्यायशास्त्र के मूलाधार माने जाते हैं। आश्चर्य होता है कि ऐसी स्थिति में भी हमें ‘समयसार’ में स्थान-स्थान पर न्यायशास्त्र के प्रचुर प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

प्रस्तुत लेख में हम उन्हीं में से कतिपय प्रमुख प्रयोगों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। स्पष्टतया देखा जा सकता है कि इन प्रयोगों में सम्यक् हेतु के प्रयोग द्वारा साध्यसिद्धि का प्रयास उसीप्रकार किया गया है, जिसप्रकार न्यायशास्त्र में किया जाता है। यथा—

प्रयोग-1. आत्मा शुद्ध है

समयसार का मुख्य प्रतिपाद्य है कि आत्मा शुद्ध है। आत्मा ही क्या, सभी द्रव्य शुद्ध हैं। यही कारण है कि यहाँ 'आत्मा' या 'जीव' के स्थान पर 'समय' शब्द का प्रयोग किया। 'समय' अर्थात् सभी द्रव्य। 'समय' की शुद्धता के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कहना है कि वह शुद्ध इसलिए है, क्योंकि वह एकत्व-विभक्त है (द्रष्टव्य गाथा 5, 6, 7 आदि)। अशुद्धता दो प्रकार से ही आती है। एक तो तब जब एक वस्तु में अन्य वस्तु मिल जाए और दूसरे तब जब उसका अपना अंश उससे टूटकर-हटकर अलग हो जाए, किन्तु ऐसी दोनों ही प्रकार की अशुद्धि 'समय' में कभी नहीं आती। इससे यह सुतरां सिद्ध होता है कि 'समय' शुद्ध ही है।

'समय' की शुद्धता को एकत्व-विभक्त हेतु के द्वारा सुस्थापित करने की यह शैली एकदम न्यायशास्त्र की शैली है। वर्तमान में तो आधुनिक विज्ञान भी इस बात को भलीभाँति सिद्ध कर चुका है कि वास्तव में एक वस्तु कभी दो नहीं हो सकती और दो वस्तु कभी एक नहीं हो सकती।

प्रयोग-2. जीव और पुद्गल भिन्न-भिन्न हैं

समयसार का दूसरा मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि जीव और पुद्गल मूलतः दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, वे कथमपि एक नहीं हो सकते, उन्हें मात्र व्यवहार से ही प्राथमिक जीवों को भूतार्थ का ज्ञान कराने के लिए क्वचित् कदाचित् कथंचित् एक कहा जाता है। समयसार में इस बात को भी एकदम न्याय की शैली में ही सुतरां सिद्ध किया गया है। हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि—

1. यदि जीव के वर्णादि माने जाएँ तो जीव और अजीव में कोई अंतर सिद्ध नहीं होगा। (गाथा 62)
2. यदि जीव के वर्णादि हों तो जीव रूपी सिद्ध होगा। (गाथा 63)
3. यदि संसारी जीव के भी वर्णादि माने जाएँ तो वह पुद्गल सिद्ध होगा और फिर पुद्गल को ही मोक्ष हुआ कहा जाएगा। (गाथा 64)

प्रयोग-3. जीव के रागादि विभाव भी पुद्गल हैं

समयसार का अगला मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि निश्चय से जीव में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारी भाव भी पुद्गल हैं, जीव नहीं हैं। यह एक बहुत ही अद्भुत विषय है, जिसे किसी को भी हृदयंगम करना-कराना अत्यंत दुष्कर है, किन्तु समयसारकार ने इस विषय को भी स्थापित करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की, यह न्यायशास्त्र की शैली के आश्रय का ही परिणाम है।

रागादि विकारी भाव भी पुद्गल हैं, जीव नहीं हैं —इस विषय में समयसारकार

का कहना है कि वर्णादि से लेकर गुणस्थान तक के सभी भाव जीव से भिन्न हैं, परभाव हैं, क्योंकि जीव की अनुभूति करने पर वे कोई भी दिखाई नहीं देते। यह बहुत ही महत्वपूर्ण तर्क/हेतु है। रागादि भावकर्म को पुद्गल कहने का एक हेतु यह भी है कि वे पुद्गल कर्म के निमित्त से ही होते हैं, उसके बिना नहीं होते। (द्रष्टव्य गाथा 50 से 55)

इसीप्रकार सभी जीवस्थानों (चौदह जीवसमासों) को पुद्गल सिद्ध करते हुए समयसारकार कहते हैं कि वे पुद्गल हैं, क्योंकि नामकर्म की प्रकृति से बने हैं, जो कि पुद्गल है। जो जिससे बनता है, वह वही होता है। सोने से बने तो सोना और लोहे से बने तो लोहा। (द्रष्टव्य गाथा 65-66)

प्रयोग-4. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है

समयसार का अगला मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि जीव पुद्गल का या पुद्गल जीव का अथवा कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है, जैसा कि लोक में भी बहुत कहा जाता है और शास्त्रों में भी लिखा रहता है। समयसारकार का तर्क है कि यदि जीव पुद्गल का कर्ता हो तो स्वयं भी पुद्गल हो जाए, यदि पुद्गल जीव का कर्ता हो तो स्वयं भी जीव हो जाए, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता है; इससे सिद्ध होता है जीव पुद्गल का और पुद्गल जीव का कर्ता नहीं है। (गाथा 92, 93, 99)

दूसरा तर्क यह है कि यदि जीव को अपना स्वयं का भी और पुद्गल का भी, दोनों का ही कर्ता माना जाए तो द्विक्रियावाद का दोष उपस्थित होता है। (गाथा 86)

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक तर्क/हेतु समयसार में प्रस्तुत किये गये हैं, जो उसमें न्यायशास्त्र के प्रयोग को प्रसिद्ध करते हैं। यहाँ कर्ता की भांति भोक्ता आदि सभी प्रकार के कर्तृत्व को समझ लेना चाहिए।

प्रयोग-5. सम्यग्दृष्टि के रागादि आस्रव नहीं हैं

समयसार का एक यह विषय भी बहुत विशिष्ट है कि सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि आस्रव नहीं होते हैं, किन्तु इसे भी वहाँ न्यायशास्त्र की शैली का अवलम्बन लेकर सुन्दरता से हृदयग्राही बना दिया गया है। गाथा 177-178 की टीका की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

“रागद्वेषमोहा न सन्ति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः। तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति।”

प्रयोग-6. कोई किसी को मार/जिला नहीं सकता

समयसार का अगला मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि निश्चय से कोई भी किसी

को मार या जिला नहीं सकता है, क्योंकि सब जीव अपनी आयु से ही जीते हैं और आयुक्षय से ही मरते हैं। समयसारकार हेतुपुरस्सर स्पष्ट करते हैं कि तुम किसी जीव को मार नहीं सकते, क्योंकि जीवों का मरण तो केवलियों ने आयुक्षय से कहा है और तुम आयुक्षय कर नहीं सकते। इसीप्रकार तुम किसी जीव को जिला भी नहीं सकते, क्योंकि जीवों का जीवन तो केवलियों ने आयु-उदय से कहा है और तुम आयु दे नहीं सकते। (गाथा 248)

प्रयोग-7. बन्ध का वास्तविक कारण क्या है

समयसार में इस विषय पर भी सयुक्तिक विचार-विमर्श किया गया है कि आत्मा को कर्मबन्ध होने का वास्तविक कारण क्या है और इस सम्बन्ध में न्यायशास्त्र की शैली में पर्याप्त ऊहापोह करके ही यह सिद्ध किया गया है कि कर्मबन्ध का वास्तविक कारण एक अध्यवसान भाव ही है, अन्य कुछ भी नहीं। बन्ध अधिकार का यह पूरा ही प्रकरण संस्कृतटीका के साथ गम्भीरतापूर्वक पठनीय है। (गाथा 265)

प्रयोग-8. शब्द/शास्त्र में ज्ञान नहीं है

समयसार का एक महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह भी है कि शब्द/शास्त्र में ज्ञान नहीं है, जैसा कि सारी दुनिया कहती-समझती है। समयसारकार ने इस विषय को भी न्याय की शैली का आश्रय लेकर भलीभांति स्थापित करने में सफलता प्राप्त की है। उनका अकाट्य तर्क है कि शब्द/शास्त्र में ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द/शास्त्र कुछ जानता नहीं है। (गाथा 390-391)

इस प्रकार यहाँ हमने समयसार के कतिपय न्यायात्मक प्रयोगों की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया। खोजने पर इसी प्रकार के अन्य भी सैकड़ों प्रयोग उद्धृत किये जा सकते हैं। तथा इनके अतिरिक्त भी अनेक बातें ऐसी हैं जो समयसार में न्यायशास्त्र के प्रयोग को सिद्ध करती हैं। जैसे कि—

1. गाथा 39 की 'आत्मख्याति' टीका में लिखा है कि जो व्यक्ति आत्मा का समीचीन लक्षण नहीं जानते, वे क्लीब — नपुंसक हैं और अत्यंत विमूढ़ हैं। लक्षणज्ञान की यह बात न्यायशास्त्र का ही विषय है, क्योंकि लक्षण को जाने बिना तत्त्व/वस्तु को पहिचाना नहीं जा सकता और पहिचाने बिना उसकी परीक्षा कैसे होगी ? तथा परीक्षा के बिना उसका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण कैसे किया जा सकेगा?
2. गाथा 313 की 'आत्मख्याति' टीका में भी लिखा है कि निश्चित स्वलक्षण का ज्ञान नहीं होने के कारण ही जीव को परद्रव्यों में एकत्व का अध्यास होता है और उसी से संसार होता है। लक्षणज्ञान की यह बात भी न्यायशास्त्र का ही मुख्य विषय है।

3. गाथा 17-18 आदि की टीकाओं में स्पष्ट रूप से 'तथोपपत्ति' एवं 'अन्यथोपपत्ति' शब्द आये हैं, जो न्यायशास्त्र के ही विशेष शब्द हैं। इनसे भी सिद्ध होता है कि यहाँ प्रत्येक बात को न्यायशास्त्र की भांति हेतुपुरस्सर प्रस्तुत किया जा रहा है।
4. गाथा 44, 50-55, 177-178 की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी न्यायशास्त्र की शैली का प्रयोग हुआ है जो मूलतः द्रष्टव्य है। यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखा जा सकता।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि समयसार में न्यायशास्त्र के प्रचुर प्रयोग हुए हैं और उन्हें देखकर हमें न्यायशास्त्र के अध्ययन की प्रेरणा भी मिलती है, क्योंकि न्यायशास्त्र के अध्ययन से अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास आसान हो जाता है।

समयसार ने अनेक बड़े-बड़े बुद्धिजीवी महापुरुषों को भी प्रभावित किया है, इसका एक कारण यह भी है कि उसमें न्यायशास्त्र का प्रचुर प्रयोग हुआ है, वह न्याय/तर्क के ठोस धरातल पर स्थित है, अन्य अनेक सम्प्रदायों के अध्यात्म की भांति यूँ ही निराधार या भावुकता मात्र नहीं है।

दरअसल, अध्यात्म और न्याय दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों का परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध है, दोनों के अध्ययन से ही ज्ञान में पूर्णता आती है। कुछ लोग केवल अध्यात्म का अध्ययन करते हैं, पर न्याय का अध्ययन नहीं करते और कुछ लोग केवल न्याय का अध्ययन करते हैं, अध्यात्म का अध्ययन नहीं करते। ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। अध्यात्म के बिना न्याय का अध्ययन निष्फल/व्यर्थ है और न्याय के बिना अध्यात्म का अध्ययन असम्भव है। जो लोग अध्यात्म और न्याय का समुचित समन्वय करते हैं, उनका ही अध्ययन सफल/सार्थक होता है, वे ही भवसमुद्र को तिरते हैं।

ध्यातव्य है कि इस लेख में गाथाओं के क्रमांक आदि सर्वत्र आचार्य अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' टीका के अनुसार लिखे गये हैं। तथा उन गाथाओं को भी विस्तारभय के कारण यहाँ उद्धृत नहीं किया है। उन्हें मूल से देखना सुगम एवं विशेष लाभकर है।



जावदिया वयणपहा, तावदिया चेव होंति णयवादा ।

जावदिया णयवादा, तावदिया चेव परसमया ॥

—(आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 1/82)

अर्थ— जितने वचन हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

सर्वज्ञसिद्धि

‘सर्वज्ञसिद्धि’ दर्शनशास्त्र का एक अत्यंत प्रमुख विषय है। प्रायः सभी दर्शनों में इस विषय पर थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य डाला गया है। किन्तु इस विषय को जैसा महत्त्व और विस्तार जैन दर्शन में प्राप्त हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं हो सका। ‘सर्वज्ञसिद्धि’ जैन दर्शन का एक बहुत ही प्रधान विषय बन गया है। वहाँ इसे न्यायशास्त्र के द्वारा भी बारम्बार अनेकानेक हेतुओं द्वारा विस्तारपूर्वक सिद्ध किया गया है। जैन दर्शन के प्रायः सभी दार्शनिक, आध्यात्मिक और नैयायिक आचार्यों ने इस विषय को विशेष महत्त्व प्रदान किया है और उस पर विस्तारपूर्वक लेखनी चलाई है, क्योंकि उनके अनुसार यह विषय एक बहुत ही प्रयोजनभूत विषय है, मूलभूत विषय है, सभी को सर्वप्रथम अनिवार्यरूप से ज्ञातव्य है, इसके बिना अन्य विषय भी भलीभांति समझ में नहीं आ सकते। सर्वज्ञ तो धर्म का मूल है, उसके श्रद्धान-ज्ञान बिना धर्म की शुरुआत ही नहीं होती।

दरअसल इसमें एक बात यह भी है कि सर्वज्ञता आत्मा का अपना ही स्वभाव है, अतः इस विषय को समझने का अर्थ किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु को समझना नहीं है, अपितु अपने ही आत्मस्वभाव को भलीभांति समझना है। यह आत्मज्ञान का ही एक रूप है। जो सर्वज्ञ को नहीं जानता, वह वास्तव में अपने आत्मा को भी नहीं जानता।

आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान और सर्वज्ञ के ज्ञान-श्रद्धान का अविनाभाव सम्बन्ध है, सहभाव सम्बन्ध है। जिसे आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान होगा, उसे सर्वज्ञ का ज्ञान-श्रद्धान भी नियम से होगा ही और जिसे सर्वज्ञ का ज्ञान-श्रद्धान होगा, उसे आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान भी नियम से होगा ही। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि इनमें से किसी एक का तो ज्ञान-श्रद्धान हो जाए और दूसरे का ज्ञान-श्रद्धान न हो।

इसी प्रकार सर्व आकुलता का त्याग करके पूर्ण शांत, निराकुल, निर्भार होने के लिए भी सर्वज्ञता का समीचीन ज्ञान-श्रद्धान अनिवार्य है। सर्वज्ञता के ज्ञान-श्रद्धान बिना कोई भी व्यक्ति शांत, निराकुल, निर्भार नहीं हो सकता।

यही कारण है कि जैनाचार्यों ने इस विषय (सर्वज्ञसिद्धि) को एक मूलभूत

या प्रयोजनभूत विषय कहकर इसे सावधानी से समझने पर बहुत अधिक बल प्रदान किया है।

सर्वज्ञसिद्धि का यह विषय वैसे तो सभी जैन ग्रन्थों में, चारों ही अनुयोगों में, यत्र-तत्र-सर्वत्र मिल जाता है, किन्तु जितने व्यवस्थित रूप से यह विषय जैन-न्याय-ग्रन्थों में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता; अतः यहाँ इस विषय को जैन-न्याय-ग्रन्थों के आधार पर ही भलीभांति स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है।

जैन-न्याय-ग्रन्थों में सर्वज्ञसिद्धि का यह विषय लगभग सभी न्याय-ग्रन्थों में अनिवार्य रूप से मिलता है। यह बात अलग है कि कहीं इसे बहुत संक्षेप में कह दिया है और कहीं इसे बहुत विस्तार से कहा है। तथा कहीं-कहीं तो स्वतंत्र रूप से ही इस विषय पर प्रकरण-ग्रन्थ का भी निर्माण कर दिया है। जैसे कि आचार्य अनंतवीर्य ने इस विषय पर दो स्वतंत्र ग्रन्थ लिख दिए हैं— लघु सर्वज्ञसिद्धि और बृहत् सर्वज्ञसिद्धि।

सर्वज्ञसिद्धि के इस विषय को स्पष्ट करने के लिए समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानंद आदि आचार्यों ने आप्तमीमांसा, अष्टशती, अष्टसहस्री जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे हैं। ये ग्रन्थ सर्वज्ञसिद्धि जैसे विषय को प्रस्तुत करने के कारण ही न्याय-ग्रन्थों की सूची में परिगणित होते हैं और इस विषय को भलीभांति समझने के लिए अत्यंत उपादेय हैं।

यहाँ हम इन्हीं सबके आधार से सर्वज्ञसिद्धि के विषय को सरल-सुबोध शैली में प्रस्तुत करने का एक लघु प्रयास करते हैं। आशा है, सर्वज्ञसिद्धि जैसा गूढ़-गम्भीर विषय कुछ सरलता के साथ स्पष्ट होगा।

सर्वज्ञसिद्धि के इस विषय को जैन-न्याय-ग्रन्थों में दो भागों में विभाजित करके समझाया गया है— सामान्य सर्वज्ञसिद्धि और विशेष सर्वज्ञसिद्धि, अतः यहाँ भी उसे उसीप्रकार दो भागों में विभाजित करके प्रस्तुत करते हैं। सामान्य सर्वज्ञसिद्धि में यह सिद्ध किया जाता है कि कोई सर्वज्ञ हो सकता है, उसमें कोई बाधा नहीं है और विशेष सर्वज्ञसिद्धि में यह सिद्ध किया जाता है कि वह सर्वज्ञ अरिहंत ही है, कपिल-सुगत आदि अन्य कोई नहीं।

दरअसल, सामान्य सर्वज्ञसिद्धि और विशेष सर्वज्ञसिद्धि— ये वास्तव में सर्वज्ञसिद्धि के दो भाग नहीं हैं, अपितु दो सोपान हैं, दो स्तर हैं। पहले सामान्य सर्वज्ञसिद्धि की जाती है और उसके बाद में विशेष सर्वज्ञसिद्धि की जाती है।

सामान्य सर्वज्ञसिद्धि में मात्र इतना सिद्ध किया जाता है कि कोई सर्वज्ञ हो सकता है, उसमें किसी प्रकार की कोई तकनीकी बाधा नहीं है; क्योंकि

बहुत-से लोग यही नहीं मानते हैं कि कोई सर्वज्ञ हो भी सकता है। उनका मानना है कि सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ अनंत द्रव्यों और उनकी अनंतानन्त पर्यायों को जाननेवाला वास्तव में कोई हो ही नहीं सकता है, सम्भव ही नहीं है, यदि कहीं किसी ने ऐसा कहा भी है तो वह केवल कथनमात्र है, अतिशयोक्ति मात्र है, वस्तुस्थिति नहीं है। अतः पहले इस मान्यता का निवारण करने के लिए सामान्य सर्वज्ञसिद्धि की जाती है कि सर्वज्ञ हो तो सकता है, उसमें किसी भी तरह की कोई बाधा नहीं है।

इसके बाद जब यह भलीभांति स्थापित हो जाता है कि कोई सर्वज्ञ हो तो सकता है, उसमें कोई बाधा नहीं है, तब विशेष सर्वज्ञसिद्धि की जाती है। विशेष सर्वज्ञसिद्धि में यह सिद्ध किया जाता है कि सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता है, है भी। तथा वह अन्य कोई नहीं, अरिहंत ही है। क्योंकि बहुत-से लोग सर्वज्ञ हो सकता है— इस बात को सिद्धांततः स्वीकार करके भी यह नहीं स्वीकार कर पाते हैं कि सर्वज्ञ वास्तव में है भी। वे यही कहते रहते हैं कि ठीक है, हो तो सकता है, उसमें सिद्धांतगत कोई बाधा नहीं है, लेकिन प्रायोगिक रूप से ऐसा कोई पुरुष नहीं है। अथवा हम निर्णयपूर्वक नहीं कह सकते हैं कि अरिहंत ही सर्वज्ञ हैं। अतः इस तरह की मान्यता का निराकरण करने के लिए विशेष सर्वज्ञसिद्धि की जाती है।

इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से सर्वज्ञसिद्धि करना अनिवार्य है, मात्र एक ही पर्याप्त नहीं है। सामान्य सर्वज्ञसिद्धि से अन्य कुछ विशेष नहीं तो यह लाभ तो सर्वप्रथम अवश्य होता ही है कि इससे वादी का यह आग्रह तो समाप्त होता है कि सर्वज्ञ है ही नहीं, होता ही नहीं, हो ही नहीं सकता। वह भले ही अभी यह स्वीकार न करे कि सर्वज्ञ होता है, लेकिन वह यह भी नहीं कह सके कि सर्वज्ञ नहीं होता है। सर्वज्ञ नहीं होता— यह कहने के लिए भी कुछ आधार चाहिए, निराधार तो नहीं कहा जा सकता न ! जो व्यक्ति निराधार ही ऐसा दावा करते हैं कि सर्वज्ञ है ही नहीं, होता ही नहीं, हो ही नहीं सकता, वे घोर अज्ञान-अन्धकार-ग्रस्त हैं, जैसा कि आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/1/8 (पृष्ठ 1/54) में कहा है—

तत्र नास्त्येव सर्वज्ञो ज्ञापकानुपलंभनात् ।

व्योमांभोजवदित्येतत्तमस्तमविजृम्भितम् ॥

अर्थ— सर्वज्ञ नहीं ही है, क्योंकि उसका ज्ञापक उपलब्ध नहीं है, आकाश-कुसुम के समान— ऐसा कहना घोर अज्ञान-अन्धकार का परिणाम है।

सामान्य सर्वज्ञसिद्धि

सामान्य सर्वज्ञसिद्धि के लिए जैनाचार्यों ने मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन

तर्क दिये हैं, जिन पर हमें बहुत ही गम्भीरता से चिन्तन करना चाहिए—

1. आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है, क्योंकि उसका स्वभाव ज्ञान (जानना) है। स्वभाव में सीमा नहीं होती। जैसे अग्नि सबको जलाती है, पानी सबको भिगोता है, उसी प्रकार ज्ञान सबको जानता है। तथा जिस प्रकार आत्मा में ज्ञातृत्व है, उसी प्रकार जगत् के सर्व पदार्थों में ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) है। ऐसी स्थिति में ज्ञान यदि शुद्ध हो तो सकल ज्ञेयों को अवश्य ही जानेगा। दाहक किस दाह्य को नहीं जलाएगा? वह तो अनिवार्यतः सबको जलाएगा ही। उसीप्रकार ज्ञायक/ज्ञाता किस ज्ञेय को नहीं जानेगा? वह तो सबको अनिवार्यतः जानेगा ही।

सभी पदार्थों का ज्ञेयत्व हमें स्वयं भी अनुभव में आता है। उसे प्रत्यक्ष होने की ही आवश्यकता नहीं है, उसे अनुमान से भी जाना जा सकता है, क्योंकि सभी पदार्थ अनुमेय हैं। तथा जो अनुमेय होता है, वह प्रत्यक्ष भी होता है।

जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष हैं ही, परोक्ष भी किसी-न-किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे सभी अनुमेय हैं। (सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः।। —आप्तमीमांसा, 5)

2. सर्वज्ञता के बाधक तत्त्व दो हैं— अज्ञान (आवरण) और रागादि (दोष)। इनका उचित साधनों द्वारा शनैः-शनैः क्षय होता देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि किसी के इनका पूर्ण क्षय भी हो सकता है। जिसके हो जाए वही सर्वज्ञ है। जिसप्रकार स्वर्ण की अशुद्धि ताव देते-देते अंततोगत्वा पूर्ण क्षय हो ही जाती है और स्वर्ण पूर्ण शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार आत्मा की अशुद्धि भी उचित साधनों द्वारा अंततोगत्वा पूर्ण क्षय हो ही जाती है और आत्मा पूर्ण शुद्ध हो जाता है। पूर्ण शुद्ध आत्मा अज्ञान (आवरण) और रागादि (दोष) से रहित होता है। वही सर्वज्ञ है। (दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः।। —आप्तमीमांसा, 4)
3. सर्वज्ञ होने में किसी प्रकार का कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता। प्रत्यक्ष या अनुमान — किसी से भी सर्वज्ञ होने में किसी प्रकार की कोई बाधा सिद्ध नहीं होती।

कोई कहता है कि प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ नहीं दिखाई देता —यह बाधा है न? तो जैनाचार्य उससे पूछते हैं कि सर्वज्ञ इस देश इस काल में नहीं दिखाई देते या सर्व देश सर्व काल में नहीं दिखाई देते? यदि इस देश इस काल में नहीं दिखाई देते तो यह कोई बात नहीं हुई, यह तो हम भी मानते हैं; किन्तु यदि तू यह कहता है कि सर्वज्ञ सर्व देश सर्व काल में ही नहीं दिखाई

देते तो हमें बता कि तू सर्व देश सर्व काल को देखकर कहता है या बिना देखे? यदि बिना देखे कहता है तो तेरी बात अप्रामाणिक रही और यदि देखकर कहता है तो तू ही सर्वज्ञ सिद्ध हुआ।

पुनश्च, वह कहता है कि अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि में बाधा आती है और वह इस प्रकार है— कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि वह पुरुष है। उससे पूछते हैं कि पुरुषत्व तीन प्रकार का होता है— रागादि से अदूषित पुरुषत्व, रागादि से दूषित पुरुषत्व और पुरुषत्व सामान्य। तुम किसकी बात कर रहे हो? यदि प्रथम की बात कर रहे हो तो तुम्हारा हेतु विरुद्ध है, क्योंकि रागादि से अदूषित पुरुषत्व सर्वज्ञता के बिना सम्भव नहीं है। यदि द्वितीय की बात कर रहे हो तो तुम्हारा हेतु सिद्धसाध्य है, क्योंकि रागादि से दूषित पुरुष को हम ही सर्वज्ञ नहीं मानते। और यदि तृतीय की बात कर रहे हो तो तुम्हारा हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति है, क्योंकि सर्वज्ञत्व के साथ पुरुषत्व का कोई विरोध नहीं है।

इसप्रकार उक्त तर्कों से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि सर्वज्ञ होना सम्भव है, सर्वज्ञ की सत्ता अवश्य ही है, उसमें सिद्धांततः किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भी विविध अकाट्य तर्क सामान्य सर्वज्ञसिद्धि के लिए जैन आचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं। यथा—

1. 'सर्वज्ञ' शब्द है तो 'सर्वज्ञ' नाम का अर्थ भी अवश्य होना चाहिए।
2. यदि शुद्धात्मा सर्वज्ञ न हो तो वह शुद्ध/निर्दोष भी सिद्ध नहीं हो सकता।
3. यदि शुद्धात्मा सर्वज्ञ न हो तो वह वास्तव में एकज्ञ भी नहीं हो सकता।

विशेष सर्वज्ञसिद्धि

सामान्य सर्वज्ञसिद्धि के उपरांत विशेष सर्वज्ञसिद्धि हेतु जैनाचार्यों ने मुख्य रूप से एक ही खास बात बहुत जोर देकर कही है कि—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥

—(आचार्य समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, 6)

इसका आशय इसप्रकार है कि—

अरिहंत ही सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं। कपिलादि सर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि वे निर्दोष नहीं हैं, सदोष हैं।

अरिहंत निर्दोष हैं, क्योंकि उनके वचन युक्ति-शास्त्र से अबाधित हैं। कपिलादि

निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि उनके वचन युक्ति-शास्त्र से बाधित हैं।

मैं समझता हूँ कि यह बात बहुत ही ठोस है, अकाट्य है, हमें इस पर बहुत गम्भीरता से बारम्बार चिन्तन करना चाहिए। यह जैनाचार्यों की एक बहुत ही बड़ी देन है। इससे सर्वज्ञसिद्धि जैसा गूढ़-गंभीर विषय हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गया है। सर्वज्ञता को वचनों से समझने की यह एक अद्भुत, किन्तु सफल कोशिश है। यथा—

जिसके वचन युक्ति-शास्त्र-विरोधी हैं, वह निर्दोष नहीं हो सकता, वह तो नियम से सदोष (दोषावरण-सहित) ही होगा। और जो सदोष होगा, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। कपिलादि इसीलिए सर्वज्ञ नहीं हो सकते, क्योंकि उनके वचन युक्ति-शास्त्र-विरोधी हैं। तथा अरिहंत इसीलिए सर्वज्ञ हैं, क्योंकि उनके वचन युक्ति-शास्त्र-अविरोधी हैं।

अंत में, हम सभी सर्वज्ञसिद्धि के इस महत्त्वपूर्ण विषय को भलीभाँति समझ जाएँ— इसी पवित्र भावना के साथ अपनी वाणी को विराम देता हूँ। ❖❖

केवलज्ञान का स्वरूप

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रुवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं॥

—(आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 29)

अर्थ— जैसे आंख रूप को पदार्थों में प्रविष्ट होकर भी और नहीं होकर भी भलीभाँति जानती-देखती है, उसी प्रकार केवलज्ञानी आत्मा समस्त जगत को ज्ञेयों में प्रविष्ट होकर भी और नहीं होकर भी निश्चित रूप से जानते-देखते हैं।

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्जसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णामत्येसु॥

—(आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 30)

अर्थ— जैसे इस जगत में दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा के द्वारा उस दूध को व्याप्त करके रहता है, उसी प्रकार केवलज्ञान सभी ज्ञेय पदार्थों में व्याप्त होकर रहता है।

जो ण विजाणदि जुगवं अत्ये तिक्कालिगे तिहुवणत्ये।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दब्बमेगं वा॥

—(आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 48)

अर्थ— जो ज्ञान एक साथ तीन लोक, तीन काल के पदार्थों को नहीं जानता है, वह सर्वपर्याय सहित एक द्रव्य को भी नहीं जान सकता है।

सर्वज्ञसिद्धि : महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

प्रश्न— सर्वज्ञसिद्धि के सामान्य सर्वज्ञसिद्धि और विशेष सर्वज्ञसिद्धि —ऐसे दो भेद करने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर— दरअसल, कुछ लोग तो यहीं बुरी तरह अटके रहते हैं कि सर्वज्ञ कोई हो ही नहीं सकता, सम्भव ही नहीं है; अतः ऐसे लोगों का यह दुराग्रह छुड़वाने के लिए पहले सामान्य सर्वज्ञसिद्धि करना आवश्यक है। सामान्य सर्वज्ञसिद्धि में पहले सामने वाले को अनेक तर्कों से यह समझाया जाता है कि कोई आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है, ऐसा होना सम्भव है, असम्भव नहीं है। तथा जब वह इस बात को नहीं मानता है, अपने दुराग्रह पर ही अडिग रहता है तो उससे यह भी कहा जाता है कि अच्छा चलो, तुम सिद्ध करो कि सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इस पर वह यह भी सिद्ध नहीं कर पाता है कि सर्वज्ञ नहीं हो सकता है तो उसका दुराग्रह टूट जाता है और उसमें सर्वज्ञ को समझने की पात्रता उत्पन्न हो जाती है।

प्रश्न— विशेष सर्वज्ञसिद्धि में क्या सिद्ध किया जाता है?

उत्तर— विशेष सर्वज्ञसिद्धि में यह सिद्ध किया जाता है कि अरिहंत ही सर्वज्ञ हैं, कपिलादि नहीं।

प्रश्न— हम कैसे जान सकते हैं कि अरिहंत ही सर्वज्ञ हैं, कपिलादि नहीं? इसका प्रमाण क्या है?

उत्तर— अनुमान प्रमाण के द्वारा हम जान सकते हैं कि अरिहंत ही सर्वज्ञ हैं, कपिलादि नहीं। अनुमान बहुत बलवान प्रमाण होता है, कोई साधारण बात नहीं होती।

प्रश्न— वह कौन-सा अनुमान है जिससे हम यह भलीभाँति जान सकते हैं कि अरिहंत ही सर्वज्ञ हैं, कपिलादि नहीं।

उत्तर— वह अनुमान यह है कि अरिहंत ही निर्दोष-निरावरण हैं, क्योंकि वे यथार्थवादी हैं। कपिलादि निर्दोष-निरावरण नहीं हैं, क्योंकि वे यथार्थवादी नहीं हैं।

प्रश्न— अरिहंत ही यथार्थवादी हैं, कपिलादि यथार्थवादी नहीं हैं —इसका क्या हेतु है?

उत्तर— अरिहंत ही यथार्थवादी हैं, कपिलादि यथार्थवादी नहीं —इसका हेतु

यह है कि अरिहंत के ही वचन युक्तिशास्त्राविरोधी या दृष्टेष्ट-अविरोधी हैं, कपिलादि के वचन युक्तिशास्त्राविरोधी या दृष्टेष्ट-अविरोधी नहीं।

प्रश्न— दृष्टेष्ट-अविरोधी का क्या अर्थ है?

उत्तर— दृष्ट का अर्थ है प्रत्यक्ष और इष्ट का अर्थ है अनुमान आदि। अरिहंत के ही वचन दृष्टेष्ट-अविरोधी हैं —इसका अर्थ हुआ कि अरिहंत के वचन प्रत्यक्ष और अनुमान आदि से अविरोधी है। दृष्टेष्ट-अविरोधी को हम प्रमाण-अविरोधी भी कह सकते हैं। तात्पर्य है कि अरिहंत के वचन प्रमाणसंगत हैं, युक्तिसंगत हैं, प्रमाणविरुद्ध नहीं हैं, युक्तिविरुद्ध नहीं हैं। किन्तु कपिलादि के वचन दृष्टेष्ट-विरोधी हैं, प्रमाणविरोधी हैं, युक्तिविरुद्ध हैं।

प्रश्न— अरिहंत के ही वचन यथार्थ हैं, कपिलादि के वचन यथार्थ नहीं —इसका क्या हेतु है?

उत्तर— अरिहंत के ही वचन यथार्थ हैं, कपिलादि के वचन यथार्थ नहीं —इसका हेतु यह है कि अरिहंत के ही वचन स्याद्वाद-मुद्रांकित हैं, कपिलादि के वचन नहीं, कपिलादि के वचन तो एकान्तरूप हैं।

प्रश्न— स्याद्वादी ही यथार्थवादी होता है, एकांतवादी यथार्थवादी नहीं —इसका क्या हेतु है?

उत्तर— स्याद्वादी ही यथार्थवादी होता है, एकांतवादी यथार्थवादी नहीं होता, क्योंकि वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है, एकान्तात्मक नहीं है।

प्रश्न— वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है —इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर— हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि वस्तु में एक साथ सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि अनेक परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्म रहते हैं। कोई भी व्यक्ति उन्हें सरलता से जान सकता है, सिद्ध कर सकता है। एकान्तरूप वस्तु में किसी प्रकार की कोई अर्थक्रिया ही घटित नहीं हो सकती, बन्ध-मोक्षादि की भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। अन्य भी अनेक महादोष एकान्तवाद में उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न— यहाँ सर्वज्ञसिद्धि के लिए अरिहंत के यथार्थवादित्व (सत्यवादित्व) को हेतु बनाया गया है तो क्या सर्वज्ञ को यथार्थवादी होना अनिवार्य है? क्या कोई अयथार्थवादी (मिथ्यावादी) सर्वज्ञ नहीं हो सकता है?

उत्तर— अयथार्थ (मिथ्या) कथन करने के दो ही कारण होते हैं— राग-द्वेष एवं अज्ञान। अन्य तीसरा कोई कारण नहीं होता। अतः मिथ्यावादी निश्चित रूप से दोषावरण से सहित सिद्ध होता है। जो दोषावरण से सहित है, वह सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न— जो सत्यवादी हो वह भी तो असर्वज्ञ हो सकता है, फिर सत्यवादित्व को सर्वज्ञता का हेतु कैसे बनाया जा सकता है?

उत्तर— आपने विपरीत व्याप्ति लगाने का प्रयास किया है। सीधी व्याप्ति यहाँ यह है कि जो सर्वज्ञ होगा, वह सत्यवादी ही होगा, मिथ्यावादी नहीं हो सकता।

इसप्रकार यहाँ सर्वप्रथम आप्त की हितोपदेशिता सिद्ध की गई, उसके बाद हितोपदेशिता से उनकी निर्दोषता सिद्ध की गई और फिर निर्दोषता से उनकी सर्वज्ञता सिद्ध की गई। प्रतीत होता है कि इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरणश्लोक में आप्त के तीन गुणों का क्रम यह रखा गया है— हितोपदेशिता, वीतरागता, सर्वज्ञता।

आचार्य विद्यानंद स्वामी ने भी अपनी आप्तपरीक्षा में इस क्रम के अनुसार प्रथम अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि, द्वितीय अर्हत्कर्मभूद्भेदतृत्वसिद्धि और तृतीय अर्हन्मोक्षमार्ग नेतृत्वसिद्धि को लिखा है।

प्रश्न— सामान्य सर्वज्ञसिद्धि के प्रकरण में एक अतिशायन हेतु दिया गया है। कहा गया है कि रागादि घटते जाते हैं और ज्ञानादि बढ़ते जाते हैं —इससे सिद्ध होता है कि एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि जब रागादि का पूर्ण अभाव हो जाए और ज्ञानादिक का पूर्ण विकास हो जाए। यहाँ प्रश्न है कि यह बात विपरीत भी तो हो सकती है कि ज्ञानादि का पूर्ण अभाव हो जाए और रागादिक का पूर्ण विकास हो जाए?

उत्तर— रागादि आत्मा के विभाव हैं और ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं। स्वभाव का पूर्ण अभाव कभी नहीं होता।

प्रश्न— यह भी तो हो सकता है कि रागादि आत्मा के स्वभाव हों और ज्ञानादि आत्मा के विभाव?

उत्तर— नहीं, रागादि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। स्वभाव और विभाव में बड़ा अंतर होता है। जो स्वभाव हो वह दुःख का कारण नहीं हो सकता, बन्ध का कारण नहीं हो सकता। रागादि दुःख के कारण हैं, बन्ध के कारण हैं —इससे सिद्ध होता है कि वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। रागादि परलक्ष्य से ही होते हैं, उसके बिना नहीं होते —इससे भी सिद्ध होता है कि वे आत्मा के विभाव हैं, स्वभाव नहीं। जिस प्रकार उष्णता जल का स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह अग्नि के संयोग से आती है, उसीप्रकार रागादि भी आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि वे कर्म के उदय से होते हैं।

प्रश्न— अतिशायन का अर्थ क्या है?

उत्तर— अतिशायन अर्थात् प्रकर्ष, वृद्धि, रागादि के अपकर्ष से ज्ञानादि का

प्रकर्ष। जैसे-जैसे रागादि घटते जाते हैं, वैसे-वैसे ज्ञानादि बढ़ते जाते हैं, उनका प्रकर्ष होता है। रागादि की हानि के साथ ज्ञानादिक की वृद्धि का नियम है। स्वर्ण की भांति।

प्रश्न— माना कि रागादि का पूर्ण अभाव हो सकता है, किन्तु रागादि के पूर्ण अभाव से सर्वज्ञता प्रकट हो ही —यह अनिवार्य नहीं है, क्योंकि रागादि (दोषावरण) का अभाव तो पाषाणादि में भी हो जाता है?

उत्तर— पाषाणादि का दृष्टान्त यहाँ उचित नहीं है, क्योंकि पाषाणादि में से तो आत्मा का ही अभाव हो गया है, वहाँ आत्मा ही नहीं रहा है, आत्मा तो वहाँ से कहीं अन्यत्र चला गया है। यहाँ तो आत्मा में से रागादि के अभाव की बात कही जा रही है, विभावों के विनाश की बात कही जा रही है। जिस आत्मा में से रागादि विभावों का अभाव होगा, वह अवश्य ही पूर्ण शुद्ध होगा और उसमें सर्वज्ञता प्रकट होगी ही।

प्रश्न— सामान्य सर्वज्ञसिद्धि के प्रकरण में एक हेतु यह दिया गया है कि सूक्ष्म-अंतरित-दूरवर्ती सभी पदार्थ अनुमेय हैं —इससे सिद्ध होता है कि वे किसी के प्रत्यक्ष भी अवश्य हैं। सो यह कैसे है? यह भी तो हो सकता है कि वे किसी के भी प्रत्यक्ष न हों। जो-जो अनुमेय होगा वह सब प्रत्यक्ष हो ही —यह अनिवार्य तो नहीं।

उत्तर— यह सामान्य सर्वज्ञसिद्धि का प्रकरण है। यहाँ केवल इतना सिद्ध किया जा रहा है कि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हो सकते हैं, उसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है, क्योंकि कुछ लोग यह स्थापित करते हैं कि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकते हैं, उन्हें तो केवल वेद आदि ही जान सकते हैं, इत्यादि। यथा मीमांसक कहते हैं— ‘चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टमवगमयति’। अतएव यहाँ जैन आचार्य कह रहे हैं कि दुनिया में दो प्रकार के पदार्थ हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष पदार्थ तो प्रत्यक्ष हैं ही, परोक्ष पदार्थ भी जो कि सूक्ष्म, अंतरित, दूर के भेद से तीन प्रकार के हैं, प्रत्यक्ष सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे सब अनुमेय हैं। अनुमेय वही हो सकता है जो प्रत्यक्ष होता हो। प्रत्यक्ष के बिना अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती। परीक्षामुखसूत्र में भी कहा गया है कि— ‘प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृति-प्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्’ अर्थात् स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये सब प्रत्यक्षपूर्वक ही होते हैं। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि अनुमेय (परोक्ष) पदार्थ भी प्रत्यक्ष हो सकते हैं, उसमें कोई बाधा नहीं है।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि वेद ही सब पदार्थों को जान सकता है, उन्हें जैन आचार्य एक तर्क यह भी देते हैं कि यदि आपकी यह बात मानी जाए तब भी यह तो सिद्ध हो ही गया कि सब पदार्थ ज्ञेय हैं, प्रमेय हैं, उनमें ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व

अवश्य है। यदि नहीं होता तो वे वेद के द्वारा भी नहीं जाने जा सकते थे।

इस प्रकार यहाँ यह स्थापित किया गया है कि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष जाने जा सकते हैं। नहीं जाने जा सकते हों— ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न— आप्तमीमांसा की तीसरी कारिका में कहा है कि सभी मतों और उनके प्रणेताओं में परस्पर विरोध पाया जाता है —इससे सिद्ध होता है कि उनमें से कोई एक ही सत्य है। सो यह कैसे है? यह भी तो हो सकता है कि उनमें से एक भी सत्य न हो, वे सभी मिथ्या हों?

उत्तर— दरअसल, वहाँ पहले सभी मतों को दो भागों में विभाजित कर लिया गया है— एकान्तरूप और अनेकान्तरूप। उसके बाद आचार्य कहते हैं कि इनमें परस्पर विरोध है, अतः सिद्ध होता है कि इनमें से कोई एक ही सत्य हो सकता है, दोनों सत्य नहीं हो सकते। दोनों मिथ्या भी नहीं हो सकते और दोनों सत्य भी नहीं हो सकते। जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश दोनों में विरोध है, उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्त में परस्पर विरोध है। यदि एकांत सत्य है तो अनेकांत मिथ्या है और यदि अनेकांत सत्य है तो एकांत मिथ्या है। कोई एक ही सत्य हो सकता है।

प्रश्न— सर्वज्ञता के सम्बन्ध में नियमसारादि में ऐसा भी तो लिखा है कि वह व्यवहार से ही होती है, निश्चय से तो केवलज्ञानी केवल अपनी आत्मा को ही जानते हैं?

उत्तर— पराश्रित कथनों को जिनागम में व्यवहार कहने की शैली है, अतः वहाँ ऐसा लिखा है। उसका अभिप्राय यही है कि केवलज्ञानी पर के साथ तन्मय नहीं होते। यह अभिप्राय नहीं है कि वे पर को जानते ही नहीं हैं। यह अभिप्राय वहीं कुछ आगे-पीछे की गाथाओं और उनकी टीका को पढ़कर भी अत्यंत स्पष्ट हो जाता है तथा अन्यत्र भी अनेक ग्रन्थों में यही स्पष्टीकरण किया गया है (देखें— जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, पृष्ठ 2/153)। दरअसल बात यह है कि यदि केवलज्ञानी पर को उसके साथ तन्मय होकर जानते हों तो उन्हें उसमें सुख-दुःख का भी अनुभव होगा, जो कि बिलकुल नहीं होता। अनुभव तो उन्हें केवल अपनी आत्मा के आनन्द का ही होता है। इस बात को पं. दौलतरामजी ने बहुत अच्छा लिखा है— “सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रस लीन।” —(स्वानुभूत्या चकासते)

प्रश्न— अनेक ग्रन्थों में ऐसा भी लिखा है कि जो आत्मज्ञ है वही सर्वज्ञ है तो उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर— यह एक आध्यात्मिक कथन है, जो आत्मज्ञान की प्रबल प्रेरणा देने के लिए किया गया है। इसका अभिप्राय है कि सभी शास्त्रों का सार एक आत्मा ही है। जिसने उस आत्मा को नहीं जाना उसने अन्य बहुत जाना हो तब भी समझो कि कुछ नहीं जाना और जिसने उस आत्मा को जान लिया उसने अन्य

कुछ भी नहीं जाना हो तब भी समझो कि सब जान लिया। अथवा इसका अभिप्राय यह भी है कि अब वह शीघ्र ही सर्वज्ञ होनेवाला है। अथवा इसका अभिप्राय यह भी है कि वह व्याप्तिज्ञान से सर्वज्ञ हो गया है। यह सब परमात्मप्रकाश 1/99 की संस्कृत-टीका में स्पष्ट लिखा है। अतः उक्त कथन का ऐसा अभिप्राय बिल्कुल नहीं समझना चाहिए कि सर्व द्रव्य-पर्यायों को जाननेवाला सर्वज्ञ कोई नहीं है।

प्रश्न— जिस प्रकार श्रुत के माध्यम से आत्मा को जानने वाले को श्रुतकेवली कहते हैं, उसी प्रकार लोकालोक में सारभूत आत्मा को जानने वाले को लोकालोकज्ञ कहते हैं, यदि ऐसा कहा जाए तो क्या दोष है?

उत्तर— पूर्व प्रश्न के उत्तर में बताई गई आध्यात्मिक विवक्षा के अनुसार तो ऐसा कहा जा सकता है। उसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु इस कथन का अभिप्राय ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सर्व द्रव्य-पर्यायों को जाननेवाला सर्वज्ञ कोई है ही नहीं, केवल आत्मज्ञ को ही सर्वज्ञ कहा गया है, इत्यादि।

प्रश्न— क्या सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने रूप सर्वज्ञता को स्वीकार करना अनिवार्य है? उसके बिना आत्महित नहीं हो सकता?

उत्तर— सर्वज्ञता को स्वीकार करना अनिवार्य ही है, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। आत्मस्वभाव को जाने बिना आत्महित कैसे हो सकता है?

प्रश्न— क्या सिंह आदि पशुओं को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई तो उन्होंने सर्वज्ञता को स्वीकार किया था?

उत्तर— हाँ, अवश्य किया था। भले ही वे उसे ठीक से शब्दों में व्यक्त न कर सकें, उसका पूरा विवरण प्रस्तुत न कर सकें, परन्तु उन्हें आत्मस्वभाव की अनुभूति हुई थी और उसी में सर्वज्ञता की स्वीकृति गर्भित हो जाती है। मैं ज्ञानादि गुणों का धारी अनंत शक्तिशाली परमात्मा हूँ —ऐसा ज्ञान-श्रद्धान उन्हें भी स्पष्ट हो जाता है। ❖❖

सर्वज्ञता के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों का मत

सांख्य-योग दर्शन	— सर्वज्ञता मुक्त जीव की एक विशेष विभूति है।
न्याय-वैशेषिक दर्शन	— महेश्वर सर्वज्ञ ही है, सर्वज्ञता मुक्त जीव का एक गुण है।
मीमांसा दर्शन	— सर्वज्ञ कोई पुरुष नहीं हो सकता, वेद ही हो सकता है।
वेदान्त दर्शन	— ब्रह्म सर्वज्ञ है।
बौद्ध दर्शन	— आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है।
चार्वाक दर्शन	— सर्वज्ञ दुनिया में कोई नहीं है।
जैन दर्शन	— सर्वज्ञता प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है, जो उसके शुद्ध होते ही प्रकट हो जाता है।

ख्यातिवाद : प्रमेयकमलमार्तण्ड के प्रकाश में

ख्यातिवाद प्रायः सभी भारतीय दर्शनों का एक प्रमुख विषय है, परन्तु जैन-ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवेचन मुख्यतः प्रभाचन्द्राचार्य के प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र में ही देखने को मिलता है। यद्यपि ज्ञानमीमांसा हेतु इस विषय को भी समझना बहुत आवश्यक है, परन्तु वर्तमान में अनेक लोग इस विषय को कठिन प्रतीत होने के कारण छोड़ देते हैं। यहाँ तक कि प्रमेयकमलमार्तण्ड जो विभिन्न विश्वविद्यालयों में निर्धारित पाठ्यग्रन्थ है, के छात्र और अध्यापक भी इस विषय की कठिन होने के कारण उपेक्षा करते देखे जाते हैं। अतः यहाँ प्रस्तुत आलेख द्वारा इसी विषय को सरलतापूर्वक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। आलेख का मुख्य आधार ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ को ही बनाया गया है। आशा है विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्रों को भी इससे लाभ होगा।

कहा जा चुका है कि ख्यातिवाद ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित विषय है। ज्ञान दो प्रकार का है— सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। इनमें से ख्यातिवाद का सम्बन्ध मिथ्याज्ञान से है। मिथ्याज्ञान भी तीन प्रकार का है— संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। इनमें से भी ख्यातिवाद का सम्बन्ध मात्र विपर्ययज्ञान से है।

विपरीत एक कोटि का निश्चय विपर्ययज्ञान कहलाता है। जैसे रस्सी में सर्प का अथवा सीप में चाँदी का ज्ञान होना विपर्ययज्ञान है। ख्याति का अर्थ होता है— प्रसिद्धि। ख्यातिवाद का मूलभूत विचारणीय विषय यही है कि इस विपर्ययज्ञान में किसकी प्रसिद्धि होती है? सत् की, असत् की, दोनों की अथवा किसी की नहीं? बस, इसी प्रश्न का उत्तर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से पृथक्-पृथक् दिया है। फलस्वरूप इस विषय में अनेक वाद निर्मित हो गये हैं। यथा— अख्यातिवाद, असत्ख्यातिवाद, प्रसिद्धार्थख्यातिवाद, आत्मख्यातिवाद, अनिर्वचनीयार्थ ख्यातिवाद, विवेकाख्यातिवाद या स्मृतिप्रमोषवाद और विपरीतार्थख्यातिवाद। ख्यातिवाद के प्रकरण में आचार्य प्रभाचन्द्र ने इन सभी मतों की गम्भीर समीक्षा प्रस्तुत की है। यथा—

अख्यातिवाद

चार्वाक कहते हैं कि विपर्ययज्ञान अख्यातिरूप होता है, क्योंकि उसमें किसी

की भी ख्याति (प्रसिद्धि) नहीं होती।

उनके अनुसार विपर्ययज्ञान निरावलम्बन होता है, उसका कोई आलम्बन नहीं होता। अर्थात् जब हमें सीप में चाँदी अथवा मरीचिका में जल का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान का विषय न तो सीप होता है और न ही चाँदी, अथवा न तो मरीचिका होती है और न ही जल। अतः विपर्यय ज्ञान अख्यातिरूप होता है।

परन्तु चार्वाक का ऐसा मानना समीचीन नहीं है, क्योंकि यदि विपर्ययज्ञान में किसी भी पदार्थ की ख्याति नहीं होती तो उसका ‘यह चाँदी है’ अथवा ‘यह मरीचिका है’ अथवा ‘यह रस्सी है’ इत्यादि रूप से विशेष कथन सम्भव नहीं होता, जो होता ही है तथा विपर्ययज्ञान निरावलम्बन नहीं है, क्योंकि उसमें प्रतिभासित होने वाला पदार्थ उसका आलम्बन होता है। जैसे— जब सीप में चाँदी का विपर्ययज्ञान हो तब उसका आलम्बन चाँदी है और वहाँ उस चाँदी की स्पष्टतया ख्याति हो रही है।

अतः विपर्ययज्ञान को अख्यातिरूप मानना तर्कसंगत नहीं है।

असत्ख्यातिवाद

सौत्रान्तिक और माध्यमिक (बौद्ध दार्शनिक) कहते हैं कि विपर्ययज्ञान असत्ख्याति रूप होता है क्योंकि उसमें असत् — अविद्यमान अर्थ की ख्याति (प्रसिद्धि) होती है। जैसे— सीप में चाँदी का ज्ञान हुआ, वहाँ चाँदी स्पष्ट ही असत् अर्थ है, अविद्यमान अर्थ है और उस असत् या अविद्यमान अर्थ की ख्याति कराने वाला होने से विपर्ययज्ञान असत्ख्याति रूप है।

परन्तु उनका यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि विपर्ययज्ञान में प्रतिभासित होने वाला अर्थ सर्वथा असत् नहीं होता। यदि सर्वथा असत् अर्थ का भी प्रतिभास होता हो तो आकाश-पुष्प आदि का भी हो, जो कथमपि नहीं होता। तथा यदि देखा जाय तो यह कथन ही कि ‘असत् की ख्याति होती है’ —पूर्वापरविरोधयुक्त है। असत् भी है और उसकी ख्याति भी होती है— यह कैसी विरुद्ध बात?

अतः विपर्ययज्ञान को असत्ख्यातिरूप मानना भी युक्तिसंगत नहीं है।

प्रसिद्धार्थख्यातिवाद-

सांख्य कहते हैं कि विपर्ययज्ञान प्रसिद्धार्थख्यातिरूप होता है, क्योंकि उसमें प्रतिभासित अर्थ सर्वथा प्रसिद्ध (सत् या विद्यमान) होता है। जैसे— सीप में चाँदी का ज्ञान होने पर वहाँ वस्तुतः ही चाँदी विद्यमान होती है। यद्यपि उत्तर काल में वहाँ चाँदीरूप अर्थ उपलब्ध नहीं होता है, तथापि जिस समय उसका प्रतिभास होता है उस समय तो वह सत् (विद्यमान) ही रहता है।

परन्तु सांख्यों का उक्त कथन भी समीचीन नहीं है, मिथ्या ही है, क्योंकि

यदि इस प्रकार से सभी ज्ञानों को प्रसिद्ध अर्थ का ग्राहक माना जाय तो फिर कौन ज्ञान भ्रान्त कहलाएगा? सब ज्ञान अभ्रान्त ही कहलाएंगे। तथा इस प्रकार से कौन ज्ञान भ्रान्त और कौन ज्ञान अभ्रान्त –इसकी कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। तथा यदि पूर्वकाल में अर्थ सत् था और उत्तर काल में उसका अभाव हो गया तो वह कैसे हुआ— यह स्पष्ट करना चाहिए, जो नहीं किया जा सकता। तथा यदि प्रतिभासित जलादि अर्थ सत् होते हैं और उत्तर काल में उनका अभाव हो जाता है तो भूमि में आर्द्रता आदि उनके चिह्न तो अवश्य उपलब्ध होने चाहिए थे, क्योंकि जलादि पदार्थों का तत्काल निरन्वय विनाश नहीं देखा जाता।

अतः विपर्ययज्ञान को प्रसिद्धार्थख्याति रूप मानना भी ठीक नहीं है।

आत्मख्यातिवाद-

विज्ञानाद्वैतवादी या योगाचार (बौद्ध) कहते हैं कि विपर्ययज्ञान आत्मख्यातिरूप होता है, क्योंकि उसमें जिस अर्थ का प्रतिभास होता है वह कोई अन्य नहीं, अपितु उस ज्ञान का अपना ही आकार है, परन्तु अनादिकालीन अविद्या के कारण बाह्य अर्थ जैसा प्रतीत होता है। परन्तु विज्ञानाद्वैतवादी का उक्त कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि यदि इस प्रकार से सब ज्ञानों को आत्मख्याति रूप ही माना जाएगा तो कोई भी ज्ञान भ्रान्त सिद्ध नहीं होगा, सब ज्ञान अभ्रान्त ही सिद्ध होंगे। तथा यदि विपर्ययज्ञान में प्रतिभासित चाँदी आदि पदार्थ आत्मरूप (ज्ञानरूप) ही हैं तो उनकी प्रतीति सुखादि की भाँति अन्तरंग अर्थ रूप से ही होनी चाहिए। बाह्य अर्थ रूप से नहीं होनी चाहिए, जबकि स्पष्ट ही उनकी प्रतीति बाह्य अर्थ रूप से होती है। वस्तुतः आत्मख्यातिवाद तभी समीचीन सिद्ध हो सकता है जब पहले विज्ञानाद्वैतवाद सिद्ध हो, जो कथमपि नहीं होता।

अतः विपर्यय ज्ञान को आत्मख्याति रूप मानना भी न्यायसंगत नहीं है।

अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि विपर्ययज्ञान अनिर्वचनीयार्थख्याति रूप होता है, क्योंकि उसमें प्रतिभासित अर्थ को सत् भी नहीं कहा जा सकता, असत् भी नहीं कहा जा सकता और उभय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन तीनों ही पक्षों में दोष प्राप्त होते हैं। यदि सत् माना जाय तो कोई भी ज्ञान भ्रान्त सिद्ध नहीं होगा, अभ्रान्त ही सिद्ध होंगे, यदि असत् माना जाए तो आकाशपुष्प आदि भी ज्ञान का विषय होना चाहिए, जो कभी नहीं होता और यदि उभय रूप माना जाय तो उक्त दोनों ही दोष उपस्थित होंगे। अतः विपर्ययज्ञान को अनिर्वचनीयार्थ-ख्यातिरूप मानना चाहिए।

परन्तु ब्रह्माद्वैतवादियों का उक्त कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि विपर्ययज्ञान

में प्रतिभासित अर्थ कथमपि अनिर्वचनीय सिद्ध नहीं होता। यदि वह वास्तव में अनिर्वचनीय होता तो ‘यह चाँदी है’ अथवा ‘यह रस्सी है’ —इत्यादि रूप से कथन कैसे होता है? इससे सिद्ध होता है कि विपर्ययज्ञान में प्रतिभासित अर्थ अनिर्वचनीय नहीं है। दरअसल, विपर्ययज्ञान को अनिर्वचनीयार्थख्यातिरूप मानने के पीछे ब्रह्माद्वैतवादियों की भावना अनिर्वचनीय ब्रह्माद्वैत के प्रतिपादन व समर्थन की है, परन्तु वह ब्रह्माद्वैत किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, जो एक पृथक् विषय है और स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं लिखा जा सकता।

इस प्रकार विपर्ययज्ञान को अनिर्वचनीयार्थख्यातिरूप मानना भी युक्तिसंगत नहीं है।

विवेकाख्यातिवाद या स्मृतिप्रमोषवाद

प्राभाकर (मीमांसक) कहते हैं कि विपर्ययज्ञान विवेकाख्याति या स्मृतिप्रमोष रूप होता है, क्योंकि उसमें दो ज्ञानों में विवेक (भेद) की अख्याति या पूर्वदृष्ट अर्थ की स्मृति का प्रमोष (चोरी) देखा जाता है। उनके अनुसार विपर्ययज्ञान में वस्तुतः दो ज्ञान होते हैं। एक ज्ञान तो सामने स्थित अर्थ का प्रतिभास रूप होता है और दूसरा पूर्वदृष्ट पदार्थ का सादृश्यादि के कारण स्मृतिरूप होता है। जैसे जब हमें सीप में यह चाँदी है (इदम् रजतम्) — ऐसा ज्ञान होता है तब वहाँ वास्तव में एक ज्ञान नहीं होता है, अपितु दो ज्ञान होते हैं। एक तो यह (इदम्) पद से प्रकट होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान और दूसरा ‘चाँदी (रजतम्)’ पद से प्रकट होने वाला ज्ञान, जो स्मरण रूप होता है। वहाँ ज्ञाता पुरुष प्रत्यक्ष और स्मृति— इन दो ज्ञानों में भेद नहीं जान पाता, अतः यह विवेकाख्याति रूप है। अथवा सामने स्थित अर्थ के लिए स्मृति करते हुये भी उसे स्मृति नहीं कहता, अतः स्मृतिप्रमोष है। विपर्ययज्ञान ऐसा विवेकाख्याति या स्मृतिप्रमोष रूप ही होता है।

परन्तु प्राभाकरों का उक्त मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि विपर्ययज्ञान में प्रत्यक्ष और स्मरण— ये दो ज्ञान नहीं होते, अपितु एक ही ज्ञान होता है— विपरीत अर्थ को जानने रूप। तथा जिसे वे सादृश्यादि के निमित्त से हुआ स्मृतिप्रमोष कह रहे हैं, वह वस्तुतः विपरीतार्थख्याति ही है।

विपरीतार्थख्यातिवाद

जैन और नैयायिक-वैशेषिक कहते हैं कि विपर्ययज्ञान विपरीतार्थख्याति रूप होता है, क्योंकि उसमें विपरीत अर्थ की ख्याति होती है। अर्थात् सादृश्यादि कुछ कारणों से सीप में उसके विपरीत अर्थ चाँदी का ज्ञान हो जाता है अथवा मरीचिका में उसके विपरीत जल का ज्ञान हो जाता है। अतः विपर्ययज्ञान को विपरीतार्थख्याति रूप ही मानना चाहिए।

जैनों और नैयायिक-वैशेषिकों का उक्त कथन न्यायसंगत है। विपर्ययज्ञान को विपरीतार्थख्याति रूप मानने में कोई बाधा नहीं है।

शंका— सीप में चाँदी के विपर्ययज्ञान का आलंबन क्या है? सीप या चाँदी? यदि सीप है तो उसे सत्ख्याति रूप कहिये और यदि चाँदी है तो उसे असत्ख्याति रूप कहिये। यह विपरीतार्थख्याति क्या होता है?

समाधान— सीप में चाँदी के विपर्ययज्ञान का आलंबन चाँदी ही है, सीप नहीं, क्योंकि यदि उसका आलंबन सीप होता तो वह विपर्ययज्ञान नहीं कहलाता। परंतु उसका आलंबन चाँदी होते हुये भी उसे असत्ख्याति रूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि असत् अर्थ की भी ख्याति होती हो तो आकाशपुष्पादि की भी होनी चाहिए। अतः ऐसी स्थिति में यही मानना उचित है कि विपर्ययज्ञान में विपरीत अर्थ (सीप से विपरीत चाँदी है, रस्सी से विपरीत सर्प है, इत्यादि) की ख्याति होती है। विपर्ययज्ञान का नाम विपरीतार्थख्याति रूप होने के कारण ही विपर्ययज्ञान है।



मिथ्याज्ञान भी कथंचित् प्रमाण है

आचार्य अकलंकदेव ने ‘अष्टशती’ में एक स्थान पर लिखा है कि कोई भी ज्ञान सर्वथा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, द्विचन्द्रज्ञान भी चंद्रांश में प्रमाण है और द्वित्वांश में अप्रमाण, एकचन्द्रज्ञान भी चंद्रांश में प्रमाण है और पर्वतस्थितांश में अप्रमाण। ●●

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्न-
नुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥

—(आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश, 9)

अर्थ— चैतन्य तेजःपुंज आत्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण भी अस्त हो जाता है और निक्षेपों का चक्र तो पता नहीं कहाँ चला जाता है। अधिक क्या कहें, कोई द्वैत ही भासित नहीं होता। ●●

देखो, गौतम बुद्ध स्वयं ही अपनी सर्वज्ञता का खंडन करते हैं—

“वत्स, जो कोई मुझे ऐसा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी) कहते हैं....वे मेरे बारे में यथार्थ कहनेवाले नहीं हैं। वह असत्य से मेरी निंदा करते हैं।”

—पं. राहुल सांकृत्यायन, बौद्धदर्शन, पृष्ठ 38
(किताब महल, इलाहाबाद, सप्तम संस्करण, 1989)



जैनदर्शन की कारण-कार्य-व्यवस्था

जैनदर्शन की कारण-कार्य-व्यवस्था को भलीभांति समझने के लिए सर्वप्रथम मैं आपका ध्यान प्राकृत-जैन-वाङ्मय के मूर्धन्य ग्रन्थ ‘सम्मसुत्त’ (सन्मत्तिसूत्र) की इस महत्त्वपूर्ण गाथा की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ—

कालो सहाव णियई पुब्बकयं पुरिस कारणेगंता ।

मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥ —(सन्मत्तिसूत्र, 53)

अर्थ— काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (निमित्त) और पुरुषार्थ— ये पाँच कारण हैं। इनमें से किसी एक से ही कार्य मानना मिथ्यात्व है और इन सबके समवाय से मानना सम्यक्त्व है।

‘सन्मत्तिसूत्र’ की इस गाथा में जैनदर्शन की समूची कारण-कार्य-व्यवस्था को बड़ी ही कुशलता के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि वस्तुस्थिति ही ऐसी है, कोई भी कार्य एक कारण से उत्पन्न नहीं होता, सम्पूर्ण सामग्री ही कार्य की जनिका होती है, जैसा कि अन्य भी ग्रन्थों में स्पष्ट कहा है—

1. सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्।

अर्थ— कार्य की जनिका सामग्री होती है, कोई एक कारण नहीं।

2. न ह्येककारणप्रभवं कार्यं सामग्रीप्रभवत्वात्कार्याणाम्।

अर्थ— कोई भी कार्य एक कारण से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि सभी कार्य सामग्री से उत्पन्न होते हैं।

3. अविकले कारणे कार्यस्योत्पत्तिः।

अर्थ— सम्पूर्ण कारणों के मिलने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

4. अनेककारणसाध्यत्वाच्चैकस्य कार्यस्य।

—(सर्वार्थसिद्धि, 5/17)

अर्थ— एक कार्य अनेक कारणों से साध्य होता है।

5. इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्।

—(तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5/17)

अर्थ— इस लोक में प्रत्येक कार्य अनेक उपकरणों से साध्य देखा जाता है।

6. सामग्रीविकलं कार्यं न हि लोके विलोकितम्। —(क्षत्रचूडामणि, 8/56)

अर्थ— लोक में कोई भी कार्य सामग्री-रहित नहीं देखा जाता।

7. ण च एककं कज्जं एक्कादो चेव कारणादो सत्त्वं सब्बत्थ उप्पज्जदि।

—(धवला, 7/2/1)

अर्थ— एक कार्य एक ही कारण से सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता।

आचार्य समन्तभद्र ने इन अनेक कारणों को बाह्य और अभ्यन्तर—इन दो भागों में विभाजित करके अनेकशः दृढ़तापूर्वक सिद्ध किया है कि सभी कार्य बाह्याभ्यन्तर दोनों कारणों के मिलने से ही उत्पन्न होते हैं, किसी एक ही से कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकते। यथा—

1. बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः। —(स्वयंभूस्तोत्र, 12/5)

अर्थ— हे जिनेन्द्र! आपके मत में बाह्याभ्यन्तर कारणों की समग्रता से ही कार्यों की उत्पत्ति होना सभी द्रव्यों का स्वभाव माना गया है।

2. अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा। —(स्वयंभूस्तोत्र, 7/3)

अर्थ— बाह्य और अभ्यन्तर— दोनों हेतुओं (कारणों) से उत्पन्न होने वाले कार्य से जिसका ज्ञान होता है—ऐसी यह भवितव्यता अलङ्घ्य है।

3. यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः। —(आप्तमीमांसा, 21)

अर्थ— प्रत्येक कार्य बहिरंग और अंतरंग दोनों उपाधियों (कारणों) से होता है।

इसप्रकार उक्त अनेक प्रमाणों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि एक कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण होते हैं, जिन्हें पंच समवाय या बाह्याभ्यन्तर कारणों के नाम से जाना जाता है। अनेकान्तवादी वही है जो इन अनेक कारणों को स्वीकार करता है। और जो इन्हें नहीं स्वीकार करता, एक ही कारण से कार्योत्पत्ति मानता है वह एकान्तवादी है। यही कारण है कि ‘सन्मत्तिसूत्र’ की सबसे ऊपर उद्धृत गाथा में आचार्य सिद्धसेन ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि जो पाँचों समवाय से कार्योत्पत्ति मानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो एक से ही कार्योत्पत्ति मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

आचार्य सिद्धसेन के अनुसार तो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व में अंतर ही इतना-सा है कि एक-एक पक्षों को मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं और सभी पक्षों को माननेवाला सम्यग्दृष्टि है। देखिए, कितना सुन्दर कहा है उन्होंने—

भद्रं मिच्छादंसण-समूह-महयस्स अमयसारस्स।

जिणवयणस्स भगवओ संविण्णसुहाहिगम्मस्स ॥ —(सन्मत्तिसूत्र, 3/70)

अर्थ— जिनेन्द्र भगवान के वचन संवेगी सुखाभिलाषी जीवों का कल्याण करें। कैसे हैं जिनवचन? जो सर्व मिथ्यादर्शनों के समूह रूप या उन्हें ध्वस्त करने

वाले हैं और अमृत के समान सारभूत हैं।

तात्पर्य यही है कि वस्तु-व्यवस्था में सर्व कारणों की स्वीकृति करनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि और अनेकान्तवादी है।

हाँ, इतना विशेष है कि अनेकान्तवादी स्याद्वादी भी होता है। वह विवक्षावश कभी किसी एक कारण को मुख्य और अन्य कारणों को गौण कर सकता है, करता ही है, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। मुख्य-गौण करना तो तत्त्वाधिगम का साधन कहा है। अनुचित तो तब है जब अन्य पक्षों को गौण करने की बजाय उनका अभाव ही कर दिया जाए। अपर पक्षों को गौण करनेवाला नय है, सुनय है, परंतु उनका अभाव करनेवाला दुर्नय है, मिथ्यानय है।

दरअसल, कारण-कार्य-व्यवस्था को भलीभाँति समझने के लिए नय-व्यवस्था का ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; क्योंकि कारण-कार्य-व्यवस्था से भी जटिल उसका कथन-व्यवहार है, जिसे नय-व्यवस्था समझे बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में नयज्ञान करने का बहुत उपदेश दिया गया है। यथा—

जदि इच्छह उत्तरिदुं, अण्णामहोदहिं सुलीलाए ।
ता णादुं कुणह मइं, णयचक्के दुणयतिमिरमत्तंडे ॥

—(माइल्लधवल, नयचक्र, 419)

अर्थ— यदि अज्ञान-सागर को लीलामात्र में पार करना चाहते हो तो नयचक्र में बुद्धि लगाओ, यही दुर्नय-तिमिर को नष्ट करने के लिए सूर्य है।

लवणं व इणं भणियं, णयचक्कं सयलसत्थसुद्धकरं ।
सम्मा वि य सुअ मिच्छा, जीवाणं सुणयमग्गरहिदाणं ॥

—(माइल्लधवल, नयचक्र, 417)

अर्थ— नमक के समान सब शास्त्रों की शुद्धि करने वाला तत्त्व नयचक्र ही कहा गया है। जो जीव सुनयमार्ग से रहित होते हैं, उनके लिए सम्यक् श्रुत भी मिथ्या है।

जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि ।
वत्थूसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहां हुंति ॥

—(माइल्लधवल, नयचक्र, 181)

अर्थ— जो व्यक्ति नयदृष्टि-विहीन हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तुस्वरूप को नहीं जानने वाले जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?

जैनी जाने जैन नै, जिन जिन जानी जै न ।
जे जे जैनी जैन जन, जाने निज निज नैन ॥

—(भैया भगवतीदास, परमात्मशतक, 15)

अर्थ- जो जिनेन्द्र-कथित नयों को जानता है, वही सच्चा जैन है। जो नयव्यवस्था को नहीं जानता, वह वास्तव में सच्चा जैन नहीं है।

कारण-कार्य-व्यवस्था के विविध भंग

कारण-कार्य-व्यवस्था को भलीभांति समझने के लिए नयज्ञान की आवश्यकता इसीलिए बताई गई है कि उसकी कथन पद्धति बड़ी अद्भुत है, उसमें अनेक भंग होते हैं। उदाहरणार्थ कारण-कार्य-व्यवस्था के कतिपय भंग द्रष्टव्य हैं—

1. कहीं कहते हैं कि कारण जैसा ही कार्य होगा और कहीं कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है।
2. कहीं कहते हैं कि एक कारण से एक ही कार्य होगा और कहीं कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है।
3. कहीं कहते हैं कि कारण अनेक हैं तो कार्य भी अनेक होंगे और कहीं कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है।
4. कहीं कहते हैं कि एक कार्य के होने में अनेक कारण चाहिए और कहीं कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है।
5. कहीं कहते हैं कि कारण-कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं और कहीं कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है।
6. कहीं कहते हैं कि कारण-कार्य एक ही द्रव्य में होते हैं और कहीं कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है।
7. कहीं कहते हैं कि कारण है तो कार्य होगा ही होगा और कहीं कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है।
8. कहीं कहते हैं कि कारण-कार्य पूर्वोत्तरकालवर्ती होते हैं और कहीं कहते हैं कि समकालवर्ती होते हैं।
9. कहीं कहते हैं कि कार्य के सम्पन्न होने पर कारण की निवृत्ति हो जाती है और कहीं कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है।
10. कहीं पांचों समवायों को मिलाकर कारण कहते हैं और कहीं उनमें से एक-एक को ही मुख्य करके उसे ही कारण कहते हैं।
11. कहीं इन पांचों को भी उपादान और निमित्त के दो भागों को विभाजित करके कारण-कार्य-व्यवस्था स्पष्ट करते हैं।
12. उसमें भी कहीं उपादान कारण को ही कारण कहते हैं, कहीं निमित्त कारण को ही कारण कहते हैं और कहीं उपादान एवं निमित्त दोनों को मिलाकर कारण कहते हैं।

13. उपादान कारण में भी कहीं त्रिकाली उपादान को ही कारण कहते हैं, कहीं क्षणिक उपादान को ही कारण कहते हैं और कहीं त्रिकाली एवं क्षणिक दोनों को मिलाकर कारण कहते हैं।
14. क्षणिक उपादान में भी कभी तो अव्यवहित पूर्ववर्ती को ही कारण कहते हैं और कभी बहुत पूर्ववर्ती को भी कारण कहते हैं।
15. इसी प्रकार निमित्त कारण में भी कहीं प्रेरक निमित्त को ही कारण कहते हैं और कहीं उदासीन निमित्त को भी कारण कह देते हैं।
16. कहीं वास्तविक कारण को ही कारण कहते हैं, कहीं उपचरित कारण को भी कारण कहते हैं।
17. कहीं किसी वस्तु के सद्भावरूप कारण को कारण कहते हैं और कहीं उसके अभावरूप कारण को कारण कहते हैं।
18. कहीं केवल 'प्रायः' कारण को ही कारण कहते हैं।
19. कहीं केवल एक कारण को ही कारण कहते हैं और कहीं उस कारण के कारणों को भी कारण कहते हैं।
20. कहीं साहित्यिक शैली से रूपक आदि बनाकर भी कारण-कार्य-व्यवस्था कहते हैं।
21. व्याकरण की भाषा में देखें तो कहीं प्राप्य कारण को कारण कहते हैं, कहीं विकार्य कारण को कारण कहते हैं और कहीं निर्वर्त्य कारण को कारण कहते हैं।
22. स्थूल-सूक्ष्म या सामान्य-विशेष कथन का भी बहुत अंतर पड़ता है।

इस प्रकार शास्त्रों में कारण-कार्य-व्यवस्था के अनगिनत भंग बताये गये हैं। सभी को उदाहरण-सहित स्पष्ट करना आवश्यक लग रहा है, किन्तु बहुत विस्तार हो जाएगा इसलिए नहीं किया है, सुधी पाठक सहजता से समझ सकते हैं। कहने का अभिप्राय कुल इतना ही है कि कारण-कार्य-व्यवस्था से भी अधिक जटिल उसका कथन-व्यवहार है और उसको भलीभाँति समझने के लिए नयज्ञान की महती आवश्यकता है, उसके बिना सुलझना सम्भव नहीं है। ❖❖

उप्पज्जंतो कज्जं कारणमप्पा णियं पि जणयंतो।

तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स वि कारणं कज्जं॥

—(माइल्लधवल, नयचक्र, 366)

अर्थ— कार्य को उत्पन्न करता हुआ आत्मा स्वयं ही अपना कारण भी होता है, अतः यह बात विरुद्ध नहीं है कि एक ही वस्तु में कारण-कार्य-व्यवस्था घटित हो।

चतुरंग वाद

चतुरंग वाद को कथा भी कहते हैं। कथा या चतुरंग वाद न्यायशास्त्र का एक विशेष विषय है। इसकी चर्चा मुख्यरूप से परार्थानुमान के प्रकरण में आती है। साधन से होनेवाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। यह अनुमान दो प्रकार का होता है— स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जब हम स्वयं ही साधन से साध्य का ज्ञान करते हैं तो वह स्वार्थानुमान है और जब किसी अन्य के समझाने से साधन से साध्य का ज्ञान होता है तब वह परार्थानुमान है।

चतुरंग वाद या कथा को ठीक से समझने के लिए अनुमान प्रमाण का स्पष्ट ज्ञान होना अनिवार्य है। अनुमान का प्रकरण न्यायशास्त्र का केन्द्रीय प्रकरण है। जिसने इसे नहीं समझा, उसने समझो न्यायशास्त्र ही नहीं पढ़ा। न्यायशास्त्र का अपर नाम ही अनुमानशास्त्र या हेतुविद्या है —इससे सिद्ध होता है कि न्यायशास्त्र में अनुमान का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

चतुरंग वाद को ‘कथा’ इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें दूसरे को समझाने के लिए कथन का आश्रय लिया जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष को ग्रहण कर वादी और प्रतिवादी में जो वचन-व्यवहार स्वमतस्थापनपर्यन्त चलता है, उसे कथा कहते हैं।

यह कथा दो प्रकार की होती है— वीतराग कथा और विजिगीषु कथा। इनके और भी भेद करें तो कथा के कुल चार अंग हो जाते हैं, अतः कथा को चतुरंग वाद कहते हैं।

जय-पराजय की भावना से रहित मात्र तत्त्वजिज्ञासा की भावनापूर्वक होने वाले गुरु-शिष्यादि के वचन-व्यवहार को वीतराग कथा कहते हैं और जय-पराजय की भावनापूर्वक होनेवाले शास्त्रार्थ को विजिगीषु कथा कहते हैं।

इनमें से वीतराग कथा को वाद के नाम से भी कहा जाता है और विजिगीषु कथा के पुनः दो भेद किये जाते हैं— जल्प और वितंडा, अतः कथा कितने प्रकार की होती है —इस बात को दो तरह से कहा जाता है। ऐसा भी कहा जाता है कि कथा दो प्रकार की होती है— वीतराग कथा और विजिगीषु कथा, और ऐसा भी कहा जाता है कि कथा तीन प्रकार की होती है— वाद, जल्प और वितंडा।

जल्प और वितंडा में अंतर यह है कि जल्प में परमतखंडन के साथ स्वमतमण्डन करना भी अनिवार्य है, किन्तु वितंडा में स्वमतमण्डन की कोई आवश्यकता नहीं है, मात्र परमतखंडन ही करना होता है।

इसके बाद विजिगीषु कथा में एक सभापति या सभ्य का होना भी अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना अनुशासन बनाने एवं निर्णय देने का कार्य नहीं हो सकता, अतः कथा का एक चौथा अंग सभ्य/सभापति भी हो गया। इस प्रकार पूरा वाद चतुरंग हो गया। चतुरंग वाद अर्थात् वाद, जल्प, वितंडा और सभ्य/सभापति।

इनमें से वाद तो बहुत ही स्पष्ट है, क्योंकि वह वीतराग कथा है; किन्तु जल्प एवं वितंडा के सम्बन्ध में नैयायिकों में बड़ा मतभेद है, क्योंकि यह विजिगीषु कथा है, इसमें जय-पराजय की भावना होती है। इसमें जैन नैयायिकों का वैशिष्ट्य यह है कि अन्य अनेक नैयायिकों का तो मानना है कि इसमें विपक्ष को पराजित करने के लिए छल, जाति, निग्रह आदि असत् उपायों का भी आश्रय लिया जा सकता है, उसमें कोई दोष नहीं है, फसल की रक्षा करने के लिए काँटों की बाड़ लगानी ही पड़ती है; किन्तु जैन नैयायिकों ने छलादि के प्रयोग को सर्वथा अन्याय्य एवं अनुचित माना है। उनके अनुसार कभी अपवाद रूप में भी छलादि का आश्रय नहीं करना चाहिए।

यद्यपि प्राचीन काल में छलादि का प्रयोग सर्वत्र ही निन्दनीय माना जाता होगा —ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि फिर तो सारा न्याय ही निरर्थक सिद्ध हो जाता है, किन्तु बाद में जब कुछ नये नैयायिकों ने इन्हें येन-केन-प्रकारेण आश्रयणीय सिद्ध कर दिया तो न्याय के क्षेत्र में ये तीव्र गति से स्थापित हो गये, न्याय-वैशेषिक ही नहीं, कतिपय बौद्ध नैयायिकों ने भी इनका समर्थन कर दिया। किन्तु जैन नैयायिकों ने किसी भी कीमत पर छलादि का प्रयोग करना उचित नहीं माना। आचार्य अकलंकदेव ने तो स्पष्ट शब्दों में अनेक बार लिखा कि जो लोग नैयायिक होकर भी छलादि का प्रयोग करते हैं वे समूचे न्यायशास्त्र को मलिन करते हैं, गुणद्वेषी हैं और यह कलियुग की ही महिमा है (—न्यायविनिश्चय, 1/2)।

इससे सिद्ध होता है कि जैनदर्शन के न्याय का मुख्य उद्देश्य तत्त्वाधिगम ही था और तत्त्वाधिगम ही है, जय-पराजय नहीं, किन्तु अन्य दर्शनों के न्याय का मुख्य उद्देश्य जय-पराजय ही हो गया और वह भी छलादि के बल पर, तत्त्वाधिगम तो नाममात्र का ही रह गया।

जैन नैयायिकों ने तो जब विजिगीषु कथा में इस प्रकार छलादि द्वारा जय-पराजय की भावना ही प्रधान हो गई तो उस विजिगीषु कथा से ही दूरी बनाना प्रारम्भ कर दिया। यही कारण है कि जैन न्याय के अधिकांश ग्रन्थों में इस चतुरंग वाद विषय का विशेष विवेचन नहीं मिलता। ❖❖

जैनदर्शन में अभाव की अवधारणा

1. भूमिका

अभाव भी दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। प्रायः सभी दर्शनों में अभाव की थोड़ी-बहुत चर्चा मिलती ही है। वैशेषिक दर्शन में तो अभाव को एक स्वतंत्र ही पदार्थ मानकर उसकी विस्तृत चर्चा की गई है। तथापि जैनदर्शन की अभाव संबंधी अवधारणा अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों को उसका भी आग्रहरहित व गम्भीर दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। प्रस्तुत आलेख में जैनदर्शन में अभाव का क्या स्वरूप है— इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

जैनदर्शन में अभाव की चर्चा प्रमुखता से आचार्य समन्तभद्र (विक्रम की दूसरी शती) द्वारा रचित ‘आप्तमीमांसा’ एवं आचार्य वीरसेन (विक्रम की नौवीं-दसवीं शती) द्वारा रचित ‘धवला’ में उपलब्ध होती है। जो व्यक्ति जैनदर्शन में अभाव के स्वरूप को विस्तार से जानने की इच्छा रखते हों, उन्हें उक्त दोनों ग्रन्थों का अध्ययन मूलरूप से करना चाहिए। हमारे प्रस्तुत आलेख के मुख्य आधार भी उक्त ग्रंथ ही हैं।

2. अभाव भी सद्भावरूप है

‘अभाव’ का अर्थ होता है— असत् अर्थात् सत्ता न होना; किन्तु जैनदर्शन के अनुसार अभाव की भी लोक में सत्ता है, वह सर्वथा असत् नहीं है, कथंचित् सत् भी है— भावरूप भी है; अतः उसे सर्वथा अभावरूप नहीं कहा जा सकता। यदि अभाव को सर्वथा अभावरूप कहा जाएगा तो उसका अर्थ होगा कि ‘अभाव’ कुछ नहीं होता। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र ने अभावैकान्तवादियों का पुरजोर खण्डन किया है—

“अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् ।

बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥”

—(आप्तमीमांसा, कारिका 12)

अर्थ— अभावैकान्त को स्वीकार करने में आपत्ति यह है कि बोध (ज्ञान) और वाक्य भी अभावरूप सिद्ध होंगे और तब मण्डन-खण्डन किससे होगा?

इसीप्रकार आचार्य जयसेन (10 वीं शताब्दी) ने भी अभाव को भावान्तर-स्वरूप

ही प्रतिपादित किया है। यथा— ‘भावान्तरस्वभावरूपी भवत्यभावः इति वचनात्।’
—(प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 100)

तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन के अनुसार अभाव भावान्तरस्वभावरूप ही होता है, न कि सर्वथा अभावरूप। कुछ लोग अभाव को केवल कल्पना या वाग्जाल मात्र या ऐसे ही व्याकरण का विषय मात्र कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। वह प्रत्येक वस्तु का एक महत्त्वपूर्ण धर्म है। प्रत्येक वस्तु भाव के साथ अभावरूप धर्म को भी धारण करती है और इसीलिए वह सुव्यवस्थित रूप से रहती है। यदि वस्तु में अभाव रूप धर्म न हो जो कि परचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव) की अपेक्षा होता है तो वह स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव) की अपेक्षा सद्भावरूप भी सिद्ध नहीं हो सकती।

यहाँ कुछ लोग ऐसा भी समझते हैं कि लोक में वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—
1. भावरूप, 2. अभावरूप, कुछ वस्तुएँ भावरूप होती हैं और कुछ वस्तुएँ अभावरूप। किन्तु ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक ही वस्तु भावाभावात्मक होती है। सर्वथा भावरूप और सर्वथा अभावरूप वस्तु कोई नहीं है।

प्रश्न— यदि प्रत्येक वस्तु में भाव और अभाव दोनों धर्म युगपद् रहते हैं तो हमें भाव की तरह अभाव भी तो दिखना चाहिए था। वह अभाव हमें दिखाई क्यों नहीं देता?

उत्तर— हाँ, अभाव भी एक अपेक्षा से हमें दिखाई ही देता है। तभी तो हम व्यवहार में ऐसा बहुत कहते रहते हैं कि मैंने वहाँ कक्ष में खूब देख लिया है— पुस्तक नहीं है। इसका अर्थ यही तो हुआ कि हमने कक्ष में पुस्तक का अभाव देख लिया। इसी प्रकार के और भी प्रयोग देखिए—

1. मैंने अच्छी तरह देख लिया है कि वह राम नहीं है। (द्रव्य)
2. मैंने अच्छी तरह देख लिया है कि वहाँ राम नहीं है। (क्षेत्र)
3. मैंने अच्छी तरह देख लिया है कि तब वहाँ राम नहीं था। (काल)
4. मैंने अच्छी तरह देख लिया है कि राम गोरा नहीं है। (भाव)

इससे सिद्ध होता है कि एक अपेक्षा से अभाव भी हमें दिखता ही है।

3. अभाव के भेद और उनका स्वरूप

अभाव के भेद समन्तभद्रादि जैनाचार्यों ने चार स्वीकार किये हैं— 1. प्रागभाव, 2. प्रध्वंसाभाव, 3. अन्योन्याभाव (जिसका दूसरा नाम इतरेतराभाव भी है) और 4. अत्यन्ताभाव। कार्य होने से पूर्व उसका जो अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं और कार्य के नष्ट होने के बाद उसका जो अभाव होता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते

हैं। एक कार्य का दूसरे कार्य में होनेवाला अभाव अन्योन्याभाव या इतरेतराभाव है। तथा एक द्रव्य (वस्तु, पदार्थ) का दूसरे द्रव्य में रहने वाला अभाव अत्यन्ताभाव है।

जैनदर्शन में प्रत्येक पदार्थ या वस्तु को द्रव्य-पर्यायात्मक माना गया है। उसके अनुसार लोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें द्रव्य और पर्याय— ये दो अंश नहीं हों। जो सदा स्थाई या अपरिवर्तनशील स्वभाव है वह द्रव्य है और जो उसकी परिवर्तनशील अवस्था है वह पर्याय है। उदाहरणार्थ जीव एक द्रव्य है और मतिज्ञान या केवलज्ञानादि उसकी पर्यायें हैं।

उपर्युक्त चार अभावों में से प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव —ये तीन अभाव पर्याय से सम्बन्धित हैं और एक अत्यन्ताभाव द्रव्य से सम्बन्धित है।

पर्याय को कार्य भी कहते हैं। प्रत्येक कार्य या पर्याय के संबंध में हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि कोई भी पर्याय सदा अपने में ही रहती है और वह भी मात्र अपने समय में ही रहती है, न तो किसी अन्य पर्याय में मिलती है और न ही अपने निश्चित समय से पूर्व या उत्तर समय में उपलब्ध होती है।

इसप्रकार यहाँ हम देखते हैं कि प्रत्येक पर्याय का तीन तरफ से अभाव सिद्ध हो रहा है—

1. वह अपने समय से पूर्व नहीं है।
2. वह अपने समय से उत्तर समय में नहीं है।
3. वह अपने समय में होने वाली अन्य पर्याय में भी नहीं है।

जैनदर्शन में इन्हीं तीनों अभावों को क्रमशः प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव कहा गया है।

इसीप्रकार इस लोक में पाये जाने वाले समस्त द्रव्य अत्यन्त पृथक्-पृथक् हैं। कोई भी द्रव्य कभी भी किसी से भी मिलता नहीं है। जीवद्रव्य जीवद्रव्य ही है, वह कभी भी पुद्गलद्रव्य रूप नहीं होता है। पुद्गलद्रव्य पुद्गलद्रव्य ही रहता है, कभी भी जीवद्रव्य रूप नहीं होता है। दो द्रव्यों के बीच पाये जाने वाले इस अभाव को ही अत्यन्ताभाव कहते हैं।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के अन्तर को उदाहरण द्वारा हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाड़ी का अभाव दो प्रकार का होता है—

1. गाड़ी आने से पहले का और 2. गाड़ी आकर चली जाने के बाद का। इनमें से पहले अभाव को प्रागभाव कहते हैं और बाद के अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं।

4. अभावों को न मानने में दोषापत्ति

जैनदर्शन के अनुसार इन चारों अभावों को मानना आवश्यक है, अन्यथा वस्तु-

स्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती है। आचार्य समन्तभद्र स्पष्ट लिखते हैं कि—

“कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निहवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥”

—(आप्तमीमांसा, कारिका 10-11)

अर्थात् प्रागभाव को न मानने पर (घट-पटादि) सभी कार्यद्रव्य अनादि सिद्ध हो जाएँगे और प्रध्वंसाभाव को न मानने पर वे सभी कार्यद्रव्य अनन्त (अन्तरहित, अविनाशी) सिद्ध हो जाएँगे; अतः प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव —इन दोनों को मानना अत्यन्त आवश्यक है।

इसीप्रकार अन्योन्याभाव को न मानने पर सभी पर्यायें सर्वात्मक सिद्ध हो जाएँगी और अत्यन्ताभाव को न मानने पर किसी भी पदार्थ का असाधारणरूप कथन ही नहीं किया जा सकता, अतः अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव —इन दोनों को भी मानना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव को न मानने पर जो दोष आते हैं, उन्हें और अधिक स्पष्ट करते हुए श्री जिनेन्द्र वर्णी भी अपने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग 1, पृष्ठ 129) में लिखते हैं कि—

“अन्योन्याभाव (इतरेतराभाव) को नहीं मानने पर एक द्रव्य की विभिन्न पर्यायों में कोई भेद नहीं रहता, सब पर्यायें सबरूप हो जाती हैं। तथा अत्यन्ताभाव को नहीं मानने पर सभी वादियों के द्वारा माने गये अपने-अपने मूल तत्त्वों में कोई भेद नहीं रहता, एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप हो जाता है। ऐसी हालत में जीवद्रव्य चैतन्यगुण की अपेक्षा चेतन ही है और पुद्गलद्रव्य अचेतन ही है— ऐसा नहीं कहा जा सकता।”

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव —इन चारों ही अभावों को मानना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा वस्तु-व्यवस्था की सम्यक् सिद्धि नहीं हो सकती है।

5. पर्युदास और प्रसज्य अभावों का स्वरूप

जैनदर्शन में उक्त चार अभावों के अतिरिक्त पर्युदास और प्रसज्य —इन दो अभावों की चर्चा भी उपलब्ध होती है। अभाव के प्रस्तुत निबन्ध में उसे भी स्पष्टतः समझ लेना आवश्यक है।

पर्युदास उसे कहते हैं जिसमें एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का सद्भाव ग्रहण किया जाता है और प्रसज्य उसे कहते हैं जहाँ केवल अभाव मात्र ग्रहण

किया जाता है, जैसा कि 'तत्त्वार्थवार्तिक' के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है—

“‘प्रत्यक्षादन्योऽप्रत्यक्ष इति पर्युदासः।।..... प्रत्यक्षो न भवतीत्यप्रत्यक्ष इति प्रसज्यप्रतिषेधो।’”
—(आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, 2/8/18)

अर्थात् प्रत्यक्ष से अन्य सो अप्रत्यक्ष है —यह पर्युदास है और प्रत्यक्ष नहीं है सो अप्रत्यक्ष है— यह प्रसज्य है।

पर्युदास और प्रसज्य का अन्तर बताते हुए वादिराजसूरि 'न्यायविनिश्चयवृत्ति' में लिखते हैं कि—

“‘नयबुद्धिवशादभावौदासीन्येन भावस्य, तदौदासीन्येन चाभावस्य प्राधान्यसमर्पणे पर्युदासप्रसज्ययोर्विशेषस्य विकल्पनात्।’”
—(न्यायविनिश्चयवृत्ति 2/123/153)

अर्थात् नयविवक्षा के वश से भाव की उदासीनता से भाव का और अभाव की उदासीनता से अभाव का प्राधान्य समर्पण होने पर पर्युदास व प्रसज्य —इन दोनों में विशेषता का विकल्प हो जाता है।

अभिप्राय यही है कि किसी एक वस्तु के अभाव द्वारा दूसरी वस्तु का सद्भाव दर्शाना तो पर्युदास है, जैसे प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। और वस्तु का अभाव मात्र दर्शाना प्रसज्य है, जैसे इस भूतल पर घट का अभाव है।

पर्युदास और प्रसज्य के अंतर को हम यहाँ सरल उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं कि पैसिल के होने पर यह कहना कि पैन नहीं है— यह तो पर्युदास हुआ और सर्वथा कुछ न होने पर यह कहना कि पैन नहीं है— यह प्रसज्य हुआ।

‘यह मनुष्य अज्ञानी है’ —इस कथन में ‘अज्ञानी’ शब्द का अर्थ पर्युदास रूप है, प्रसज्य रूप नहीं है और ‘यह पत्थर अज्ञानी है’ —इस कथन में ‘अज्ञानी’ शब्द का अर्थ प्रसज्य रूप है, पर्युदास रूप नहीं है।

6. चार अभावों का आध्यात्मिक सन्देश

जैन परम्परा प्राचीन काल से अध्यात्मप्रधान रही है। वहाँ प्रायः प्रत्येक विषय को पढ़ते-पढ़ाते समय उसके आध्यात्मिक सन्देश पर भी अवश्य ध्यान दिया जाता है, केवल दार्शनिक विश्लेषण/ऊहापोह ही पर्याप्त नहीं समझा जाता। अभाव का विषय भी इसका अपवाद नहीं है। जैन परम्परा में अभावों को पढ़ते-पढ़ाते समय उनके आध्यात्मिक सन्देश पर भी अत्यधिक चर्चा की जाती है। यहाँ हम उसे भी अति संक्षेप में इस भावना के साथ प्रस्तुत करते हैं कि इससे सभी को दर्शनशास्त्र को अध्यात्म से जोड़ने की शिक्षा मिलेगी। तथा इन चार अभावों से प्राप्त होनेवाली आध्यात्मिक शिक्षा वास्तव में भी बहुत महत्वपूर्ण है। यथा—

प्रागभाव शिक्षा देता है कि पूर्व में कितना भी बुरा हुआ हो, अब अच्छा कर सकते हो, पूर्व की बातों को याद कर-करके बहुत परेशान होने की आवश्यकता

नहीं है, उसे भूल जाओ, अब अच्छा करने का उद्यम करो।

प्रध्वंसाभाव शिक्षा देता है कि भविष्य की चिन्ता कर-करके परेशान मत होओ, वर्तमान को संवारो, वर्तमान पर्याय का भविष्य की पर्याय में अभाव है।

अन्योन्याभाव या इतरेतराभाव शिक्षा देता है कि एक द्रव्य की भी सभी पर्यायें (चाहे वे सहभावी हों या क्रमभावी) भिन्न-भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं, कोई किसी में नहीं मिलती, एक पर्याय अन्य पर्याय रूप नहीं होती, उन्हें वैसा करने का व्यर्थ परिश्रम मत करो।

अत्यन्ताभाव शिक्षा देता है कि जगत् के सभी द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं, कोई भी द्रव्य कभी भी किसी अन्य द्रव्य में नहीं मिलता, अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, उसे वैसा करने का व्यर्थ परिश्रम मत करो। जीव सदा जीव ही रहेगा, अजीव सदा अजीव ही रहेगा। जीव और अजीव में अत्यन्ताभाव है।

इसी प्रकार की और भी अनेक आध्यात्मिक शिक्षाएँ चार अभावों के अध्ययन से प्राप्त होती हैं। लोक में भी आजकल बहुत लोग तनाव (tension), अवसाद (depression) आदि अनेक मनोरोगों से अत्यधिक पीड़ित दिखाई देते हैं, आत्महत्या तक कर लेते देखे जाते हैं। चार अभावों की शिक्षा से उनके उन सभी रोगों का सरलतापूर्वक निदान किया जा सकता है। अथवा बहुत लोग भूत-भविष्य की चिन्ता के कारण आत्महित का उद्यम नहीं कर पाते, निरुत्साहित-से बने रहते हैं, इन अभावों की शिक्षा से उनकी सर्व चिन्ता दूर होती है और शीघ्र ही आत्महित का पुरुषार्थ जागृत होता है।

7. उपसंहार

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में अभाव के स्वरूप की सुव्यवस्थित चर्चा उपलब्ध होती है, जिसके अनुसार अभाव भी भावान्तरस्वभावरूप होता है, सर्वथा अभावरूप नहीं और इस अभाव को एक अपेक्षा से प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव —इन चार भेदों से समझा जा सकता है तथा एक अन्य अपेक्षा से पर्युदास और प्रसज्य —इन दो भेदों से भी समझा जा सकता है। इत्यलम् विस्तरेण। ❖❖

जैनदर्शन और अन्य दर्शन में अंतर

परसमयाणं वयणं, मिच्छं खलु होदि सब्बहा वयणा।

जेणाणं पुण वयणं, सम्मं खु कहंवि वयणादो॥

—आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 895

अर्थ— परसमयवालों के वचन ‘सर्वथा’ शब्द सहित होने के कारण मिथ्या होते हैं और जैनो के वही वचन ‘कथंचित्’ शब्द सहित होने के कारण सम्यक् होते हैं।

‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ में हेतु एवं हेत्वाभास

1. प्रस्तावना

अनुमान के अंगों में हेतु का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। हेतु को समझें बिना अनुमान को कथमपि नहीं समझा जा सकता।

न केवल अनुमान को, अपितु सम्पूर्ण न्यायशास्त्र को ही वह व्यक्ति ठीक से नहीं समझ सकता जो हेतु को भलीभाँति नहीं जानता; क्योंकि अनुमान न्यायशास्त्र का आधारभूत स्तम्भ है।

न्यायशास्त्र के अन्यान्य विषयों का समीचीन ज्ञान करने के लिए भी हेतु के स्वरूप का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना सभी विषयों में मिथ्यापन करने की सम्भावना बनी रहती है। यह भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति हेतु के स्वरूप को सही से नहीं जानता, अन्यथा जानता है, वह वास्तव में न्यायशास्त्र की प्रकृति को ही नहीं पहिचानता।

न्यायशास्त्र को प्रमाणशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि अनेक नामों से जाना जाता है। वहाँ उसका एक नाम ‘हेतुशास्त्र’ या ‘हेतुविद्या’ भी है।¹ इससे न्यायशास्त्र में ‘हेतु’ का स्थान एवं महत्त्व सिद्ध होता है। अतः ‘हेतु’ का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी समझकर अवश्य करना चाहिए। जहाँ हेतु मिथ्या होता है वहाँ सब कुछ मिथ्या हो जाता है और जहाँ हेतु सम्यक् होता है वहाँ सब कुछ सम्यक् सिद्ध होता है—

“प्रमाणार्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।”²

हेत्वाभास के लिए भी हेतु के स्वरूप का ज्ञान करना अनिवार्य है; क्योंकि जो व्यक्ति हेतु का स्वरूप भली-भाँति नहीं जानता वह हेत्वाभास का स्वरूप भी भली-भाँति नहीं जान सकता; क्योंकि मिथ्या हेतु को ही तो हेत्वाभास कहते हैं तथा हेतु का स्वरूप समझ लेने पर हेत्वाभास का स्वरूप स्वतः ही समझ में आ जाता है, उसके लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र या अनुमानशास्त्र के समीचीन ज्ञान हेतु हेतु का समीचीन स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को प्राथमिकता प्रदान कर इस विषय को अत्यन्त सावधानीपूर्वक भलीभाँति समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इसे हल्के

ढंग से नहीं लेना चाहिए।

हेतु का स्वरूप प्रायः सभी न्याय-ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक समझाया गया है, किन्तु आचार्य विद्यानन्दिकृत ‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ में तो इस विषय को कुछ अधिक ही विस्तारपूर्वक समझाया गया है। वहाँ यह विषय लगभग 90 पृष्ठों में (पृष्ठ संख्या 172 से 260 तक) समाहित हुआ है। देखो— प्रथमाध्याय के सूत्र 13 की व्याख्या, हिन्दी-अनुवादिका— गणिनी आर्यिका श्री सुपाश्वर्मति माताजी, सम्पादक— डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर, प्रकाशक— श्री पन्नालाल पाटनी, 29ए/3, रामकृष्ण समाधि रोड, कोलकाता-700054

यहाँ हम इसी ग्रन्थ के आधार पर हेतु एवं हेत्वाभास का स्वरूप संक्षेप में लिखते हैं।

ध्यातव्य है कि 90 पृष्ठों में आए हुए सभी तर्क-वितर्कों को यहाँ इस लघु निबन्ध में लिख पाना सम्भव नहीं है, अतः विशेष जिज्ञासुओं को उसे मूल रूप में ही देखना चाहिए। यहाँ तो इस विषय से सम्बन्धित कतिपय मूलभूत स्थापनाओं को ही संक्षेप में प्रस्तुत किया जाएगा।

मूल ग्रन्थ में हेतु एवं हेत्वाभास के सम्यक्-मिथ्या स्वरूप की प्रतिपत्ति के लिए शताधिक अनुमान-वाक्यों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है, परन्तु यहाँ स्थानाभाव से उन्हें नहीं लिखा जा सकता है। अतः पाठक क्षमा करें, क्योंकि आचार्य विद्यानन्दस्वामी के अनुसार हेतु एवं हेत्वाभास के स्वरूप को उदाहरण द्वारा ही समझना चाहिए, उससे प्रतीति दृढ़ होती है—

“ततो यथायोगमन्यान्नुदाहरणानि लोकसमयप्रसिद्धानि परीक्षकैरुपदर्शनीयानि प्रतीतिदार्ढ्योपपत्तेः।”³

इसलिए सुधी पाठकों से अनुरोध है कि वे मूल ग्रन्थ का अध्ययन अवश्य करें। मेरे लेख से पाठकों को यदि मूल ग्रन्थ के अध्ययन की प्रेरणा मिली तो भी मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

1. हेतु का लक्षण

‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ में आचार्य विद्यानन्दस्वामी ने हेतु का लक्षण स्थापित करते हुए लगभग 35 पृष्ठों में इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि हेतु का लक्षण एक ‘अन्यथानुपपत्ति’ ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं—

“अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम्।”⁴

अन्यथानुपपत्ति का अर्थ है— साधन का साध्य के बिना नियम से नहीं होना अथवा साधन का साध्य के साथ नियम से होना।

अन्यथानुपपत्ति को तथोपपत्ति भी कहते हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

दोनों का अभिप्राय एक ही है। मात्र विधि-निषेधरूप कथन-शैली का ही अन्तर है। अन्यथानुपपत्ति निषेधपरक (Negative) कथन है तो तथोपपत्ति विधिपरक (Positive) कथन है। कहा भी है—

“सोऽन्यथानुपपन्नत्वमेव तथोपपत्त्याख्यमसाधारणं हेतुलक्षणम्।”⁵

आचार्य विद्यानन्द स्वामी के अनुसार यह अन्यथानुपपत्ति या तथोपपत्ति ही हेतु का प्राण है। यदि यह है तो चाहे अन्य कुछ भी हो या न हो, वह सद्हेतु है तथा यदि यह नहीं है तो चाहे अन्य कुछ भी हो या न हो, वह सद्हेतु कथमपि नहीं हो सकता। उनका स्पष्ट उद्घोष है—

“अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥”⁶

बौद्ध हेतु का लक्षण त्रिरूपात्मक मानते हैं— पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति, किन्तु यहाँ आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि त्रिरूपात्मकता से हेतु के लक्षण का कुछ लेना-देना नहीं है, हेतु का सद्लक्षण तो एक अन्यथानुपपत्ति ही है। यदि अन्यथानुपपत्ति है तो उन तीनों से कोई प्रयोजन नहीं है और यदि अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो उन तीनों के होने से भी प्रयोजन नहीं सिद्ध हो सकता।

“तदिष्टौ तु त्रयेणापि पक्षधर्मादिनात्र किम्।
तदभावेऽपि हेतुत्वसिद्धेः क्वचिदसंशयम्॥”⁷

अर्थ— अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु लक्षण इष्ट करने पर उस हेतु में पक्षसत्त्व आदि तीन धर्मों से क्या प्रयोजन है? क्योंकि कहीं उन तीन धर्मों के अभाव होने पर भी निःसन्देह सद्हेतु सिद्ध हो जाता है।

बौद्धों का कहना है कि उन्होंने असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचार नामक तीन दोषों की निवृत्ति के लिए ही हेतु को त्रिरूपात्मक स्वीकार किया है—

“तद्हेतोस्त्रिषु रूपेषु निर्णयो येन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥”⁸

किन्तु यहाँ अनेक उदाहरण दे-देकर आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने यह सिद्ध किया है कि उक्त दोषों की निवृत्ति भी हेतु को त्रिरूपात्मक मानने से नहीं होती, अपितु एक अन्यथानुपपन्नत्व मानने से ही हो जाती है। अतः हेतु का समीचीन लक्षण एक अन्यथानुपपन्नत्व ही स्वीकार करना चाहिए, यही पूर्ण समर्थ है, इसी से सर्वदोषों की निवृत्ति हो जाती है। हजारों कौए एक ही कंकर से उड़ जाते हैं—

“अलं काकसहस्रेभ्यो एक एव दृषद् भवेत्।”⁹

बौद्धों की भाँति नैयायिक भी हेतु को अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण न मानकर उसे पंचरूपात्मक मानते हैं। पंचरूप हैं— पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित-

विषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व ।

किन्तु आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने यहाँ भी अनेक तर्क-उदाहरणादि द्वारा यह स्थापित किया है कि पंचरूपात्मकता को भी हेतु का समीचीन लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनेक अनुमान-वाक्य ऐसे हैं, जहाँ पंचरूपात्मकता नहीं है, पर अन्यथानुपपत्ति होने से वह साध्य का ज्ञान कराने वाला होने से समीचीन साधन (हेतु) सिद्ध होता है और अनेक अनुमान-वाक्य ऐसे हैं जहाँ पंचरूपात्मकता है, पर अन्यथानुपपत्ति न होने से वह साध्य का निश्चायक न होने से समीचीन साधन (हेतु) सिद्ध नहीं होता ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य विद्यानन्द स्वामी के अनुसार हेतु के लक्षण के रूप में त्रैरूप्य एवं पांचरूप्य आदि किसी की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, एकमात्र अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का पर्याप्त एवं निर्दोष (समीचीन) लक्षण सिद्ध होता है । अन्यथानुपपत्ति के बिना दोषापत्ति को कथमपि दूर नहीं किया जा सकता ।

कुछ लोग हेतु में तदुत्पत्ति, तज्जन्यत्व या तादात्म्य गुण होना अनिवार्य मानते हैं । वे सोचते हैं कि इसी से वह साध्य का नियम से ज्ञापक सिद्ध हो सकेगा, किन्तु आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने इसका भी सोदाहरण एवं सयुक्तिक निराकरण किया है । उन्होंने बताया है कि अनेक अनुमान-वाक्य ऐसे हैं जहाँ तदुत्पत्ति या तादात्म्य है, पर अन्यथानुपपत्ति नहीं होने से वे साध्य के निश्चायक नहीं बनते तथा अनेक अनुमान-वाक्य ऐसे हैं जहाँ तदुत्पत्ति या तादात्म्य नहीं है, पर अन्यथानुपपत्ति के होने से साध्य का निश्चायक ज्ञान होता है । —(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1/13/134) ।

इसी प्रकार कुछ लोग हेतु को साध्य का संयोगी या समवायी होना जरूरी मानते हैं, परन्तु यहाँ इसे भी असमीचीन सिद्ध किया गया है ।

“नान्यथानुपपन्नत्वं ताभ्यां व्याप्तं निक्षेपणात् ।

संयोग्यादिषु लिंगेषु तस्य तत्त्वपरीक्षकैः॥”¹⁰

अर्थ— तत्त्वों की यथार्थ परीक्षा करने वाले विद्वानों के द्वारा संयोगी, समवायी आदि हेतुओं में भी अन्यथानुपपन्नत्व का प्रक्षेप किया गया है ।

इसी प्रकार से और भी अनेक मिथ्या मान्यताओं का निराकरण करके एक अन्यथानुपपन्नत्व को ही हेतु का समर्थ, समीचीन एवं निर्दोष लक्षण स्थापित किया गया है ।

दरअसल यह तो सभी मानते हैं कि साधन से साध्य का निश्चित ज्ञान होना ही अनुमान है, अतः साधन (हेतु) को अवश्यमेव ऐसा होना चाहिए जो नियम से साध्य का ज्ञान करा सके तथा इसीलिए इस विषय में उन्होंने जरूरत से भी ज्यादा सावधानी बरतने की कोशिश की है । त्रैरूप्य-पांचरूप्य तक की कल्पना

भी इसी कारण से कर डाली है, परन्तु फिर भी वे सफल नहीं हो सके, असफल ही रह गये। हेतु का निर्दोष लक्षण निर्धारित नहीं कर सके। दरअसल ध्यान रखने की बात यह थी कि यहाँ (न्यायशास्त्र में) कारक हेतु की बात नहीं चल रही है, ज्ञापक हेतु की बात चल रही है और ज्ञापक हेतु तो अनेक प्रकार से हो सकता है—कार्यरूप भी, कारणरूप भी, सहचर रूप भी, पूर्वचर रूप भी, उत्तरचर रूप भी। इतना ही नहीं, ज्ञापक हेतु तो असद्भाव रूप भी हो सकता है, वह सदा सद्भाव रूप ही हो—यह भी आवश्यक नहीं है। इसीलिए आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने (प्रायः सभी जैनाचार्यों ने) हेतु के लक्षण में उसके अन्य किसी गुण पर ध्यान नहीं दिया, मात्र एक ही अचूक गुण यह देखने का प्रयास किया कि उसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति है या नहीं। यदि अन्यथानुपपत्ति है तो वह सद्हेतु है और यदि अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो वह कथमपि सद्हेतु नहीं हो सकता।

हेतु के भेद (संख्या)

आचार्य विद्यानन्दस्वामी हेतु के ‘अन्यथानुपपत्ति’ एक लक्षण पर इतना अधिक बल प्रदान करना चाहते हैं कि वे उसके भेद-प्रभेदों की भी विशेष चर्चा नहीं करना चाहते हैं और बारम्बार स्पष्ट शब्दों में यही कहते रहते हैं कि हेतु तो एक ही प्रकार का होता है जो अन्यथानुपपत्ति लक्षण से पहचाना जाता है। बस, इससे अधिक उसके कोई भेद, रूप या प्रकार नहीं हो सकते। यथा—

‘स्यादेकस्तद्वशाल्लिङ्गमेवोक्तलक्षणम्।’¹¹

अर्थात् उक्त (अन्यथानुपपत्ति) लक्षण वाला हेतु (लिङ्ग) एक ही होता है।

किन्तु इसके बाद आगे चलकर उन्होंने उसके कुछ प्रमुख भेद-प्रभेद भी स्थापित किये हैं तथा इस प्रसंग में अन्याभिमत हेतु-भेदों का निराकरण भी किया है। प्रतीत होता है कि अन्याभिमत हेतु-संख्या को अव्यवस्थित, अपर्याप्त और दोषपूर्ण जानकर ही आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने हेतु की एक सुव्यवस्थित और निर्दोष संख्या प्रतिपादित की है।

उन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में जिन-जिन अन्याभिमत हेतु-संख्याओं का विस्तारपूर्वक निराकरण किया है, उनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है—

- (क) कुछ मानते हैं कि हेतु के तीन भेद ये हैं— अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी।
- (ख) कुछ मानते हैं कि हेतु के तीन भेद ये हैं— कार्यहेतु, कारणहेतु और अकार्यकारणहेतु।
- (ग) कुछ मानते हैं कि हेतु के तीन भेद ये हैं— वीतहेतु, अवीतहेतु और वीतावीत हेतु।

- (घ) कुछ मानते हैं कि हेतु के तीन भेद ये हैं— भूतहेतु, अभूतहेतु और भूताभूत हेतु।
- (ङ) कुछ मानते हैं कि हेतु के तीन भेद ये हैं— कार्यहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलम्भ हेतु।
- (च) कुछ मानते हैं कि हेतु के तीन भेद ये हैं— पूर्ववत् हेतु, शेषवत् हेतु और सामान्यतोदृष्ट हेतु।
- (छ) कुछ मानते हैं कि हेतु के चार भेद ये हैं— संयोगी हेतु, समवायी हेतु, एकार्थसमवायी हेतु और विरोधी हेतु।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक मत हो सकते हैं। उन सबको आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने विस्तारपूर्वक अनेक उदाहरणों और तर्कों से न केवल निःसार, निष्फल और अप्रयोजनभूत सिद्ध किया है, अपितु अपर्याप्त आदि दोषों से युक्त (दूषित) भी सिद्ध किया है। उनके अनुसार हेतु-भेद की ऐसी व्यवस्था अकिंचित्कर ही नहीं, भ्रमोत्पादक भी है, इससे कोई इष्टसिद्धि नहीं हो सकती।

अतः उनके अनुसार हेतु के यदि भेद करने हों तो निम्नलिखित दो ही भेद हो सकते हैं— उपलम्भ और अनुपलम्भ, जिन्हें उपलब्धि और अनुपलब्धि या विधि और निषेध भी कह सकते हैं। शेष सभी भेद इसमें गर्हित हो जाते हैं। यथा—

“सर्वहेतुविशेषाणां संग्रहो भासते यथा।
तथा तद्भेदनियमे द्विभेदो हेतुरिष्यताम्॥
संक्षेपादुपलंभश्चानुपलंभश्च वस्तुनः।
परेषां तत्प्रभेदत्वात्तत्रान्तर्भावसिद्धितः॥”¹²

पुनश्च, यह उपलम्भ और अनुपलम्भ नामक हेतु भी विधि-साधक और निषेध-साधक के भेद से द्विधा विभाजित किया जा सकता है। तब इसके चार भेद इस प्रकार बनेंगे।¹³

1. विधिसाधक उपलम्भ हेतु (अविरुद्धोपलब्धि)
2. निषेधसाधक उपलम्भ हेतु (विरुद्धोपलब्धि)
3. विधिसाधक अनुपलम्भ हेतु (विरुद्धानुपलब्धि)
4. निषेधसाधक अनुपलम्भ हेतु (अविरुद्धानुपलब्धि)

हेतु के जितने भी भेद-प्रभेद हैं, उन सबका संग्रह उक्त दो या चार में ही हो जाता है, अलग से कार्यादि त्रितय की व्यवस्था करना अकिंचित्कर है—

“उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यामित्येवं सर्वहेतवः।
संगृह्यन्ते न कार्यादित्रितयेन कथंचन॥”¹⁴

इसके बाद आगे चलकर पुनः आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने इसके भी कुछ और प्रभेद गिनाए हैं। उदाहरणार्थ उपलम्भ हेतु के 6 प्रभेद इस प्रकार बताए— कार्य, कारण, व्याप्य, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर।

परन्तु वे बार-बार इस बात का स्मरण भी दिलाते गये हैं कि हेतु मूलतः एक ही होता है— अन्यथानुपपत्त्यैकलक्षण। जिस प्रकार अग्नि का लक्षण एक उष्णता ही है, उसी प्रकार हेतु का एक असाधारण लक्षण अन्यथानुपपत्ति ही है—

“हेतोरसाधारणं सिद्धं साधनस्यैकलक्षणम् ।
तत्त्वतः पावकस्यैव सोष्णत्वं तद्धिदां मतम् ॥”¹⁵

हेत्वाभास-

आचार्य विद्यानन्द स्वामी के ‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ में हेत्वाभास का विवेचन स्वतन्त्र रूप से मुझे नहीं दिखाई दिया, किन्तु हेतु के लक्षण-निर्धारण-प्रसंग में ही जब उन्होंने बौद्धों के त्रैरूप्य और नैयायिकों के पांचरूप्य का निराकरण किया है, तभी हेत्वाभासों का भी संक्षिप्त उल्लेख किया है। उनका कहना है कि त्रैरूप्य और पांचरूप्य हेतु लक्षण को स्वीकार करने पर भी असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी (अनैकान्तिक) हेत्वाभासों को नहीं टाला जा सकता और एक अन्यथानुपपत्ति को स्वीकार करने से सभी हेत्वाभासों से बचा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक स्थलों पर असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक हेत्वाभासों को दिखाया गया है।

सन्दर्भ सूची

1. न्यायमन्दिर (वीरसागर जैन), भूमिका, पृष्ठ 12
2. परीक्षामुखसूत्रम्, प्रारम्भिक मंगल श्लोक 1
3. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 13, श्लोक 274 का भाष्य
4. वही, 1/13/122
5. वही, 1/13/189 का भाष्य
6. वही, 1/13/180
7. वही, 1/13/129
8. वही, 1/13/181
9. क्षत्रचूडामणि, 3/51
10. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1/13/135
11. वही, 1/13/144
12. वही, 1/13/209-210
13. वही, 1/13/217
14. वही, 1/13/330
15. वही, 13/187



पृथक्त्वैकान्त की समीक्षा

पृथक्त्वैकान्त की चर्चा मूल रूप से आचार्य समन्तभद्रस्वामी कृत ‘आप्तमीमांसा’ के द्वितीय परिच्छेद में आई है, जिसे बाद में आचार्य अकलंक एवं विद्यानन्द स्वामी आदि ने भी उसकी ‘अष्टशती’ एवं ‘अष्टसहस्री’ आदि टीकाओं में बहुत विस्तार के साथ स्पष्ट किया है।

पृथक्त्वैकान्त को द्वैतैकान्त या भिन्नैकान्त भी कहा गया है। आप्तमीमांसा के द्वितीय परिच्छेद में कुल 13 कारिकाएँ हैं, क्रमांक 24 से 36 तक। इन सबकी विषयवस्तु संक्षेप में इसप्रकार ज्ञातव्य है—

1. कारिका 24 से 27 तक चार कारिकाओं में अद्वैतैकान्त का निराकरण है।
2. कारिका 28 से 31 तक चार कारिकाओं में द्वैतैकान्त का निराकरण है।
3. कारिका 32 में उभयैकान्त व अवाच्यैकान्त का निराकरण है।
4. कारिका 33 से 36 तक चार कारिकाओं में स्याद्वाद की स्थापना है।

यहाँ हम कारिका 28 से 31 तक में वर्णित द्वैतैकान्त, जिसका अपर नाम पृथक्त्वैकान्त या भिन्नैकान्त भी है, की समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

यह द्वैतैकान्त या पृथक्त्वैकान्त दो प्रकार से कहा गया प्रतीत होता है—

1. यौगाभिमत पृथक्त्वैकान्त (कारिका 28 में)
2. बौद्धाभिमत पृथक्त्वैकान्त (कारिका 29 से 31 में)

यौगाभिमत पृथक्त्वैकान्त में योग अर्थात् नैयायिक-वैशेषिकों के मत का निराकरण है और बौद्धाभिमत पृथक्त्वैकान्त में बौद्धों के मत का निराकरण है। यहाँ हम दोनों को पृथक्-पृथक् समझने का प्रयास करते हैं।

यौगाभिमत पृथक्त्वैकान्त की समीक्षा-

नैयायिक और वैशेषिकों का मानना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव— ये सातों पदार्थ सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थ भी सर्वथा पृथक्-पृथक् ही हैं। उन सबके सर्वथा पृथक्-पृथक् होने का कारण उनमें विद्यमान पृथक्त्व गुण है। वे सब उस पृथक्त्व गुण के कारण ही सदा सर्वथा पृथक्-पृथक् रहते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना/पूछना है कि वे पदार्थ उस पृथक्त्व गुण से पृथक् हैं या अपृथक्? अपृथक् तो आप कह ही नहीं सकते, क्योंकि गुण और गुणी में आपने सर्वथा भेद माना है, अतः यदि आप अपृथक् कहेंगे तो स्वसिद्धांतविरोध उपस्थित होगा। तथा यदि पृथक् कहेंगे तो वे सब पदार्थ जब उस पृथक्त्व गुण से ही पृथक् हो जाएँगे, तब फिर वे पृथक्-पृथक् किससे रहेंगे? अपृथक् ही सिद्ध होंगे।

यदि कहा जाए कि समवाय के द्वारा पृथक्त्व गुण द्रव्य, गुण, कर्म आदि से पृथक् नहीं होगा तो फिर वही प्रश्न पुनः उपस्थित होगा जो पृथक्त्व के सम्बन्ध में उत्पन्न हुआ था। समवाय का समवाय किससे होगा? ऐसे में अनवस्था दोष भी उत्पन्न होगा।

समवाय को मानने पर यह व्यवस्था भी कैसे होगी कि ज्ञान गुण का समवाय आत्मा से ही है, पुद्गल आदि अन्य किसी से नहीं, उष्ण गुण का समवाय अग्नि से ही है, आकाश आदि अन्य किसी से नहीं।

पृथक्त्वैकान्त को मानने पर गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान, अवयव-अवयवी, सामान्य-सामान्यवान, विशेष-विशेषवान आदि का विधान भी नहीं बन सकता है। अर्थात् यह कैसे कहा जा सकेगा कि यह गुणी है और यह इसका गुण है, इत्यादि। यह व्यपदेश कैसे हो सकेगा कि ज्ञान आत्मा का गुण है, गन्ध पृथ्वी का गुण है, इत्यादि। समवाय के द्वारा भी इनमें एकत्व की प्रतीति नहीं हो सकती है।

पृथक्त्व गुण से सबको पृथक्-पृथक् मानने में एक आपत्ति यह भी है कि वह पृथक्त्व गुण एक है या अनेक? यदि अनेक है तो फिर उन सबमें एकत्व की प्रतीति होगी और यदि एक है तो वह एक गुण अनेक पदार्थों में कैसे स्थित रह सकता है?

यौगाभिमत पृथक्त्वैकान्त के निराकरण का सम्पूर्ण निर्देश आप्तमीमांसा की निम्नलिखित 28वीं कारिका में भलीभांति हुआ है। यथा—

पृथक्त्वैकान्तैकान्तपक्षेपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ ।

पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥

इसे यदि और अधिक विस्तार से समझना हो तो इसकी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि टीकाओं का अध्ययन करना चाहिए। आर्यिका ज्ञानमती और प्रो. उदयचन्द्र जैन ने भी अपनी व्याख्याओं में इस विषय का अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

कुल मिलाकर निष्कर्ष यह है कि यौगाभिमत पृथक्त्वैकान्त को समीचीन नहीं माना जा सकता।

बौद्धाभिमत पृथक्त्वैकान्त की समीक्षा-

बौद्धों का मानना है कि सभी पदार्थ परमार्थतः क्षणिक हैं, प्रतिक्षण विनाशशील

हैं, किन्तु भ्रान्तिवश वे हमें नित्य जैसे प्रतीत होते हैं। बौद्धों का यह भी मानना है कि प्रत्येक कार्य का अणु-अणु परमार्थतः सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं तथा कार्य एवं कारण भी परमार्थतः सर्वथा पृथक्-पृथक् ही हैं, निरन्वय विनश्वर हैं। हमें अज्ञान के कारण उनका पृथक्त्व दिखाई नहीं देता है।

किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि यदि प्रत्येक कार्य का अणु-अणु यदि सर्वथा पृथक्-पृथक् ही हैं तो फिर घट का रूप कैसे दिखाई देता है? न केवल दिखाई देता है, उसमें जलाहरण आदि की अर्थक्रिया भी सम्पन्न होती है। वह कैसे सम्पन्न होती है?

इसीप्रकार यदि कारण से कार्य सर्वथा पृथक्-पृथक् ही है तो मृत्पिंड के नाश हो जाने के बाद आखिर घट किससे बनता है? उसकी व्यवस्था कैसे होगी?

बौद्धों की एक और विशेष बात है कि वे प्रत्येक पदार्थ का निरन्वय विनाश मानते हैं, उनमें किसी प्रकार का एकत्व नहीं मानते हैं, फिर भी सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव को मानते हैं। इन सन्तान आदि से ही वे सर्व व्यवस्थाओं की सिद्धि कर लेते हैं। जैसे कि उनके अनुसार आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, किन्तु ज्ञान की सन्तान चलती है वही आत्मा है। तथा वह ज्ञान भी परमार्थतः क्षणिक है, किन्तु उसकी सन्तान चलती है, उससे स्मृति आदि का व्यवहार हो जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, प्रेत्यभाव के लिए भी एकत्व का होना अनिवार्य है। एकत्व के अभाव में उनको उसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार मूल के अभाव में वृक्ष को सिद्ध नहीं किया जा सकता। जब विनाश को निरन्वय ही मान लिया गया तो कार्य-कारण आदि की समीचीन व्यवस्था कैसे बन सकती है? स्मृति आदि का व्यवहार प्रामाणिक, अविस्वादी कैसे माना जा सकता है? प्रेत्यभाव को एक ही जीव का कैसे माना जा सकता है? पाप-पुण्य और उसके फल की व्यवस्था कैसे बन सकती है? यदि परमाणु भी सर्वथा क्षणिक और अन्य सजातीय-विजातीय परमाणुओं से व्यावृत्त है तो उनमें समुदाय की प्रतीति कैसे हो सकती है? इसीप्रकार एकत्व के अभाव में अनेक पदार्थों में साधर्म्य भी नहीं बन सकता है। साधर्म्य, समुदाय आदि की प्रतीति को मिथ्या भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह सर्वानुभूत है, उसे आप (बौद्ध) भी स्वीकार करते हैं।

इस सन्दर्भ में आप्तमीमांसा की निम्नलिखित कारिका महत्त्वपूर्ण है—

सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरंकुशः।

प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिहन्वे ॥ 29 ॥

पृथक्त्वैकान्त को मानने पर और भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं। जैसे कि

एक दोष उत्पन्न होता है कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों सर्वथा पृथक् सिद्ध होंगे और ऐसी स्थिति में दोनों ही असत् सिद्ध होंगे, क्योंकि ज्ञान के अभाव में ज्ञेय नहीं हो सकता और ज्ञेय के अभाव में ज्ञान नहीं हो सकता। वही आप्तमीमांसा की निम्नलिखित कारिका में भी स्पष्ट कहा है—

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत् ।

ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥ 30 ॥

पृथक्त्वैकान्त को मानने पर एक और भी महा दोष उत्पन्न होता है। बौद्धों के अनुसार शब्दों के द्वारा अर्थ का कथन नहीं होता है, अपितु मात्र सामान्य का प्रतिपादन होता है और यह सामान्य पारमार्थिक नहीं होता, कल्पित ही होता है। अन्य व्यावृत्ति का नाम सामान्य है। जैसे कि मनुष्यों में कोई मनुष्यत्व सामान्य नहीं रहता है, किन्तु सब मनुष्य अमनुष्यों से व्यावृत्त हैं, इसलिए उनमें एक मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना कर ली जाती है। यही बात गोत्व आदि में सर्वत्र समझ लेनी चाहिए। जैनाचार्यों का इस सम्बन्ध में कहना है कि शब्द जब सामान्य को ही कहते हैं, विशेष को नहीं कहते हैं और सामान्य पारमार्थिक है ही नहीं, केवल कल्पित ही है तो समस्त शब्द असत्य ही सिद्ध होंगे। यथा—

सामान्यार्था गिरोन्येषां विशेषो नाभिलष्यते ।

सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥ 31 ॥

इस विषय का भी विशेष विस्तार से स्पष्टीकरण समझना हो तो इसकी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि टीकाओं का अध्ययन करना चाहिए। तथा आर्यिका ज्ञानमती, पं. जुगलकिशोर मुख्त्यार और प्रो. उदयचन्द जैन की व्याख्याओं को भी देखना चाहिए।

कुल मिलाकर निष्कर्ष यह है कि बौद्धाभिमत पृथक्त्वैकान्त को भी समीचीन नहीं माना जा सकता।

तब फिर समीचीन क्या है? यह जानने के लिए कारिका 33 से 36 तक का प्रकरण गहराई से पढ़ना चाहिए, जिसमें स्याद्वाद की स्थापना की गई है। कहा गया है कि भेद और अभेद दोनों ही प्रमाण के विषय होने से वास्तविक हैं, कोई भी काल्पनिक या मिथ्या नहीं है। गौण और मुख्य विवक्षा से देखा जाए तो दोनों ही एकत्र अविरोध भाव से रह सकते हैं, रहते ही हैं, उसमें कोई आपत्ति नहीं आती। यथा—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती ।

तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥ 36 ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वथा अद्वैत और सर्वथा द्वैत दोनों ही एकान्त होने से अनुचित सिद्ध होते हैं और स्याद्वाद ही उनका समुचित समाधान है। ❖❖

प्रमेयरत्नमाला में प्रतिपादित बौद्धदर्शन

‘प्रमेयरत्नमाला’ आचार्य माणिक्यनन्दि के सुप्रसिद्ध न्यायग्रन्थ ‘परीक्षामुखसूत्रम्’ की संस्कृत-टीका है, जिसके 6 परिच्छेदों में प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय, फलादि के साथ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

‘प्रमेयरत्नमाला’ के रचयिता लघु अनन्तवीर्य हैं। जैन परम्परा में अनन्तवीर्य नाम के दो आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है, अतः इन दोनों में भेद करने के लिए एक को ‘अनन्तवीर्य’ और दूसरे को ‘लघु अनन्तवीर्य’ कहते हैं। अनन्तवीर्य का समय विक्रम की 11वीं शताब्दी है और उनकी रचना है ‘सिद्धिविनिश्चय टीका’ तथा लघु अनन्तवीर्य का समय है विक्रम की 12वीं शताब्दी और उनकी रचना है— ‘प्रमेयरत्नमाला’। दोनों आचार्यों की एक-एक रचना ही अद्यावधि उपलब्ध है।

‘प्रमेयरत्नमाला’ यद्यपि पूर्णतः जैन-न्याय का ही ग्रन्थ है, उसमें विस्तारपूर्वक जैन न्याय का ही विवेचन किया गया है, परन्तु वह विवेचन प्रायः सर्वत्र जैनोत्तर मतों का निराकरण करते हुए ही हुआ है, अतः ‘प्रमेयरत्नमाला’ में बौद्धदर्शन का भी संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है, जो मुख्यतः प्रमाण-व्यवस्था से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार ‘प्रमेयरत्नमाला’ के अध्ययन से हमें बौद्ध प्रमाण-व्यवस्था के भी कतिपय निम्नलिखित प्रमुख बिन्दुओं का स्पष्ट ज्ञान होता है—

1. प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान निर्विकल्पक है।¹
2. प्रमाण के दो भेद हैं— प्रत्यक्ष और अनुमान।²
3. अर्थ ज्ञान का कारण है।³
4. हेतु का लक्षण त्रैरूप्य है।⁴
5. प्रमाण का विषय प्रतिक्षण विनाशशील, अनित्य और निरंश है।⁵
6. प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा अभिन्न है।⁶

1. प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान निर्विकल्पक है-

इस विषय का वर्णन मुख्य रूप से प्रथम परिच्छेद के पहले और तीसरे सूत्र की टीका में किया गया है, जहाँ जैनाभिमत प्रमाण-लक्षण में ‘व्यवसायात्मक’

पद की सार्थकता सिद्ध की गई है। इसके अतिरिक्त प्रमाणाभास का वर्णन करते हुए छठे परिच्छेद में भी इस विषय का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जैनों का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान को इसलिए प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह स्वविषय का निर्णायक नहीं है। यथा—

(क) दर्शनं सौगताभिमतं निर्विकल्पकम्। तच्च स्वविषयानुपदर्शकत्वादप्रमाणम्।⁷

(ख) निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रामाण्यं सौगतैः परिकल्पितं, तन्निरासार्थं व्यवसायात्मकग्रहणम्।⁸

प्रमेयरत्नमालाकार ने इस विषय में बौद्धमत को भी यथावत् एवं अल्प शब्दों में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है, यथा—

“अत्राह सौगतः— भवतु नाम सन्निकर्षादिव्यवच्छेदेन ज्ञानस्यैव प्रामाण्यम्, न तदस्माभिर्निषिध्यते। तत्तु व्यवसायात्मकमेवेत्यत्र न युक्तिमुत्पश्यामः। अनुमानस्यैव व्यवसायात्मनः प्रामाण्याभ्युपगमात्। प्रत्यक्षस्य तु निर्विकल्पकत्वेऽप्यविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेरिति।”⁹

2. प्रमाण के दो भेद हैं : प्रत्यक्ष और अनुमान

इस विषय का वर्णन मुख्य रूप से द्वितीय परिच्छेद के पहले-दूसरे सूत्र ‘तद्देवधा’, और ‘प्रत्यक्षेतरभेदात्’ की टीका में आया है। जैनदर्शन में प्रमाण के मूल भेद दो हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के पुनः 5 भेद हैं— स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। किन्तु बौद्धदर्शन में प्रमाण के दो भेद इस प्रकार बताये हैं— 1. प्रत्यक्ष और 2. अनुमान। प्रमेयरत्नमालाकार का कहना है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को भी अनुमान प्रमाण मानने से पूर्व अविश्वस्यविज्ञान रूप होने से प्रमाण मानना आवश्यक है, अन्यथा स्मृति आदि के आधार पर चलने वाले लोक-व्यवहार के भी लोप का प्रसंग उपस्थित होगा और इनके आधार पर उत्पन्न होने वाला अनुमान भी प्रमाण नहीं माना जा सकेगा, यथा—

(क) ततः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयमेवेति सौगतः। सोऽपि न युक्तवादी, स्मृतेरविसंवादिन्यास्तृतीयायाः प्रमाणभूतायाः सद्भावात्। न च तस्या विसंवादादप्रामाण्यम्, दत्तग्रहादिविलोपापत्तेः।¹⁰

(ख) किञ्च स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानवार्तापि दुर्लभा, तयाव्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थाना-योगादिति। सैव प्रत्यक्षानुमानस्वरूपतया प्रमाणस्य द्वित्वसंख्यानियमं विघटयतीति किं नश्चिन्तया।¹¹

तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का प्रत्यक्ष या अनुमान में अन्तर्भाव भी नहीं किया जा सकता है, अतः इन्हें अलग से प्रमाण मानना आवश्यक है। यथा—

“न चैतत् प्रत्यक्षेऽन्तर्भवति, अनुमाने वा, तयोः पुरोऽवस्थितार्थविषयत्वेना-

विनाभूतलिङ्गसम्भावितार्थविषयत्वेन च पूर्वापरविकारव्याप्येकत्वाविषयत्वात्।”¹²

3. अर्थ ज्ञान का कारण है

इस विषय का वर्णन मुख्य रूप से द्वितीय परिच्छेद के आठवें-नौवें सूत्र की टीका में आया है। बौद्धमतानुसार ज्ञान अर्थजनित और अर्थाकार होकर ही अर्थ का ग्राहक होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि अन्यथा मानने पर ज्ञान का विषय के प्रति नियम नहीं बन सकेगा। भिन्नकालवर्ती (क्षणिक) पदार्थ को भी ज्ञान तदुत्पत्ति एवं तदाकारता के साथ ही जानता है, क्योंकि वह पदार्थ नष्ट होते हुए भी अपना आकार ज्ञान को अर्पित कर जाता है। यथा—

“ननु विज्ञानमर्थजनितमर्थाकारं चार्थस्य ग्राहकम्, तदुत्पत्तिमन्तरेण विषयं प्रति नियमायोगात्। तदुत्पत्तेरालोकादावविशिष्टत्वात्ताद्रूप्यसहिताया एव तस्यास्तं प्रति नियमहेतुत्वात्, भिन्नकालत्वेऽपि ज्ञानज्ञेययोः ग्राह्यग्राहकभावाविरोधात्। तथा चोक्तम् भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्।”¹³

किन्तु जैनमतानुसार ज्ञान अर्थजन्य न होकर भी अर्थप्रकाशक होता है, प्रदीप की भाँति— अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत्।¹⁴

इसी प्रकार ज्ञान का अर्थाकार होना भी आवश्यक नहीं है, यथा—

“अर्थाजन्यमप्यर्थप्रकाशकमित्यर्थः। अतज्जन्यत्वमुपलक्षणम्। तेनातदाकारमपीत्यर्थः। उभयत्रापि प्रदीपो दृष्टान्तः। यथा प्रदीपस्यातज्जन्यस्यातदाकारधारिणोऽपि तत्प्रकाशकत्वं, तथा ज्ञानस्यापीत्यर्थः।”¹⁵

यदि ऐसा प्रश्न किया जाए कि फिर ज्ञान का विषय के प्रति नियम कैसे बनेगा, तो उसका उत्तर जैन यह देते हैं कि यह व्यवस्था ज्ञान की स्वावरण-क्षयोपशमलक्षणरूप योग्यता पर निर्भर होती है—

“स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यता हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।”¹⁶

यही आचार्य अनन्तवीर्य ने कहा है—

“इदमत्र तात्पर्यम्— कल्पयित्वापि ताद्रूप्यं तदुत्पत्तिं तदध्यवसायं च योग्यताऽवस्था-भ्युपगन्तव्या। ताद्रूप्यस्य समानार्थस्तदुत्पत्तेरिन्द्रियादिभिस्तद्व्यवस्थापि समानार्थसमनन्तर-प्रत्ययैस्तत्त्रितयस्यापि शुक्ले शंखे पीताकारज्ञानेन व्यभिचाराद् योग्यताश्रयणमेव श्रेय इति।”¹⁷

4. हेतु का लक्षण त्रैरूप्य है

इस विषय का वर्णन तृतीय परिच्छेद के सूत्र 11 की टीका में आया है। बौद्धदर्शन में हेतु का लक्षण त्रैरूप्य माना गया है— पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति, क्योंकि इस त्रैरूप्य से ही असिद्धादि दोषों का परिहार हो सकता

है, अन्यथा नहीं। पक्षसत्त्व से सिद्ध दोष का, सपक्षसत्त्व से विरुद्ध दोष का और विपक्षव्यावृत्ति से अनैकान्तिक दोष का परिहार होता है। यथा—

“ननु त्रैरूप्यमेव हेतोरलक्षणम्, तस्मिन् सत्येव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहारोपपत्तेः। तथा हि— पक्षधर्मत्वमसिद्धत्वव्यवच्छेदार्थमभिधीयते। सपक्षे सत्त्वं तु विरुद्धत्वा-पनोदार्थम्। विपक्षे चासत्त्वमनैकान्तिकव्युदासार्थमिति। तदुक्तम्— हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः। असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः।”¹⁸

किन्तु जैनों के अनुसार एक अविनाभाव ही हेतु का पर्याप्त लक्षण है, क्योंकि केवल एक उसी के निश्चय से असिद्धादि सर्वदोषों का परिहार हो जाता है। अविनाभाव का दूसरा नाम अन्यथानुपपन्नत्व भी है, यथा—

“अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः। अविनाभावो ह्यन्यथानुपपन्नत्वम्।”¹⁹

जैनों का कहना यह भी है कि कभी-कभी त्रैरूप्य होने पर भी हेतु साध्य का गमक नहीं हो पाता, जैसे— वह श्याम है क्योंकि उसका पुत्र है, उसके अन्य पुत्रों की तरह। अतः एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का अव्यभिचारी लक्षण मानना चाहिए, त्रैरूप्य को नहीं। यथा—

“ततोऽन्यथानुपपत्तिरेव श्रेयसी, न त्रिरूपता, तस्यां सत्यामपि यथोक्तलक्षणाभावे हेतोर्गमकत्वाददर्शनात्। तथा हि— स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत् इत्यत्र त्रैरूप्यसम्भवेऽप्यगमकत्वमुपलक्ष्यते।”²⁰

5. प्रमाण का विषय प्रतिक्षण विनाशशील, अनित्य और निरंश है

इस विषय का वर्णन मुख्य रूप से चतुर्थ परिच्छेद के पहले सूत्र की टीका में आया है, जहाँ प्रमाण के विषय को जैनमतानुसार सामान्यविशेषात्मक समझाया गया है। यहाँ यह विषय अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग 20 पृष्ठों में समझाया गया है जो मूलतः पठनीय है। इसके अतिरिक्त षष्ठ परिच्छेद में सूत्र 61-62 की टीका में प्रमाण के विषयाभास का वर्णन करते हुए भी इस विषय का संक्षेप में संकेत किया गया है। बौद्धदर्शन के अनुसार पृथक्-पृथक् नाना विशेष (स्वलक्षण) ही वास्तविक सत् हैं और वे प्रतिक्षण विनाशशील, अनित्य और निरंश हैं। उनमें सामान्यत्व की बुद्धि परमार्थ से भ्रम है, क्योंकि वास्तविक रूप से सामान्य कोई वस्तु ही नहीं है। सामान्य तो अनेक व्यक्तिनिष्ठ हैं, अतः वह हमारी अभेद बुद्धिजन्य ही है, काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं। जैसे कि खण्डी-मुण्डी आदि अनेक गायों में गोत्व, यथा—

“तथा विशेषा एव तत्त्वम्, तेषामसमानेतरविशेषेभ्योऽशेषात्मना विश्लेषात्मकत्वात् सामान्यस्यैकस्यानेकत्र व्याप्त्या वर्तमानस्य सम्भवाभावाच्च तस्यैकव्यक्तिनिष्ठस्य सामस्त्येनोपलब्धस्य तथैव व्यक्त्यन्तरेऽनुपलम्भप्रसङ्गात्। उपलम्भे वा तन्नानात्वा-पत्तेर्युगपद् भिन्नदेशतया सामस्त्येनोपलब्धेस्तद्व्यक्तिवत् अन्यथा व्यक्तयोऽपि भिन्ना

माभूवन्निति । ततो बुद्ध्यभेद एव सामान्यम् । तदुक्तम्—

एकत्र दृष्टो भावो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते ।

तस्मान्न भिन्नमस्त्यन्यत् सामान्यं बुद्ध्यभेदतः॥

ते च विशेषाः परस्परासम्बद्धा एव, तत्सम्बन्धस्य विचार्यमाणस्यायोगात् ।”²¹

इस पर जैनों का उत्तर यह है कि सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रतिक्षण विनाशशील, अनित्य और निरंश विशेषों का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है—

“तेऽपि न युक्तवादिनः, सजातीयेतरव्यावृत्तात्मनां विशेषाणामनंशानां ग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात् ।”²²

पदार्थ को सर्वथा क्षणिक मानने में जैनों की एक आपत्ति यह भी है कि उसमें अर्थक्रियाकारित्व नहीं बन सकता । वह इस प्रकार है—

“किञ्च— भवत्पक्षे सतोऽसतो वा कार्यकारित्वम्? सतः कार्यकर्तृत्वे सकलकाल-कलाव्यापिषणानामेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे खरविषाणादेरपि कार्यकारित्वम्, असत्त्वाविशेषात् । सत्त्वलक्षणस्य व्यभिचारश्च । तस्मान्न विशेषैकान्तपक्षः श्रेयान् ।”²³

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तुसामान्यविशेषात्मक है, अतः उसे कथंचित् अथवा पर्याय अपेक्षा से प्रतिक्षण उत्पाद-विनाशशील या अनित्य कहने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु स्वभावापेक्षा से उसे उत्पाद-विनाशरहित एवं नित्य भी मानना आवश्यक है । यही कहा है—

“पर्यायरूपेणैव हि भावानामुत्पादविनाशावंगीक्रियेते, न द्रव्यरूपेण । समुदेति विलयमृच्छति भावे नियमेन पर्ययनयस्य । नोदेति नो विनश्यति भावनयालिंगितो नित्यम् इति वचनात् ।”²⁴

6. प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा अभिन्न है

इस विषय का वर्णन पंचम परिच्छेद के दूसरे-तीसरे सूत्र की टीका में ही आया है और वह अत्यन्त संक्षिप्त है । बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रमाण का फल प्रमाण से अभिन्न ही है— “अभिन्नमेवेति सौगताः ।”²⁵

किन्तु जैनाचार्यों के अनुसार प्रमाण का फल कथंचित् भिन्न भी कहा जा सकता है और कथंचित् अभिन्न भी— “प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ।”²⁶

क्योंकि जो जानता है वही अज्ञानरहित होता है अथवा ग्रहण-त्याग-उपेक्षा करता है, अतः इस अपेक्षा से प्रमाण का फल प्रमाण से अभिन्न कहा जा सकता है और क्रिया व कारणरूप परिणाम के भेद से प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न भी कहा जा सकता है । यथा—

“अयमर्थः— यस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम

इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः । करणक्रियापरिणामभेदाद् भेद इत्यस्य सामर्थ्यसिद्धत्वान्नोक्तम् ।”²⁷

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य लघु अनन्तवीर्य कृत टीका ‘प्रमेयरत्नमाला’ में बौद्धदर्शन का महत्त्वपूर्ण वर्णन उपलब्ध होता है और उसकी चार प्रमुख विशेषताएँ हैं— 1. वह संक्षिप्त है, 2. वह प्रामाणिक है, 3. मात्र प्रमाण-व्यवस्था से संबंधित है और 4. पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत है, उत्तर पक्ष में निराकृत भी है ।

सन्दर्भ सूची

1. प्रमेयरत्नमाला, सम्पादक— डॉ. हीरालाल जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1964, पृष्ठ 19-20, 308-311
2. वही, पृष्ठ 49-51
3. वही, पृष्ठ 76-79
4. वही, पृष्ठ 141-145
5. वही, पृष्ठ 252-272
6. वही, पृष्ठ 301-302
7. वही, पृष्ठ 308
8. वही, पृष्ठ 14
9. वही, पृष्ठ 19
10. वही, पृष्ठ 49
11. वही, पृष्ठ 51
12. वही, पृष्ठ 53
13. वही, पृष्ठ 77
14. परीक्षामुखसूत्र, 2-8
15. प्रमेयरत्नमाला, पृष्ठ 78
16. परीक्षामुखसूत्र, 2-9
17. प्रमेयरत्नमाला, पृष्ठ 79-80
18. वही, पृष्ठ 141-142
19. वही, पृष्ठ 142
20. वही, पृष्ठ 142-143
21. वही, पृष्ठ 252-254
22. वही, पृष्ठ 261
23. वही, पृष्ठ 272
24. वही, पृष्ठ 268
25. वही, पृष्ठ 301
26. परीक्षामुखसूत्रम्, 5-2
27. प्रमेयरत्नमाला, पृष्ठ 302



जैन न्याय-ग्रन्थों में उपलब्ध सूक्तियाँ

सूक्तियाँ प्रायः साहित्य-ग्रन्थों में ही ढूँढी जाती हैं, परन्तु यहाँ जैन दर्शन के न्याय-ग्रन्थों में से भी कतिपय सूक्ति-वाक्यों के संग्रह का एक अभिनव प्रयोग किया जा रहा है। आशा है कि यह प्रयोग विद्वज्जनों को आकर्षित करेगा। साथ ही सामान्यजनों को भी इससे बड़ा लाभ होगा। उन्हीं के हितार्थ यहाँ इन सूक्तियों का सहज-सरल हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. **सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।** —(न्यायदीपिका, 1/8)
सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।
2. **नैकं स्वस्मात् प्रजायते।** —(न्यायदीपिका, 2/4)
एक भी कार्य अपने आप नहीं होता।
3. **सहकारिसहस्रसमवधानेऽपि विषयान्तरप्रवृत्तेरयोगात्।** —(न्यायदीपिका, 3/12)
हजारों सहकारी कारणों के मिलने पर भी इन्द्रियाँ अविषय में प्रवृत्ति नहीं कर सकती।
4. **सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।** —(परीक्षामुखसूत्रम्, 4/1)
प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है।
5. **प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासात्विपर्ययः।** —(परीक्षामुखसूत्रम्, मंगलाचरण)
प्रमाण से अर्थ (पदार्थ/प्रयोजन) की सम्यक् सिद्धि होती है और प्रमाणाभास से इसका विपर्यय होता है।
6. **श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात् परमेष्ठिनः।** —(आप्तपरीक्षा, 2)
पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से श्रेयोमार्ग की सम्यक् सिद्धि होती है।
7. **साधकतमं करणम्।** —(जैनेन्द्र व्याकरण, 1/2/114)
जो साधकतम हो उसे करण कहते हैं।
8. **उद्देशानुसारेण लक्षणकथनम्।** —(न्यायदीपिका, 1/7)
उद्देश के अनुसार ही लक्षण का कथन होता है।

9. सर्व वाक्यं सावधारणम्। —(न्यायदीपिका, 3/81)
सभी वाक्य सावधारण (अवधारणा सहित, निश्चित अर्थ वाले) होते हैं।
10. प्रमाकरणं प्रमाणम्।
प्रमा (सम्यक् ज्ञान) के करण (वास्तविक साधन) को प्रमाण कहते हैं।
11. नयप्रमाणात्मको न्यायः। —(प्रमेयरत्नमाला, टिप्पण 2, पृष्ठ 3)
न्याय नयप्रमाणात्मक होता है।
12. प्रमाणनयैरधिगमः। —(तत्त्वार्थसूत्र, 1/6)
प्रमाण एवं नयों से वस्तुस्वरूप का अधिगम होता है।
13. ज्ञातुरभिप्रायो नयः। —(न्यायदीपिका, 3/84)
ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।
14. सुणयपमाणा जुत्ती। —(द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, 261)
सम्यक् नय एवं प्रमाण के प्रयोग का नाम युक्ति है।
15. सावेक्खा सुणया निरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति। —(कार्तिकेयानुपेक्षा, 266)
जो सापेक्ष हैं वे सुनय हैं और जो निरपेक्ष हैं वे दुर्नय हैं।
16. साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्। —(परीक्षामुखसूत्र, 3/14)
साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान है।
17. दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। —(न्यायदीपिका 3/34)
दृष्टान्त को कहना ही उदाहरण है।
18. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। —(परीक्षामुखसूत्र, 3/82)
आप्तवचनादि जिसमें कारण हैं उस अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।
19. प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः। —(नीतिवाक्यामृत, 15/2)
प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम के द्वारा यथावस्थित वस्तु को ठीक से समझा जाए उसे विचार कहते हैं।
20. न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषितचेतसे। —(क्षत्रचूडामणि, 4/25)
ईर्ष्या से दूषित चित्त वालों को न्याय अच्छा नहीं लगता।
21. यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः। —(अष्टशती, 78)
जो जिस विषय में अविसंवादक है वही उसका आप्त है।

22. यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः। —(प्रमेयरत्नमाला, 3/95)
जो जिस विषय में अवंचक है वही उसका आप्त है।
23. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। —(परीक्षामुखसूत्र, 5/1)
अज्ञान की निवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है। उसका परंपरा फल हान, उपादान, उपेक्षा है।
24. जे णयदिद्वीविहीणा ताण ण वत्थुसहावउवलद्धि। —(नयचक्र, 181)
जो नयदृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तु स्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती।
25. जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। —(धवला 1/1/1, 67)
नय उतने ही होते हैं जितने कि वचनमार्ग होते हैं।
26. निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्। —(आप्तमीमांसा, 108)
निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक्।
27. युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः। —(लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38)
जिसके वचन युक्तिसंगत हो उसे ही ग्रहण करो।
28. न्यायो युक्तिः प्रमाणेन प्रमेयस्य घटना। —(आप्तमीमांसावृत्ति, 13)
प्रमाण से प्रमेय को जानना ही युक्ति है, न्याय है।
29. अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः। —(परीक्षामुखसूत्र, 3/85)
वस्तु अनेकांतात्मक है, क्योंकि एकान्तस्वरूप की उपलब्धि नहीं होता।
30. श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात् परमेष्ठिनः। —(आप्तपरीक्षा, 2)
परमेष्ठी के प्रसाद से श्रेयोमार्ग की सम्यक् सिद्धि होती है।
31. नयान्तरविषयसापेक्षः सन्नयः। —(न्यायदीपिका, 3/84)
जो अन्य नयों के विषय की अपेक्षा सहित होता है वही सम्यक् नय है।



सिद्धचक्र विधान में भी न्यायशास्त्र

“जा करि निश्चय कीजिए, वस्तु प्रमेय अपार।
सो तुमसे परगट भयो, न्यायशास्त्र रुचि धार॥”

—(संत कवि, सिद्धचक्र विधान, 8/387)

हे जिनेन्द्र देव! जिसके द्वारा अनन्त प्रमेयभूत वस्तुओं का निश्चय किया जाता है, वह रुचिकर न्यायशास्त्र आपसे ही प्रकट हुआ है।

न्यायविद्या की प्रगति कैसे हो ?

न्यायविद्या एक अद्भुत विद्या है, अमृतविद्या है। आचार्य अनन्तवीर्यस्वामी ने इसे अमृतविद्या ही कहा है। यथा—

अकलंकवचोम्भोद्धेरुद्धे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥

—(प्रमेयरत्नमाला, मंगलाचरण, 2)

अर्थ— जिन्होंने आचार्य अकलंक के वचनरूपी समुद्र को मथकर न्यायविद्यारूपी अमृत का उद्धार किया है, उन बुद्धिमान आचार्य माणिक्यनन्दी को मेरा नमस्कार हो।

न्यायविद्या को प्राचीन काल में आन्वीक्षिकी, हेतुविद्या आदि अनेक नामों से जाना जाता था और यह सर्व विद्याओं की प्रकाशक मूलाधारभूत विद्या मानी जाती थी। यथा—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

—(चाणक्य, अर्थशास्त्र, विद्योद्देश प्रकरण, 2)

प्राचीन काल में इस न्यायविद्या को आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन के दोनों पक्षों को निर्मल करनेवाली होने के कारण सभी लोग अनिवार्यतः पढ़ा करते थे, किन्तु खेद है कि वर्तमान में इसका दिन-प्रतिदिन हास होता जा रहा है। अभी थोड़े दिन पहले तक भी न्यायविद्या का जैसा अध्ययन-अध्यापन होता था, वैसा भी अब नहीं हो रहा है। स्थिति निरन्तर बिगड़ती ही जा रही है।

किन्तु अभी यहाँ इस विषय में अधिक चिन्ता प्रकट करने की बजाय इस विषय पर कुछ चिन्तन करते हैं कि न्यायविद्या की प्रगति कैसे हो। मैं लगभग 42 वर्ष से न्यायविद्या के अध्ययन-अध्यापन से जुड़ा हुआ हूँ और इस अवधि में मैंने जो कुछ अनुभव इस सम्बन्ध में किये हैं, आज मैं उन्हीं के आधार पर अपने कुछ सुझाव आप सबके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे लगता है कि यदि हम इन पर ध्यान दें तो न्यायविद्या की काफी प्रगति हो सकती है। सुधी जनों

से निवेदन है कि वे इन पर अवश्य चिन्तन करें और यदि इनमें कुछ संशोधन-परिवर्द्धन हो तो वह भी करें, परन्तु न्यायविद्या को क्षीण होने से बचाने में अपना कुछ-न-कुछ योगदान अवश्य करें। न्यायविद्या हमारी अनमोल विरासत है।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा सबसे **पहला** सुझाव तो यह है कि इसे व्यावहारिक बनाया जाए। बनाया क्या जाए, यह तो व्यावहारिक ही है, आवश्यकता केवल इतनी है कि इसकी व्यावहारिकता को हम गहराई से प्रकाशित करें, हाईलाइट करें, ताकि समाज और शासन आदि में भी इसकी स्वीकार्यता बढ़े। समाज और शासन में स्वीकार्यता बढ़ने से इसकी विशेष प्रगति होगी।

दरअसल, पहले तो अधिकारी/नेतागण इसकी उपादेयता को जानते थे, अतः इस पक्ष को उभारने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती थी, परन्तु अब वे लोग उसे बिलकुल नहीं समझ पा रहे हैं, अपितु अनेक अधिकारी लोग तो उसे अनुपयोगी या निरर्थक तक कहने लगे हैं, अतः उन्हें इस पक्ष से परिचित कराना अत्यंत आवश्यक है, ताकि उनका भी समर्थन प्राप्त हो।

उनके अतिरिक्त अन्य सबको भी, इसके विद्यार्थियों को भी न्यायविद्या की व्यावहारिकता को सशक्त रीति से समझाना चाहिए, तभी उनका मन इसमें अच्छी तरह लगेगा। न्यायविद्या से केवल पारलौकिक लाभ ही नहीं होते, अपितु व्यक्ति एवं समाज सभी का बड़ा हित होता है।

समाज में सर्वत्र अन्धविश्वास, पक्षपात, पूर्वाग्रह, संकीर्णता आदि अनेक दोष व्याप्त हैं, न्यायविद्या के अध्ययन से ये सब सहज ही दूर किये जा सकते हैं और एक सुन्दर समाज की संरचना की जा सकती है। न्यायविद्या के अध्ययन से व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा होता है और उसकी वाणी, लेखनी आदि भी अत्यंत व्यवस्थित होती है। समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं। एक कहते हैं—मेरा सो खरा और दूसरे कहते हैं कि खरा सो मेरा। पहले प्रकार के लोग समाज में अनेक समस्याओं को जन्म देते हैं, क्योंकि वे कोई संविधान नहीं मानते। स्वस्थ समाज की रचना दूसरे प्रकार के लोगों से ही होती है और वे न्यायविद्या के अध्ययन से ही तैयार होते हैं। मतभेद होते हुए भी मनभेद न रखने की कला न्यायविद्या से ही अच्छी आती है, जो एक स्वस्थ एवं सुन्दर समाज की अनिवार्य शर्त है।

न्यायविद्या के अध्ययन से और भी अनेकानेक लाभ हमें हमारे व्यावहारिक/दैनिक जीवन में होते हैं, हमें उन्हें भलीभांति प्रकाशित करना चाहिए, उन पर राष्ट्रिय संगोष्ठी, व्याख्यान आदि आयोजित करना चाहिए। तथा सभी लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहिए। मैंने भी इस विषय पर अनेक कक्षाएँ ली हैं और एक-दो लेख भी लिखे हैं, जैसे कि— ‘न्यायशास्त्र के अध्ययन की दैनिक/व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता’ आदि।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा दूसरा प्रमुख सुझाव यह है कि इसे एकदम सरल बनाया जाना चाहिए। यह वास्तव में बहुत कठिन है भी नहीं। जो लोग इसे ठीक से समझते नहीं हैं, वे ही इसे कठिन रूप में प्रस्तुत करते हैं। न्यायविद्या को सरल बनाने के लिए आधुनिक युग में तो वैसे भी अनेक सुविधाएँ उपलब्ध हो गई हैं—कम्प्यूटर आदि के माध्यम से, हमें उनका भी लाभ उठाना चाहिए। मैंने देखा है कि कम्प्यूटर से पावर पॉइंट प्रेजेंटेशन आदि से समझाने पर विषय बहुत सरल और रोचक हो जाता है। किसी भी विषय के भेद-प्रभेद आदि सब बहुत आसानी से समझ में आ जाते हैं।

न्यायविद्या को सरल बनाने के लिए मेरे ख्याल से निम्नलिखित दो-तीन कार्य और भी किये जा सकते हैं। जैसे कि—प्रारम्भिक एक-दो कक्षाओं में छात्रों को सभी विविध दर्शनों का प्रारम्भिक परिचय दे देना चाहिए, क्योंकि वही न आने के कारण न्यायशास्त्र विशेष कठिन लगता है। इसी प्रकार हमें अपनी समझाने की शैली भी एकदम सरल कर देनी चाहिए, उसके दृष्टान्त आदि भी समसामयिक ही देना चाहिए। प्राचीन काल में माणिक्यनंदी, धर्मभूषण यति आदि आचार्यों ने भी अपने हिसाब से उसे अधिकतम सरल करके ही प्रस्तुत किया था, एकदम बालावबोध शैली में, जैसा कि उनके ‘लघीयसः’, ‘बालप्रबुद्धये’ आदि पदों से भी ज्ञात होता है। उन्होंने भाषा, शैली, दृष्टान्त आदि सब अपने समय के अनुरूप एकदम सरल कर दिए थे, ऐसा आग्रह नहीं रखा था कि अकलंक तो ऐसे समझाते थे, मैं सरल कैसे कर सकता हूँ।

न्यायविद्या को सरल बनाने के लिए प्रश्नोत्तर शैली का आश्रय लेना भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है। हमें उसका भी प्रयोग करना चाहिए। जैसे कि मैंने अपनी कृति ‘न्याय-मन्दिर’ में किया और वह बहुत सफल भी रहा। इसी प्रकार के अन्य भी कुछ प्रयोग किये जा सकते हैं, परन्तु कैसे भी करके न्यायविद्या को सरल करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि दिन-प्रतिदिन लोगों की बुद्धि एवं शक्ति क्षीण होती जा रही है, हमें उसका अवश्य ध्यान रखना होगा।

न्यायविद्या को सरल करने के लिए एक उपाय यह भी किया जा सकता है कि प्रथम अध्ययन के समय हम उसकी सूक्ष्म ऊहापोह में छात्रों को न उलझाएँ, केवल उसकी मूल संरचना (basic structure) को ही स्पष्ट करें। बाद में उनकी रुचि एवं क्षमता के अनुसार द्वितीय-तृतीय अध्ययन किये जा सकते हैं।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा तीसरा प्रमुख सुझाव यह है कि हमें इसे अध्यात्मविद्या से जोड़ना चाहिए। यद्यपि न्यायविद्या मूलतः अध्यात्मविद्या से जुड़ी हुई ही है, बहुत गहराई से जुड़ी हुई है, जैसा कि आचार्य सोमदेवसूरि ने ‘नीतिवाक्यामृत’ (5/63) में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

‘आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये ।’

अर्थ— आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या आध्यात्मिक विषय में उपयोगी है ।

परन्तु आज हम उसे भूल-से गये हैं और इसीलिए न्यायविद्या लोगों को अत्यन्त नीरस एवं अनुपयोगी भासित होने लगी है । तथा जो चीज नीरस एवं अनुपयोगी भासित होगी, उसमें किसी का कैसे मन लगेगा? अतः मैं समझता हूँ कि हमें न्यायविद्या को अध्यात्मविद्या से गहराई से जोड़ना चाहिए । मैंने इस विषय पर भी अनेक व्याख्यान किये हैं और एक-दो लेख भी लिखे हैं, जैसे कि— ‘समयसार में न्यायशास्त्र के प्रयोग’, ‘आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता’ आदि । मुझे विश्वास है कि यदि हम न्यायविद्या को अध्यात्मविद्या से जोड़कर प्रस्तुत करेंगे तो इसकी बहुत प्रगति होगी ।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा चौथा प्रमुख सुझाव, जो इसी से सम्बद्ध है, यह है कि हमें न्यायविद्या की आवश्यकता और उपयोगिता पर विशद प्रकाश डालना चाहिए, उसको बारम्बार रेखांकित करना चाहिए क्योंकि सामान्य जन तो उसे जानते ही नहीं हैं, अनेक विद्वज्जन भी नहीं जानते हैं —ऐसा मेरा अनुभव है । मैंने तो बल्कि ऐसे-ऐसे विद्वज्जन देखे हैं जो स्वयं को बड़े आध्यात्मिक समझते हैं और फिर भी इस न्यायविद्या को आत्मकल्याण में अनुपयोगी या अनावश्यक बताते रहते हैं । न केवल अनुपयोगी और अनावश्यक, बाधक तक बता देते हैं । वे न स्वयं न्यायशास्त्र पढ़ते हैं और न दूसरों को पढ़ने देते हैं । अतः हमें न्यायविद्या की आवश्यकता और उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डालना चाहिए, क्योंकि जबतक इसकी आवश्यकता और उपयोगिता समझ में नहीं आएगी तबतक इसमें किसी का मन ठीक से नहीं लगेगा । मैंने इस विषय पर भी अनेक व्याख्यान किये हैं और एक-दो लेख भी लिखे हैं । एक लेख तो पर्याप्त विस्तार से विविध युक्ति-प्रमाण-पुरस्सर यही बताने के लिए लिखा है कि न्याय के बिना तत्त्वाधिगम सम्भव ही नहीं है और तत्त्वाधिगम के बिना तत्त्वानुभव सम्भव नहीं है, अतः न्याय पढ़ना अनिवार्य है । इस सम्बन्ध में और भी अनेक बातें हैं, जो मैं ‘न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता’ शीर्षक लेख में कह चुका हूँ, अतः यहाँ दोहराने का मन नहीं कर रहा है, जिज्ञासु उस लेख को अवश्य पढ़ें ।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा पाँचवाँ सुझाव यह है कि न्यायविद्या के सम्बन्ध में एक बड़ी भ्रान्ति चलती है कि यह तो वाद-विवाद या शास्त्रार्थ की विद्या है, जो प्राचीन काल में चलती थी और जिसमें पण्डित लोग स्वमतमण्डन एवं परमतखण्डन करते थे और फिर उसके आधार पर उनकी हार-जीत का फैसला होता था, जीतनेवाले को पुरस्कार और हारनेवाले को तिरस्कार/दंड मिलता था । जीतनेवाले का बहुत सम्मान होता था और हारनेवाले का बहुत अपमान होता था । मैं समझता हूँ कि लोगों की यह भ्रान्ति अवश्य दूर होनी चाहिए, क्योंकि

इस भ्रान्ति के कारण न्यायविद्या का बड़ा ह्रास हुआ है। आज किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को यह सब उचित नहीं प्रतीत होता। आज की नई पीढ़ी भी इस कार्य को बिलकुल पसंद नहीं करती है। यद्यपि मैं मानता हूँ कि प्राचीन काल में ऐसे भी दिन आये थे, किन्तु यह न्यायविद्या का मूल स्वरूप नहीं था, अपितु विकृत स्वरूप था। आचार्य अकलंकदेव भी उसे देखकर अत्यन्त विगलित हुए थे, जैसा कि ‘न्यायविनिश्चय’ के निम्नलिखित श्लोक से अभिव्यक्त होता है—

“बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितै-
 र्माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
 न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
 सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥”

अर्थ— अहो, आत्महिताभिलाषी जीवों के पूर्वोपार्जित महापाप कर्म के उदय से, अविद्या-अन्धकार के माहात्म्य से और स्वयं कलियुग के प्रभाव से वर्तमान में गुणद्वेषी लोगों ने न्याय को मलिन कर दिया है। तथापि धन्य हैं वे अनुकम्पा-परायण आचार्य जो आज भी उसे किसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी जल से प्रक्षालित करते हुए आगे लिए चले जा रहे हैं।

अतः हमें इस बात को सबको भलीभांति समझाना चाहिए कि न्यायविद्या वाद-विवाद के लिए नहीं, तत्त्वज्ञान के लिए है। यह कषाय बढ़ानेवाली निम्नविद्या नहीं, अपितु कषाय मिटानेवाली अमृतविद्या है।

इस प्रकार मैंने यहाँ न्यायविद्या की प्रगति हेतु कुछ प्रमुख सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक सुझाव हो सकते हैं, परन्तु वे सब तभी ठीक से समझ में आ सकते हैं, जब न्यायविद्या के अनुरागी लोग संगठित होकर विचार-विमर्श करें। मुझे लगता है कि हमें न्यायविद्या के संरक्षण-संवर्द्धन हेतु एक संगठन बनाना चाहिए। लोक में हर कार्य के लिए संगठन बने हुए हैं, एक-एक कार्य के लिए अनेक-अनेक संगठन बने हुए हैं, परन्तु इसका कोई संगठन नहीं है। न्यायविद्या के संगठन को न्यायविद्या के संरक्षण-संवर्द्धन हेतु विचार-विमर्श के अतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे पाठ्यक्रम भी बनाना चाहिए और उनका अध्ययन करनेवालों को कुछ उपाधियाँ भी देनी चाहिए, जैसे कि पहले ‘न्यायतीर्थ’ आदि की उपाधियाँ दी जाती थीं। इसी प्रकार कभी-कभी साप्ताहिक कार्यशाला आदि का भी आयोजन करना चाहिए। न्याय का एक ओरिएंटेशन कोर्स भी लोगों को कराया जा सकता है, जिसमें न्याय की उपयोगिता, उसका प्राथमिक परिचय, उसके प्रमुख ग्रन्थ-ग्रन्थकार, उसकी प्रमुख शब्दावली, लक्षणावली आदि विषयों का ज्ञान कराया जाए। इसी प्रकार और भी अनेक सुझाव हो सकते हैं, परन्तु अभी इतना ही कहकर मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ। ❖❖

न्यायशास्त्र के अध्ययन से लाभ

किसी भी विषय में ठीक से प्रवृत्ति करने के लिए उसके लाभ जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि बिना लाभ/प्रयोजन के तो एक चींटी भी नहीं चलती, मनुष्य की क्या बात? जैसा कि कहा भी है— ‘प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते’।

न्यायशास्त्र में भी, मुझे लगता है कि, लोगों की ठीक से प्रवृत्ति इसीलिए नहीं हो पा रही है कि वे इसके लाभों से भलीभांति परिचित नहीं हैं। यदि होते तो उसके प्रति ऐसी उदासीनता नहीं देखी जाती। अतः आज यहाँ न्यायशास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ है—इसी विषय पर कुछ लिखने का प्रयास किया जाता है।

यद्यपि न्यायशास्त्र के अध्ययन से होनेवाले अनेक लाभों के सम्बन्ध में मैं अपने पूर्व के लेखों में यत्र-तत्र बहुत लिख चुका हूँ, जिनमें से निम्नलिखित तीन लेख विशेष उल्लेखनीय हैं—

1. न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता।
2. न्यायशास्त्र के अध्ययन की दैनिक जीवन में उपयोगिता।
3. आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के ज्ञान की उपयोगिता।

तथापि यहाँ पुनः इसी विषय पर केन्द्रित होकर कुछ लिखा जाता है। यद्यपि पुनः लिखने में कोई दोष नहीं है, गुण ही है— ‘अधिकस्य अधिकं फलम्’, किन्तु पाठकों से अनुरोध है कि वे उक्त तीन लेखों को भी अवश्य देख लें, क्योंकि वे सब बातें अभी यहाँ उस तरह से नहीं लिखी जा सकेंगी, यहाँ तो केवल संक्षेप में ही कुछ विशेष लिखा जा सकेगा।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से दो प्रकार के लाभ होते हैं—

1. पारमार्थिक या अलौकिक लाभ।
2. व्यावहारिक या लौकिक लाभ।

दोनों ही प्रकार के लाभ परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। विशेष बात यह है कि न्यायशास्त्र के अध्ययन से दोनों ही प्रकार के लाभ होते हैं, यह

उभयलोकसुखकरी विद्या है। दुनिया में कुछ विद्याएँ ऐसी होती हैं जिनसे केवल पारमार्थिक या अलौकिक लाभ ही होते हैं और कुछ विद्याएँ ऐसी होती हैं जिनसे केवल व्यावहारिक या लौकिक लाभ ही होते हैं, किन्तु न्यायविद्या एक ऐसी अद्भुत विद्या है, जिसके अध्ययन से हमें दोनों ही प्रकार के लाभ होते हैं। दरअसल, न्यायविद्या एक ऐसी आधारभूत विद्या है, जो सभी विद्याओं को प्रकाशित करती है, उनमें गुणवत्ता उत्पन्न करती है। यथा—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

—(चाणक्य, अर्थशास्त्र, विद्योद्देश प्रकरण, 2)

जो न्यायविद्या नहीं जानता, वह कोई भी विद्या समीचीनतया नहीं पढ़ सकता। न्यायविद्या ही विद्यार्थी को विद्या का सच्चा पात्र बनाती है। न्यायविद्या ही विद्यार्थी को विद्या ग्रहण करने की सच्ची विधि सिखाती है।

पारमार्थिक या अलौकिक लाभ-

न्यायशास्त्र के अध्ययन से होनेवाला सबसे बड़ा पारमार्थिक या अलौकिक लाभ यह है कि इससे हमें समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही न्यायशास्त्र का मूलभूत प्रयोजन है।

न्यायशास्त्र के बिना कभी भी किसी को समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में अनेक बाधाएँ हैं, जिनको न्यायशास्त्र ही दूर कर सकता है। यथा समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में मुख्य रूप से तीन बाधाएँ हैं—

1. तत्त्व/वस्तु का स्वरूप अत्यन्त जटिल है। उसे कहा ही नहीं जा सकता, जानना तो और भी कठिन है।
2. हम मोह-राग-द्वेष से आक्रान्त हैं। हमें सत्य दिखाई नहीं देता है।
3. लोक में मतभेद बहुत अधिक हैं, उनके प्रतिपादनकर्ता स्वयं को आप्त घोषित करते हैं।

ऐसी स्थिति में न्याय ही हमें सर्व बाधाओं से पार लगाकर समीचीन तत्त्वज्ञान कराता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

तथा समीचीन तत्त्वज्ञान से हमारे सर्व दुःखों का अभाव होता है, क्योंकि हमारे सम्पूर्ण दुःखों का मूल कारण समीचीन तत्त्वज्ञान का अभाव ही है, अज्ञान ही है, मिथ्याज्ञान ही है।

प्रश्न— आपने कहा कि दुःखों का कारण अज्ञान या मिथ्याज्ञान ही है, किन्तु

शास्त्रों में तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र —इन तीन को दुःखों का कारण कहा है?

उत्तर— शास्त्र में ठीक ही कहा है कि दुःखों का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है, किन्तु वह पूर्ण कथन है, यहाँ तो हमने केवल दुःखों का मूल कारण बताया है। दुःखों का मूल कारण वास्तव में अज्ञान ही है, क्योंकि मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याचारित्र का भी मूल कारण मिथ्याज्ञान या अज्ञान ही है। यही कारण है कि अनेक शास्त्रों में ऐसा कहा है कि एक अज्ञान भाव ही संसार/बन्ध का कारण है।

दरअसल बात यह है कि वैसे तो हमें अपना श्रद्धान एवं चारित्र भी ठीक करना है, किन्तु उनका भी मूल उपाय ज्ञान को ठीक करना है, ज्ञान ठीक होने पर श्रद्धान एवं चारित्र भी सहज ठीक होते हैं। तथा ज्ञान के ठीक हुए बिना श्रद्धान एवं चारित्र कथमपि ठीक नहीं होते। यदि कोई व्यक्ति ज्ञान को ठीक किये बिना श्रद्धान एवं चारित्र को ठीक करने का प्रयास भी करे तो वे ऊपर-ऊपर से तो ठीक हुए लग सकते हैं, पर वास्तव में ठीक नहीं होते हैं। ऐसी दशा में शास्त्रों में उनको अन्धश्रद्धा, बालतप, बालसंयम आदि कहा है।

अतएव यहाँ हमने ऐसा कहा है कि दुःखों का मूल कारण अज्ञान या मिथ्याज्ञान ही है और न्यायशास्त्र के अध्ययन से सबसे बड़ा पारमार्थिक लाभ यही है कि इससे हमारा यह अज्ञान/मिथ्याज्ञान दूर होता है, हमें समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रश्न— समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होना सर्वप्रथम अनिवार्य है —यह तो समझ में आया, किन्तु उस समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए न्यायशास्त्र का ही अध्ययन कैसे अनिवार्य है?

उत्तर— ऊपर कहा था न कि समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में तीन प्रमुख बाधाएँ हैं और उनको न्यायशास्त्र ही दूर कर सकता है, अतः समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए न्यायशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य है।

प्रश्न— न्यायशास्त्र उन बाधाओं को कैसे दूर करता है, कृपया स्पष्ट करें?

उत्तर— इसकी चर्चा विस्तृत है, जो कभी बाद में अलग से करेंगे, किन्तु अभी संक्षेप में कहा जा सकता है कि न्यायशास्त्र उन तीनों बाधाओं को निम्नलिखित प्रकार से दूर करता है—

1. न्यायशास्त्र वस्तु-स्वरूप को जटिल, वचन-अगोचर होने पर भी मुख्य-गौण-व्यवस्था बनाकर समझना सिखाता है, क्योंकि न्याय प्रमाणनयात्मक होता है।

2. न्यायशास्त्र हमें परीक्षा करने की ऐसी निर्दोष विधि सिखाता है कि हम मोह-राग-द्वेष से सहित होते हुए भी उनसे ऊपर उठकर वस्तु-स्वरूप को देख लेते हैं।

3. अनेक मतभेदों के होते हुए भी उनके सत्यासत्य का निर्णय करने की ऐसी वैज्ञानिक पद्धति सिखाता है कि उससे हम सरलतापूर्वक सत्य का ग्रहण एवं असत्य का त्याग कर देते हैं।

इस प्रकार इन तीनों बाधाओं को न्यायशास्त्र दूर कर देता है। यह इसका महान उपकार है।

प्रश्न— क्या इन बाधाओं को न्यायशास्त्र ही दूर कर सकता है, अन्य शास्त्रों के अध्ययन से यह कार्य नहीं हो सकता?

उत्तर— नहीं, अन्य शास्त्र तो अपना-अपना विषय समझाते हैं, उनके सत्यासत्य की परीक्षा की समीचीन विधि तो न्यायशास्त्र ही सिखाता है।

प्रश्न— अन्य शास्त्र भी बीच-बीच में कभी-कभी ऐसा कहते रहते हैं कि सावधानी से समझो, पक्षपात रहित होकर समझो, परीक्षा करके समझो, इत्यादि।

उत्तर— यह तो केवल प्रेरणा हुई, किन्तु उसकी विधि तो न्यायशास्त्र ही समझाएगा न? अथवा उनकी यह बात भी तो न्यायशास्त्र का ही अंश है। इससे तो बल्कि न्यायशास्त्र का ही विशेष महत्त्व सिद्ध होता है। न्यायशास्त्र को इसीलिए तो ‘सर्व विद्याओं का प्रदीप’ कहा जाता है— ‘प्रदीपः सर्वविद्यानाम्’। यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न— हमें समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही तो करनी है। क्या वह गुरु या शास्त्र की आज्ञा मान लेने से नहीं हो सकती? न्यायशास्त्र का ही अध्ययन अनिवार्य है क्या? वह तो कठिन बहुत है।

उत्तर— नहीं, समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति गुरु या शास्त्र की आज्ञा मान लेने मात्र से नहीं हो सकती, उसकी परीक्षा करके स्वयं का निर्णय होना अनिवार्य है, जो न्यायशास्त्र ही सिखाता है। न्यायशास्त्र के बिना ऊपर-ऊपर से या देखादेखी तो बात करना आ जाता है, पर सच्चा ज्ञान नहीं होता और सच्चे ज्ञान के बिना कितना भी कुछ करो, सच्चा श्रद्धान उदित नहीं होता। इस सम्बन्ध में आचार्यकल्प पंडित टोडरमल कृत ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ का ‘परीक्षारहित आज्ञानुसारी धर्मधारक मिथ्यादृष्टि’ प्रकरण भी ध्यानपूर्वक पठनीय है। उसमें इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। प्रकरण की प्रारम्भिक पंक्तियाँ ही अद्भुत हैं। यथा—

“तथा कितने ही जीव आज्ञानुसारी जैनी होते हैं। जैसी शास्त्र में आज्ञा है उसप्रकार मानते हैं, परन्तु आज्ञा की परीक्षा नहीं करते। यदि आज्ञा ही मानना

धर्म हो तो सर्व मत वाले अपने अपने शास्त्र की आज्ञा मानकर धर्मात्मा हो जाएँ; इसलिए परीक्षा करके जिनवचन की सत्यता पहिचानकर जिन-आज्ञा मानना योग्य है। बिना परीक्षा किये सत्य-असत्य का निर्णय कैसे हो और बिना निर्णय किये जिस प्रकार अन्य मती अपने शास्त्रों की आज्ञा मानते हैं उसी प्रकार इसने जैन शास्त्रों की आज्ञा मानी। यह तो पक्ष से आज्ञा मानना है।” —(पृष्ठ 215)

तथा अन्त में भी उन्होंने यही निष्कर्ष दिया है कि— “इसलिए बिना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही द्वारा जो जैनी हैं, उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना।” —(पृष्ठ 217)

तथा आपने कहा कि न्यायशास्त्र कठिन बहुत है, सो ऐसा नहीं है, आपको केवल भ्रम हुआ है। न्यायशास्त्र तो बल्कि कठिन को सरल बनाता है। उसका उद्भव ही कठिन को सरल बनाने के लिए हुआ है। न्यायशास्त्र को तुला की उपमा दी जाती है— ‘तुलासमा’ —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 2/1/30। जिसप्रकार वस्तुओं के मान को तुला अर्थात् तराजू के द्वारा शीघ्र एवं सम्यक् जाना जा सकता है, उसीप्रकार वस्तुओं के स्वरूप को न्याय के द्वारा शीघ्र एवं सम्यक् जाना जा सकता है। उससे सरलता भी बहुत हो जाती है।

तथा कठिनाई तो वास्तव में न्यायशास्त्र के बिना है। जिसप्रकार वस्तुओं के मान को तराजू के बिना ठीक से जानना कठिन होता है, उसीप्रकार वस्तुओं के स्वरूप को न्याय के बिना ठीक से जानना कठिन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यायशास्त्र हमारे अज्ञान को दूर करने या समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में हमारी बड़ी सहायता करता है और यही इसका सबसे बड़ा पारमार्थिक लाभ है।

अब हम इसके कुछ व्यावहारिक लाभों पर भी विचार करते हैं।

व्यावहारिक या लौकिक लाभ-

न्यायशास्त्र के अध्ययन से हमें अनेकानेक व्यावहारिक या लौकिक लाभ भी होते हैं, क्योंकि न्यायशास्त्र हमारे उन मूलभूत महादोषों को दूर करता है, जो कि सर्वत्र बड़ी समस्याओं के कारण बनते हैं। यथा— पक्षपात, अंधविश्वास, अंधानुकरण, भावुकता, स्वार्थ, पूर्वाग्रह, संकीर्णता, व्यक्तिवाद इत्यादि। जरा शान्ति से विचार करके देखा जाए तो समाज, राष्ट्र, परिवार आदि में सर्वत्र झगड़ों/विवादों के मुख्य कारण मुख्यतः यही दोष होते हैं। इन्हीं के कारण विवाद उत्पन्न होता है, इन्हीं के कारण विवाद बढ़ता है और इन्हीं के कारण विवाद सुलझाने की कोशिश करने पर भी सुलझ नहीं पाता है। तथा जब ये दोष दूर हो जाएँगे तो सहज ही एक स्वस्थ समाज आदि की रचना होगी। न्यायशास्त्र सभी को मतभेद होते हुए भी मनभेद न रखने की सुन्दर कला सिखाता है, जो स्वस्थ समाज की पहचान

होती है। स्वस्थ समाज में बात को संवादों से सुलझाया जाता है, विवादों से नहीं, हिंसा से तो कदापि नहीं। जिस समाज में न्यायशास्त्र नहीं माना जाता, वहाँ आतंकवाद फलित होता है और जिस समाज में न्यायशास्त्र को महत्त्व दिया जाता है, वहाँ अनेकान्तवाद विकसित होता है।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति का पूरा ही जीवन परिष्कृत होता है। जिस प्रकार जड़ में पानी देने पर वृक्ष के सभी अंग विकसित होते हैं, उसी प्रकार न्यायशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति के जीवन का हर एक अंग विकसित होता है। उसका चिन्तन व्यवस्थित एवं युक्तिसंगत होने लगता है, उसमें से असारता दूर होने लगती है। उसकी वाणी भी ठोस या सुगठित होने लगती है, वह अल्प शब्दों में महान अर्थ व्यक्त करने की निर्दोष कला सीख जाता है, वह एक महान वक्ता बन जाता है, वक्ता ही नहीं, वाग्मी बन जाता है। उसकी जीवन-शैली भी, उसका आचार-विचार भी एकदम विवेकसंगत हो जाता है। इस प्रकार यदि हम शान्ति से समझने की कोशिश करें तो न्यायशास्त्र के अध्ययन से हमारे मन, वचन, काय तीनों ही अत्यंत निर्मल हो जाते हैं।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति की बुद्धि भी अत्यन्त प्रखर हो जाती है, उसे कोई ठग नहीं सकता, वह एक ऐसा वैज्ञानिक बन जाता है जिसमें सत्य और असत्य को स्पष्ट रूप से जानने एवं कहने का अदम्य साहस उत्पन्न हो गया है।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति एक उत्कृष्ट लेखक भी बन सकता है, क्योंकि एक-एक शब्द नपा-तुला प्रयुक्त करता है, उसके लेखन में निःसारता और भटकाव नहीं होते।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति को अनुचित इच्छाएँ भी परेशान नहीं करतीं। वह संसार, शरीर आदि सभी के स्वरूप को भलीभाँति समझ जाता है, अतः अनित्य को नित्य रखने की या नित्य को अनित्य बनाने की कोई इच्छा उत्पन्न नहीं होती, जिससे उसकी सर्व आकुलता-व्याकुलता समाप्त हो जाती है। वह अत्यन्त निर्भर निराकुल हो जाता है। अन्यथा देखा जाता है कि लोग व्यर्थ की इच्छायें कर-करके चौबीस घण्टे बहुत आकुल-व्याकुल होते रहते हैं कि यह ऐसा होना चाहिए था, ऐसा क्यों हो गया, आदि।

यद्यपि वैसे तो सर्व इच्छाएँ ही व्यर्थ होती हैं और न्यायशास्त्र के अध्ययन से उन सबका अभाव होकर परम शान्ति प्राप्त होती है, परन्तु बहुत-सी व्यर्थ इच्छाओं का तो तत्काल ही अभाव होता है और उससे जीवन में भी बड़ी शान्ति प्राप्त होती है।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति किसी भी घटना या कार्य का समीचीन विश्लेषण भी करना सीख जाता है, किस कार्य में कितना क्या लाभ व हानि है—

यह भी भलीभांति समझ जाता है। तथा इसी से उसे अपना हिताहित समझकर हितरूप कार्य में प्रवृत्ति और अहितरूप कार्य से निवृत्ति की कला भी समझ में आ जाती है।

न्यायविद्या के अध्ययन से होने वाले लाभों के संबंध में आचार्य सोमदेवसूरि ने ‘नीतिवाक्यामृत’ में बहुत अच्छा कहा है—

“अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याकार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम्।”

—(आचार्य सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत, 5/57)

अर्थ— आन्वीक्षिकी विद्या को पढ़नेवाला निश्चय ही कार्य-अकार्य (करणीय-अकरणीय) की सबलता-निर्बलता को सम्यक् हेतुओं से विचार करता है, दुर्व्यसनों में फँसकर दुखी नहीं होता है, अभ्युदय होने पर भी विकारी नहीं होता है, सुविचारित कार्य करता है और सदा शान्त भाव से रहता है।

आचार्य सोमदेवसूरि का यह कथन अत्यंत सारगर्भित है। इसके माध्यम से हम न्यायविद्या के अध्ययन से होने वाले लाभों को सुगमता से समझ सकते हैं। हमें इन पर गंभीरतापूर्वक चिंतन करना चाहिए।

इसी प्रकार और भी अनेक व्यावहारिक लाभ न्यायशास्त्र के अध्ययन से होते हैं। जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति जाता है, उसी में यह विद्या रंग उत्पन्न करती है, सौन्दर्य उत्पन्न करती है, गुणवत्ता उत्पन्न करती है, प्रामाणिकता उत्पन्न करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यायशास्त्र के अध्ययन से हमें पारमार्थिक एवं लौकिक दोनों ही प्रकार के महान लाभ होते हैं, अतः हम सबको इसमें अवश्य ही रुचिपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए।

जो विरोधी से भी घृणा न करे, अपितु प्रेम करे, वही सच्चा नैयायिक है, सच्चा दार्शनिक है, सच्चा भारतीय है, सच्चा मानव है। तथा यह अनूठी कला न्यायशास्त्र के अध्ययन से सहज प्राप्त होती है। कहा भी है—

दिल मिले या न मिले, हाथ तो मिलाते रहिए।

बात बने या न बने, बात तो चलाते रहिए॥



सासनमलिहंताणं पडिवज्जह मोहवाहिवेज्जाणं।

जे मुत्तमात्तकडुअं पच्छा पत्थं उवदिसंति॥

—(विशाखदत्त, मुद्राराक्षस, 4)

अर्थ— अरिहंतों के शासन को स्वीकार करो, वे मोहव्याधि के लिए वैद्य के समान हैं, उनकी औषध प्रारम्भ में कटु है, किन्तु पश्चात् लाभप्रद है।

मिथ्यात्व के नाश में न्यायशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता

जैन न्याय एक उत्कृष्ट विद्या है; किन्तु बहुत-से लोग लोग जैन होकर भी, जैन धर्म की आराधना करते हुए भी न्याय का अध्ययन नहीं करते हैं, जबकि जैन धर्म के मुख्य प्रयोजन की सिद्धि न्याय से ही होती है, न्याय के बिना नहीं हो सकती।

विचारणीय है कि जैनधर्म का मुख्य प्रयोजन क्या है और इसकी सिद्धि न्याय से ही कैसे होती है।

जैन धर्म का मुख्य प्रयोजन मिथ्यात्व का नाश करना है, जन्म-मरण का नाश करना है। यह जीव अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण चौरासी लाख योनियों में निरन्तर जन्म-मरण कर रहा है। इस मिथ्यात्व एवं जन्म-मरण के चक्र को नष्ट करना ही जैन धर्म का मुख्य प्रयोजन है, मूल उद्देश्य है।

वैसे तो दुनिया में अनेक धर्म-सम्प्रदाय हैं और सभी मनुष्य को प्रायः अच्छी शिक्षाएँ देते हैं, कोई भी हिंसा, झूठ, चोरी आदि की शिक्षा नहीं देता, सभी धर्म-सम्प्रदाय मनुष्य को पापों से बचाकर पुण्यकार्यों में लगाते हैं और उसे एक अच्छा मनुष्य बनाने की कोशिश करते हैं, आदर्श नागरिक बनाने की कोशिश करते हैं।

यह सब बहुत अच्छी बात है, किन्तु जन्म-मरण और उसके कारणभूत मिथ्यात्व का नाश तो केवल जैन धर्म ही कर सकता है। यही जैन धर्म की मुख्य विशेषता है। अन्य धर्म दुर्गति से बचाकर सुगति में तो ले जा सकते हैं, किन्तु सभी गतियों से मुक्त नहीं कर सकते, जन्म-मरण के चक्र से बाहर नहीं निकाल सकते। अतः मिथ्यात्व का नाश करके जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिलाना ही जैन धर्म की सबसे बड़ी विशेषता सिद्ध होती है। जो जीव जैनधर्म पाकर इस दुर्लभ कार्य को करते हैं, उन्हीं का जैन धर्म पाना सफल-सार्थक कहा जा सकता है, अन्य का नहीं। जो जीव जैन धर्म को पाकर भी सामान्य पुण्यार्जन में ही संतुष्ट हो जाते हैं, नरकादि दुर्गतियों से बचकर स्वर्गादि सुगति की प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं, उनका जैन धर्म को पाना विशेष सफल या सार्थक नहीं कहा जा सकता।

जैन धर्म के मूर्धन्य आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने भी अपने 'भावपाहुड' ग्रन्थ

में जैन धर्म की यही मुख्य विशेषता कही है, जो गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है। यथा—

जह रयणाणं पवरं वज्जं तरुगणाण गोसीरं ।

तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥ —भावपाहुड, गाथा 80

अर्थ— जिस प्रकार रत्नों में सर्वश्रेष्ठ वज्र होता है, वृक्षों में सर्वश्रेष्ठ गोशीर चन्दन होता है, उसी प्रकार धर्मों में सर्वश्रेष्ठ जिनधर्म है, क्योंकि वही आगामी जन्म-मरणों का नाश करता है।

इसी प्रकार के भाव अन्य भी अनेक आचार्यों ने व्यक्त किये हैं। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी का यह कथन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

“जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है, इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःखसमुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो।”

—मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 192

अतः जैन धर्म के आराधकों को तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति मिथ्यात्व के नाश में ही लगानी चाहिए, केवल दुर्गति से बचकर सुगति में जाने जितना ही कार्य कर लेना पर्याप्त नहीं है, सर्व गतियों से रहित होने का अर्थात् जन्म-मरण के नाश का ही उद्यम करना योग्य है।

विचारणीय है कि मिथ्यात्व का नाश कैसे होता है और उसमें न्यायशास्त्र की क्या भूमिका है।

दरअसल, यह बात एकदम स्पष्ट है कि मिथ्यात्व का नाश सम्यग्ज्ञान से ही हो सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञान होता है वैसा ही श्रद्धान होता है। यदि ज्ञान मिथ्या हो तो श्रद्धान कभी भी सम्यक् नहीं हो सकता। अतः श्रद्धान को सम्यक् करने के लिए सर्वप्रथम हमें अपने ज्ञान को सम्यक् करना अनिवार्य है। यही एक मात्र उपाय है मिथ्यात्व को नष्ट करने का, अन्य कोई उपाय नहीं है।

कितने ही लोग अपना ज्ञान तो सम्यक् नहीं करते हैं और ऊपर से ही येन-केन प्रकारेण धर्म की बात को मानने की कोशिश करते हैं, किन्तु इससे उनका अन्दर का श्रद्धान ठीक नहीं होता है, वह मिथ्या ही बना रहता है। बाहर से देखनेवालों को तो लगता है कि इनका श्रद्धान ठीक हो गया होगा और कभी-कभी तो स्वयं तक को भी ऐसा लगने लगता है कि मेरा श्रद्धान ठीक हो गया, किन्तु वास्तव में वह ठीक नहीं होता है, मिथ्या ही बना रहता है। ऐसा इस जीव के साथ अनन्त बार हो चुका है।

अतः मिथ्यात्व का नाश करने के लिए सर्वप्रथम तो इस बात को भलीभाँति स्वीकार करना चाहिए कि जब तक हम स्वयं सच्चा ज्ञान नहीं करेंगे तबतक हमारे मिथ्यात्व का नाश होना कथमपि सम्भव नहीं है। तथा ऐसा निर्णय करने के बाद पूरी ईमानदारी से सच्चा ज्ञान करने का उद्यम करना चाहिए।

बहुत से लोग दूसरों की देखादेखी धर्म की बातों को मानते हैं, बहुत से लोग कुल अपेक्षा धर्म की बातों को मानते हैं और बहुत से लोग किसी सांसारिक प्रयोजन के लिए ही धर्म की बातों को मानते हैं, किन्तु ये सब सच्चे धर्मात्मा नहीं हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि ही हैं। जैसा कि आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने अपने ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में सातवें अधिकार में भलीभाँति समीक्षा करके बताया है। ये प्रकरण यद्यपि सुप्रसिद्ध ही हैं, तथापि जिसने नहीं पढ़े हों उसे अवश्य पढ़ना चाहिए, बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

तथा वहीं पर उन्होंने एक और बहुत महत्त्वपूर्ण प्रकरण लिखा है— परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्मधारक मिथ्यादृष्टि, जो इस सम्बन्ध में और भी अधिक विशेष ध्यान देकर पढ़ने योग्य है। यद्यपि यहाँ उसे पूरा उद्धृत करने का मन हो रहा है, परन्तु उससे यह लेख बहुत लम्बा हो जाएगा, अतः पाठकों से निवेदन है कि वे उसे मूलतः ही पूरा पढ़ें। उस प्रकरण की कतिपय उल्लेखनीय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

“तथा कितने ही जीव आज्ञानुसारी जैनी होते हैं, जैसी शास्त्र में आज्ञा है वैसी मानते हैं, परन्तु आज्ञा की परीक्षा नहीं करते। यदि आज्ञा ही मानना धर्म हो तो सर्व मतवाले अपने-अपने शास्त्र की आज्ञा मानकर धर्मात्मा हो जाएँ।.....

बिना परीक्षा किये सत्य-असत्य का निर्णय कैसे हो? और बिना निर्णय किये जिसप्रकार अन्यमती अपने शास्त्रों की आज्ञा मानते हैं उसीप्रकार इसने जैन शास्त्रों की आज्ञा मानी। यह तो पक्ष से आज्ञा मानना है।.....

बिना परीक्षा किये ही आज्ञा मानने से सम्यक्त्व व धर्मध्यान हो तो जो द्रव्यलिंगी आज्ञा मानकर मुनि हुए, आज्ञानुसार साधन द्वारा ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं, उनके मिथ्यादृष्टिपना कैसे रहा? इसलिए कुछ परीक्षा करके मानने पर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होता है।.....

इसलिए बिना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही द्वारा जो जैनी हैं, उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही जानना।” —मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ 215

इस प्रकार अन्यत्र भी स्थान-स्थान पर पंडित टोडरमलजी ने ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में परीक्षा करके श्रद्धान करने की विशेष प्रेरणा दी है। उन्होंने बारम्बार स्पष्ट लिखा है कि परीक्षा के बिना किये गये श्रद्धान को तो अश्रद्धानवत् ही जानना।

न केवल ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में, अन्य भी अनेक मूल प्राकृत-संस्कृत-जैन-ग्रन्थों में भी परीक्षा करके ही श्रद्धान करने की बारम्बार प्रेरणा दी गई है। यथा ‘तिलोयपण्णत्ति’ में कहा है कि—

“**जुत्तीए अत्थ पडिगहणं ।**” —आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 1/83

अर्थात् युक्ति (परीक्षा) से अर्थ का ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य यतिवृषभ स्वामी का कहना है कि जो व्यक्ति प्रमाणनयनिक्षेपात्मक युक्ति अर्थात् परीक्षा से अर्थ का ग्रहण नहीं करेगा, उसे युक्त अयुक्त और अयुक्त युक्त प्रतिभासित होगा। यथा—

**जो ण पमाणणएहिं णिक्खेवेण णिक्खदे अट्ठं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥**

—आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 1/82

इसी प्रकार अन्य भी अनेक ग्रन्थों में कहा है। तत्त्वार्थसूत्र का यह कथन तो सुप्रसिद्ध है ही कि ‘प्रमाणनयैरधिगमः’ अर्थात् तत्त्व का सम्यक् ज्ञान प्रमाण-नयों के द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी ‘प्रवचनसार’ के तृतीय अधिकार चारित्राधिकार में बार-बार कहा है कि जबतक अर्थनिश्चय नहीं होगा तबतक अंतर्मन निःशल्य नहीं हो सकता और उसके बिना शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः सर्वप्रथम स्वाध्याय के द्वारा भलीभाँति अर्थ का निश्चय करना चाहिए।

—(द्रष्टव्य गाथा 32, 71, 72)

इसी प्रकार आचार्य वीरसेन स्वामी का यह कथन भी विशेष ध्यान देने योग्य है—

जुत्तिविरहियगुरुवयणादो पयमाणस्स पमाणानुसारित्तविरोहादो ।

—जयध्वला 1/1-1

अर्थात् जो व्यक्ति युक्ति से विरहित है और केवल गुरुवचनों पर विश्वास करता है, उसे सच्चा प्रमाणानुसारी नहीं माना जा सकता।

दरअसल, बात यह है कि स्वयं परीक्षा किये बिना अपने अंदर से सच्चा विश्वास उत्पन्न नहीं होता। ऐसा व्यक्ति कभी भी झट से विचलित हो जाता है, क्योंकि उसने स्वयं परीक्षा करके ठीक से निर्णय नहीं किया होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द के निज वैभव की प्राप्ति में भी परीक्षा या युक्ति के अवलम्बन की बड़ी भूमिका बताई है। कहा है कि उन्हें यह निज वैभव निम्नलिखित चार सोपानों के माध्यम से प्राप्त हुआ है— आगम (स्यात्पदमुद्रित शब्दब्रह्म) का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश, स्वानुभव।

—समयसारटीका, आत्मख्याति, गाथा 5

इनमें युक्ति का अवलम्बन अन्य कुछ नहीं, न्याय या परीक्षा ही है।

इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के नाश के लिए जीव को स्वयं को एकदम निष्पक्ष एवं सच्चा तत्त्वज्ञान होना अनिवार्य है, उसके बिना मिथ्यात्व का नाश सम्भव नहीं है। तथा इस सच्चे तत्त्वज्ञान के लिए न्यायशास्त्र की महती आवश्यकता है, न्यायशास्त्र के बिना सच्चा तत्त्वज्ञान होना सम्भव नहीं है।

सच्चा तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में मुख्यतः तीन बाधाएँ आती हैं—

1. तत्त्व/वस्तु का स्वरूप अत्यन्त जटिल है, अनन्तधर्मात्मक है। उसे कहा ही नहीं जा सकता, जानना भी अत्यन्त कठिन है।
2. हम मोह-राग-द्वेष से आक्रान्त हैं।
3. लोक में मतभेद बहुत हैं, उनके प्रतिपादनकर्ता स्वयं को आप्त कहते हैं।

न्यायशास्त्र हमें उक्त तीनों बाधाओं से पार लगाकर समीचीन तत्त्वज्ञान कराता है। यथा—

1. न्याय प्रमाणनयात्मक होता है, अतः वह वस्तु को अनन्तधर्मात्मक होते हुए भी मुख्य-गौण-शैली का आश्रय लेकर भलीभाँति समझा देता है।
2. न्यायशास्त्र हमें परीक्षा करने की ऐसी निर्दोष विधि सिखा देता है कि हम मोह-राग-द्वेष से सहित होते हुए भी उनसे ऊपर उठकर वस्तुस्वरूप को देखने की कला सीख जाते हैं।
3. न्यायशास्त्र हमें ऐसी वैज्ञानिक पद्धति भी सिखाता है कि उससे हम बहुत अधिक मतभेदों के बीच भी सत्य का ग्रहण एवं असत्य का त्याग करने में समर्थ बन जाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि न्यायशास्त्र हमें सर्व बाधाओं से पार लगाकर सच्चा तत्त्वज्ञान कराता है, जो मिथ्यात्व के नाश हेतु अनिवार्य है, अतः उसकी मिथ्यात्व के नाश में महती भूमिका है। उसके द्वारा कोई भी जीव शीघ्र ही सच्चा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मिथ्यात्व का नाश कर सकता है और दुर्लभ सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकता है। सभी लोग न्यायशास्त्र के अध्ययन द्वारा मिथ्यात्व का नाश कर सम्यक्त्व की प्राप्ति करें—यही मेरी मंगल भावना है।



‘तत्त्वज्ञानविहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम्।’

—वादीभसिंहसूरि, क्षत्रचूडामणि, 6/2

भ्रम जनित दुःख दूर करने का उपाय भ्रम दूर करना है।

—पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक

अज्ञान ही दुःख का मूल कारण है

न्यायशास्त्र में ठीक से प्रवृत्ति करने के लिए एक यह बात भी बहुत अच्छी तरह जानना आवश्यक है कि हमारे दुःख का मूल कारण वस्तुतः एक अज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं है। यदि अन्य कुछ को दुःख का कारण कहीं बताया भी जाता है तो उसका भी मूल कारण अंततोगत्वा अज्ञान ही सिद्ध होता है। अतः हमारे जीवन का एक ही लक्ष्य होना चाहिए— अपने अज्ञान को मिटाना, यथार्थ सत्य का ज्ञान करना, बस।

न्यायशास्त्र का अध्ययन हम कर ही इसलिए रहे हैं, क्योंकि वह हमारे अज्ञान को दूर करने या सत्य का ज्ञान कराने में हमारी महती सहायता करता है। न्यायशास्त्र का उद्देश्य भी एक मात्र यही है कि अज्ञान दूर हो और सत्य का ज्ञान हो। उसे मेरे-तेरे, छोटे-बड़े, नये-पुराने, काले-गोरे आदि किसी भी बात से कोई पक्षपात नहीं है, वह तो एकदम निष्पक्ष रीति से यथार्थ सत्य को प्रकाशित करता है।

अज्ञान ही दुःख का मूल कारण है —इस बात को समझने के लिए आचार्य अमृतचंद्रसूरि का एक निम्नलिखित श्लोक, समयसार-कलश, 58 भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने दो उदाहरण देकर यह बात बहुत भलीभाँति स्पष्ट की है कि अज्ञान ही दुःख का मूल कारण है। यथा—

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा ।

अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः॥

अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत् ।

शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः॥

अर्थ— अज्ञान के ही कारण हिरण मृगतृष्णा में जल की बुद्धि से उसे पीने के लिए दौड़ते हैं, अज्ञान के ही कारण मनुष्य अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी को सर्प जानकर भयभीत होते हैं। तथा अज्ञान के ही कारण यह जीव पवन से तरंगायित समुद्र की भाँति भारी विकल्पों को करता है और शुद्ध ज्ञानमय होते हुए भी स्वयमेव आकुलित होता है।

सत्य है, व्यक्ति की सारी आकुलता का मूल कारण एक अज्ञान ही है। यदि

व्यक्ति अग्नि को अग्नि न जाने, बर्फ जाने तो अन्यथा प्रवृत्ति तो होगी ही, वह जलेगा-मरेगा ही। इसी प्रकार स्व को पर, पर को स्व, हेय को उपादेय, उपादेय को हेय, चेतन को अचेतन, अचेतन को चेतन, नित्य को अनित्य, अनित्य को नित्य इत्यादि अन्यथा जानने से व्यक्ति आकुल-व्याकुल होगा ही। तथा जो जैसा है, उसे वैसा जानते-मानते ही उसकी सर्व आकुलता समाप्त हो जाएगी। अतः हमें इस बात को भलीभाँति समझना है, स्वीकार करना है कि अज्ञान ही हमारे दुःख का मूल कारण है और सम्यक् ज्ञान ही सुख का मूल कारण है। हमें अपनी समस्त शक्ति अज्ञान को नष्ट करने या सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने में ही लगानी है। तथा यह कार्य तभी सम्भव है जब हमारे अन्दर ज्ञान की तीव्र रुचि हो, ज्ञान के प्रति प्रबल अनुराग हो, अज्ञान का किंचित् भी पक्ष न बचा हो। अन्यथा बहुत बार ऐसा देखा गया है कि लोग ज्ञान की प्रशंसा तो करते हैं, पर प्रेम अज्ञान को ही करते रहते हैं। ऐसे लोगों को न्यायशास्त्र कैसे समझ में आएगा? नहीं आ सकता और उनका दुःख भी दूर नहीं हो सकता।

अज्ञान दुःख का मूल कारण कैसे है —इसे बताने के लिए मैंने बहुत पहले एक कहानी लिखी थी, जिसे मैं आज आपको सुनाने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। मेरी दृष्टि में यह कहानी बहुत महत्वपूर्ण है। आशा है आप इसे सावधानी से सुनेंगे। कहानी का शीर्षक ‘सदानन्द नगर की एक्सक्लूसिव रिपोर्ट’ रखा था। पूरी कहानी इसप्रकार है—

मैं एक पत्रकार हूँ। मुझे एक अद्भुत समाचार मिला है कि इसी पृथ्वी पर कहीं अत्यंत दूर सदानन्द नाम का एक ऐसा नगर है जो ‘यथा नाम तथा गुण’ है। वहाँ सदा सभी को सभी प्रकार का आनंद उपलब्ध रहता है। कभी किसी को कोई कष्ट नहीं होता। वहाँ कभी कोई रोग, महामारी, दुर्भिक्ष आदि तो दूर; सर्दी, गर्मी, वर्षा की हीनाधिकता के भी कोई कष्ट नहीं होते; सदा ही सुरम्य वातावरण बना रहता है। समाज में भी छुआछूत, दहेज, चोरी, बलात्कार, बेरोजगारी आदि किसी भी तरह की कोई समस्या नहीं पाई जाती। परिवारों में भी कहीं कोई कलह नहीं होता, सब लोग सदा सबके अनुकूल ही रहते हैं। धन-दौलत की दृष्टि से तो सर्व प्रकार की सम्पन्नता है ही।

अतः मैं कैसे भी बहुत कोशिश करके अपना माइक, कैमरा आदि सब लेकर इस नगर की एक एक्सक्लूसिव रिपोर्ट तैयार करने के लिए वहाँ पहुँच गया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि वास्तव में ही वहाँ सर्व प्रकार का आनन्द है, कहीं किसी को कोई कष्ट नहीं है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने ऐसा नगर आज तक देखना तो दूर, सुना भी नहीं था। मुझे यहाँ बहुत ही अच्छा लग रहा था।

किन्तु यह क्या, यहाँ के लोग तो मुझे जैसे शांत और प्रसन्न होने चाहिए थे,

वैसे नहीं दिखाये दे रहे थे, अपितु बहुत ही अशांत और परेशान-से दिखाए दे रहे थे। वे सब न जाने किस समस्या में उलझे हुए भागदौड़ में ही लगे हुए थे, उन्हें मुझसे बात करने तक की फुर्सत नहीं थी।

पर मैं तो पत्रकार था, किसी तरह कुछ लोगों को बात करने को तैयार कर ही लिया। एक व्यक्ति से मैंने पूछा— “महाशय, आप क्या करते हैं? जरा कुछ अपने बारे में बताइये न!”

वे मुझे अपने एक भव्य कार्यालय में ले गए और अपने अनेक साथियों के साथ सभागार में एकत्रित हो गए। फिर एक जन बोले— “देखिये पत्रकारजी, हम सभी **काक-वर्ण-निवारण-समिति** के सदस्य हैं। मैं अध्यक्ष हूँ और मेरे साथ ये सभी उपाध्यक्ष आदि अन्य पदाधिकारी एवं सदस्यगण हैं। हम कुल मिलाकर 80 लोग हैं और हमने आज से 50 वर्ष पहले अपनी इस काक-वर्ण-निवारण-समिति का गठन किया था। हमारी समिति का उद्देश्य है— कौए का रंग परिवर्तन करना। हम सभी चाहते हैं कि कौए का रंग अत्यंत उज्ज्वल धवल सफेद होना चाहिए, काला होना ठीक नहीं है। हम सभी सदस्य पिछले 50 वर्षों से अनेक-अनेक प्रयोगों के द्वारा अपने उद्देश्य की प्राप्ति में जुटे हुए हैं। हमने लाखों लीटर दूध से एक-एक कौए को रात-दिन दूध में रख-रख कर धोया है, अच्छी क्वालिटी के सफेद पेंट से भी पोता है, तथा इसी प्रकार के और भी अनेक प्रयोग किये हैं। इस कार्य में अब तक 8000 करोड़ रुपये का बजट खर्च हो चुका है जिसे अगले वित्तीय वर्ष से और भी बढ़ाया जा रहा है। यद्यपि हमको अभी तक कोई सफलता नहीं मिली है, परन्तु हमारे सभी साथी प्राणपण से जुटे हुए हैं, उन्हें अपने खाने-पीने, सोने तक की कोई चिंता नहीं है, वे रात-दिन निष्ठापूर्वक अथक परिश्रम कर रहे हैं। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हम एक दिन अपने उद्देश्य की प्राप्ति करने में अवश्य सफल होंगे।”

मैं इनकी बातें सुनकर स्तब्ध रह गया। सोचने लगा— ये कैसे लोग हैं, सदानंद नगर का सब सुख पास में होते हुए भी व्यर्थ ही इतने दुखी, अशांत, परेशान हो रहे हैं। मैंने उन्हें समझाना भी चाहा कि आप लोग क्यों व्यर्थ ही परेशान हो रहे हो, मस्त रहा करो, कौआ तो ऐसा ही होता है, ऐसा ही होता था और ऐसा ही होता रहेगा, यह उसका स्वभाव है, इसे बदला नहीं जा सकता, आदि; पर वे मेरी कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थे, अतः मैं वहाँ से निकलकर एक-दूसरे जनसमूह से बात करके स्थिति समझने की कोशिश करने लगा— “बंधुओ! मैं पत्रकार हूँ और भारतवर्ष की राजधानी नई दिल्ली से आया हूँ, आप लोग किस भाग-दौड़ में लगे हैं, जरा कुछ अपने बारे में बताइये न!”

उन्होंने बताया— “हम सभी **नीम-रस-परिवर्तन-समिति** के सदस्य हैं। हमारी

संस्था बहुत पुरानी है, इसकी स्थापना आज से 99 वर्ष पहले हुई थी। अगले वर्ष हम बड़े ही व्यापक स्तर पर इस संस्था का शताब्दी समारोह मनाने जा रहे हैं। हमारी संस्था का उद्देश्य है— नीम का रस परिवर्तन करना। नीम एक अत्यंत उपयोगी वृक्ष है, परन्तु कड़ुआ होने के कारण सभी लोग उसका लाभ नहीं उठा पाते हैं, अतः हमारी संस्था समस्त जनता के कल्याण के लिए उसे कड़ुए के स्थान पर मीठा बनाने के लिए कृत-संकल्प है और एतदर्थ अनेक योजनाएँ चला रही है। हमारी संस्था ने एक विशाल भूखंड पर नीम का बाग लगाया है और उसमें सैकड़ों वैज्ञानिकों को नियुक्त किया है। हम सब लोग खाना पीना सोना आदि सब कुछ भूलकर, तन-मन-धन से इस कार्य में रात-दिन जुटे हुए हैं। हमने अनेक महान प्रयोग भी किये हैं। जैसेकि— हमने नीम को शुरू से ही पानी के बजाय चीनी से सींचने का प्रयोग भी किया है। यद्यपि अभी तक इस कार्य में हमें कोई सफलता नहीं मिली है, पर हमारे कार्यकर्त्ता हिम्मत हारने वाले नहीं हैं। हमने आम जनता के कल्याण का महान कार्य अपने हाथ में लिया है और उसे करके रहेंगे।”

“अरे, ये तो यहाँ भी वैसा ही हाल है, ये लोग भी बड़े मूर्ख लग रहे हैं, व्यर्थ ही दुखी हो रहे हैं, इनको कौन कैसे समझा सकता है?” —मैं सोचने लगा और आगे चल दिया।

आगे जाकर मैं एक अन्य दल से बात करने की कोशिश करने लगा— “मित्रो! मैं पत्रकार हूँ, मुझे जरा अपने बारे में कुछ बताइए न !”

वे बोले— “हम सब सूर्य-दिशा-परिवर्तन-समिति के सम्मानित सदस्य हैं। हम सब निःस्वार्थ भाव से पूरे तन-मन-धन से रात-दिन जुटकर अपनी संस्था की सेवा करते हैं। हमारी संस्था एक बड़े ही महान उद्देश्य से स्थापित की गई है। इसका उद्देश्य है— सूर्योदय की दिशा परिवर्तन करना। दरअसल बात यह है कि सूर्य प्रतिदिन एक पूर्व ही दिशा से उदित होता है और यह बात न्यायोचित नहीं है। इससे अन्य दिशाओं का अनादर भी होता है और उन दिशाओं में रहने वालों को भी सूर्य का समुचित लाभ नहीं मिल पाता है। हम चाहते हैं कि सूर्य क्रम-क्रम से एक-एक हफ्ते के लिए सभी दिशाओं में उदित हुआ करे, ताकि सबका समान रूप से भला हो। हमारी संस्था ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अब तक हजारों विमान बनाकर आकाश की ओर भी भेजे हैं, जिनमें हमारी धनहानि ही नहीं, जनहानि भी बहुत हुई है, परन्तु फिर भी हमारे एक भी कार्यकर्त्ता का उत्साह शिथिल नहीं हुआ है, सब लोग अपना सर्वस्व समर्पित करके भी, जान देकर भी इस उद्देश्य की प्राप्ति करने हेतु कृत-संकल्प हैं। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि एक-न-एक दिन हमें इस कार्य में सफलता अवश्य मिलेगी।”

मेरे मुँह से निकल पड़ा— हे भगवान ! और जैसे-तैसे अपने को सँभालकर मैं

आगे बढ़ा। कुछ देर बाद सोचा— एक और दल से बात करके देखा जाए—
“मान्यवर, आप लोग क्या करते हैं, जरा कुछ अपने विषय में बताइये न?”

पर उनकी कहानी भी ऐसी ही निकली— “हम सब **लोह-जल-तारण-समिति** के सदस्य हैं। हमने अपना पूरा जीवन 24x7 अपनी समिति के लिए समर्पित कर रखा है। हमारी समिति का पावन उद्देश्य है— लोहे को भी लकड़ी की तरह पानी में तिराना। हमारा सोचना है कि जब लकड़ी पानी में तैर सकती है तो लोहा क्यों नहीं? उसे भी तैरना चाहिए। पक्षपात क्यों? हम यह पक्षपात सहन नहीं करेंगे। और इसीलिए हमारी इस समिति की स्थापना हमारे पूर्वजों ने की है। हमारी समिति अत्यंत प्राचीन है और अब तक अनेक कीर्तिमान स्थापित कर चुकी है, बड़े-बड़े पुरस्कार प्राप्त कर चुकी है, वर्ल्ड रिकॉर्ड बना चुकी है। ये देखिये, ये जो ऊपर लगे हैं, ये सब हमारे पूर्व पदाधिकारियों के चित्र हैं। इन्होंने समिति के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने प्राणों तक को न्योछावर कर दिया था। भारत सरकार ने इन्हें मरणोपरांत स्वर्णपदक आदि प्रदान करके सम्मानित किया है। हमारे नए युवा कार्यकर्ता भी अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चलते हुए समिति के उद्देश्य को पूर्ण करने में जी जान से जुटे हुए हैं। उन्हें अपने तन-मन, घर-परिवार आदि की कोई परवाह नहीं है। वे लोहे को पानी में तिराने के लिए गहरे पानी में भी कूदने का जोखिम उठा रहे हैं। यद्यपि इसमें हमारे अनेक कार्यकर्ता शहीद हो चुके हैं और हमें अपने उद्देश्य में भी अभी तक कोई सफलता नहीं मिली है, लेकिन फिर भी हम निराश नहीं हुए हैं। हम जब तक अपने उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर लेंगे, तब तक चैन की साँस नहीं लेंगे। इंकलाब जिंदाबाद!”

मैं सोचने लगा— हे भगवान, इतनी बड़ी-बड़ी बातें और वे भी बिलकुल व्यर्थ! सब सुख होते हुए भी महादुखी! दुःख का कारण हो और व्यक्ति दुखी हो तब तो कोई बात भी है, पर सर्व प्रकार का आनंद होते हुए भी, सदानंद नगर में रहते हुए भी जो इतना अशांत हो, उसका क्या किया जाये? कदाचित् कोई समझाने वाला मिले तो भी जो न सुने-समझे, उसका क्या किया जाये? उसे सुखी कौन करे?

और मैं भारी मन से दिल्ली लौट आया।

इसप्रकार इस कहानी से स्पष्ट होता है कि जगत् में वस्तुतः कहीं कुछ भी दुःख का कारण नहीं है, मात्र एक अपना अज्ञान ही दुःख का कारण है। यदि यह जीव अपना अज्ञान दूर करके वस्तु के स्वभाव को भलीभाँति जान ले, पहचान ले और तदनुकूल ही आचरण करे तो शीघ्र सुखी हो जाए। हो भी क्या जाए, है ही —ऐसा भी यदि कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतः जीवन में अज्ञान को ही दूर करने का पुरुषार्थ करना योग्य है और वह न्याय से सरलतया संभव है, अतः हम सभी को न्याय के अध्ययन में प्रवृत्ति करनी चाहिए। ❖❖

धर्म, दर्शन और न्याय में अन्तर

न्यायशास्त्र के विद्यार्थियों को एक बात यह भी भलीभांति समझ लेना चाहिए कि वे अब न्याय पढ़ रहे हैं, धर्म-दर्शन नहीं। देखा गया है कि बहुत-से विद्यार्थी अभी धर्म-दर्शन की मानसिकता में ही जीते रहते हैं, उससे ऊपर नहीं उठ पाते हैं, जबकि न्याय की प्रकृति उनसे एकदम अलग है, वह धर्म-दर्शन से काफी ऊपर है और उसे हम तबतक ठीक से नहीं समझ सकते, जबतक उसी की मानसिकता में न आ जाएँ। न्याय को भलीभांति समझने के लिए उसकी प्रकृति को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

विचारणीय है कि धर्म, दर्शन और न्याय में क्या अन्तर है।

धर्म विधि-निषेध के उपदेश का नाम है। वह सीधे-सीधे कहता है कि यह करो, यह मत करो। उदाहरणार्थ— सत्य बोलो, झूठ मत बोलो।

इसके बाद धर्म के उपदेश को जिन विचारों द्वारा पुष्ट किया जाता है, उन विचारों को दर्शन कहते हैं। जैसे कि— धर्म के उक्त उपदेश के सम्बन्ध में दर्शन कहेगा कि हमें सत्य इसलिए बोलना चाहिए क्योंकि इससे हमें प्रतिष्ठा मिलती है, अथवा— इससे हमें कारागृह, मृत्यु आदि के राजदंड नहीं मिलते, अथवा— इससे हमें अगले जन्म में स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, अथवा— इससे व्यापारवृद्धि होती है, अथवा— इससे सुन्दर समाज की रचना होती है, अथवा— इससे हमारा स्वास्थ्य अच्छा रहता है, अथवा— इससे हमारी आत्मा पवित्र होती है, इत्यादि। यह दर्शन है। दर्शन अनेकानेक हो सकते हैं।

इसके बाद जो दर्शन के विचारों की भी युक्तिपूर्वक परीक्षा करे कि उनमें कौन-सा सत्य है और कौन-सा गलत, उसे न्याय कहते हैं। जैसे कि— यदि सत्य बोलने से प्रतिष्ठा मिलती हो तो सभी सत्य बोलनेवालों को प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए और किसी भी असत्य बोलनेवाले को प्रतिष्ठा नहीं मिलनी चाहिए, इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, दर्शन और न्याय तीनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। धर्म आचारप्रधान है, दर्शन विचारप्रधान और न्याय परीक्षाप्रधान या युक्तिप्रधान।

धर्म, दर्शन और न्याय के अन्तर को हम यहाँ कुछ और उदाहरणों द्वारा स्पष्ट

करने का प्रयास करते हैं। यथा—

1. धर्म कहेगा कि परिग्रह-संचय मत करो, दर्शन एक विचार देकर इसकी पुष्टि करेगा कि परिग्रह-संचय इसलिए मत करो, क्योंकि परिग्रह से चिन्ता बढ़ती है, किन्तु न्याय इस विचार की भी युक्तिपूर्वक परीक्षा करेगा कि यह बात समीचीन है या नहीं।
2. धर्म कहेगा कि दान करो, दर्शन एक विचार देकर इसकी पुष्टि करेगा कि दान इसलिए करो, क्योंकि दान से मोह क्षय होता है, किन्तु न्याय इस विचार की भी युक्तिपूर्वक परीक्षा करेगा कि यह बात समीचीन है या नहीं।
3. धर्म कहेगा कि ध्यान करो, दर्शन एक विचार देकर इसकी पुष्टि करेगा कि ध्यान इसलिए करो, क्योंकि ध्यान से कर्मों का क्षय होता है, किन्तु न्याय इस विचार की भी युक्तिपूर्वक परीक्षा करेगा कि यह बात समीचीन है या नहीं।
4. धर्म कहेगा कि तीर्थयात्रा करो, दर्शन एक विचार देकर इसकी पुष्टि करेगा कि तीर्थयात्रा इसलिए करो, क्योंकि तीर्थयात्रा से रत्नत्रय की आराधना बलवती होती है, किन्तु न्याय इस विचार की भी युक्तिपूर्वक परीक्षा करेगा कि यह बात समीचीन है या नहीं।

इसी प्रकार से अन्य भी अनेक उदाहरण स्वयं समझे जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय की प्रकृति धर्म-दर्शन से एकदम भिन्न है। न्याय ही हमें सत्य-असत्य की समीचीन परीक्षा करना सिखाता है। धर्म केवल उपदेश देता है, दर्शन केवल उसकी पुष्टि करता है, किन्तु वह उपदेश और वह विचार वास्तव में सत्य है या नहीं —इसका विवेक करना और फिर उसमें से असत्य को छोड़कर सत्य को ग्रहण करने की कला हमें न्याय ही सिखाता है। दूध को दूध और पानी को पानी करने की हंस जैसी कला हमें न्याय ही सिखाता है। हीरे को हीरा और कांच को कांच जानने की जौहरी जैसी कला हमें न्याय ही सिखाता है। न्याय में ही वह क्षमता है जो मिथ्या बात को पहचानकर उसका ठीक से खण्डन कर सकता है और सम्यक् बात को पहचानकर उसका भलीभांति मण्डन कर सकता है।

यहाँ यद्यपि मुझे ऐसा भी लगता है कि दर्शन का उद्भव भी प्रारम्भ में इसीलिए हुआ होगा कि धर्म के कथनों की परीक्षा हो सके, उनमें जो असत्य हों उनको छोड़कर जो सत्य हों उनको भलीभांति स्थापित किया जा सके, वे केवल आज्ञामात्र या अन्धविश्वास जैसे न रहें, किन्तु बाद में अनेकानेक दर्शन खड़े हो जाने या

अन्य किसी कारण से उस प्रयोजन की पूर्ति दर्शन से नहीं हो पा रही होगी, अतः न्यायशास्त्र का उद्भव-विकास हुआ होगा। जो भी हो, न्याय का महत्त्व असाधारण है, वह हमें पूरी ईमानदारी से सत्यासत्य की परीक्षा करना सिखाता है, अतः हमें उसे सावधानी से समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

धर्म, दर्शन एवं न्याय में ऐसा ही कुछ अन्तर न्यायशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने भी अपनी कृति 'जैन न्याय की भूमिका' में पृष्ठ 8 एवं 9 पर बताया है, जो पठनीय है। यथा—

“आचार का नाम धर्म है और धर्म का जिन विचारों द्वारा समर्थन एवं संपोषण किया जाता है वे विचार दर्शन हैं तथा धर्म के संपोषण के लिए प्रस्तुत विचारों को युक्ति-प्रतियुक्ति, खंडन-मंडन, प्रश्न-उत्तर एवं शंका-समाधानपूर्वक दृढ़ करना न्याय है, प्रमाणशास्त्र है।

इन तीनों के पार्थक्य को समझने के लिए यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। सब जीवों पर दया करो, किसी जीव की हिंसा न करो, सत्य बोलो, असत्य मत बोलो आदि विधि और निषेधरूप आचार का नाम धर्म है। जब इसमें 'क्यों' का सवाल उठता है तो उसके उत्तर में कहा जाता है कि जीवों पर दया करना कर्तव्य है, गुण (अच्छा) है, पुण्य है और इससे सुख मिलता है, किन्तु जीवों की हिंसा करना अकर्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख मिलता है। इसी तरह सत्य बोलना कर्तव्य है, गुण है, पुण्य है और उससे सुख मिलता है, परन्तु असत्य बोलना अकर्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख प्राप्त होता है। इस प्रकार के विचार दर्शन कहे जाते हैं और जब इन विचारों को दृढ़ करने के लिए यों कहा जाता है कि यतः दया करना जीव का स्वभाव है, यदि इसे स्वभाव न माना जाए तो कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता, सब सबके भक्षक या घातक हो जाएंगे। परिवार में, देश में और विश्व के राष्ट्रों में अनवरत हिंसा रहने पर शान्ति और सुख कभी उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। इसी प्रकार सत्य बोलना मनुष्य का स्वभाव न माना जाए तो परस्पर में अविश्वास छा जाएगा और लेन-देन आदि के सारे लोक-व्यवहार लुप्त हो जाएंगे और वे अविश्वसनीय बन जायेंगे। इस तरह धर्म के समर्थन में प्रस्तुत विचाररूप दर्शन को दृढ़ करना न्याय (युक्ति या प्रमाणशास्त्र) है।

तात्पर्य यह कि धर्म जहाँ सदाचार के विधान और असदाचार के निषेधरूप है, वहाँ दर्शन उनमें कर्तव्याकर्तव्य, पुण्यापुण्य और सुख-दुःख का विवेक जाग्रत करता है तथा न्याय दर्शन के रूप में प्रस्तुत विचारों को हेतुपूर्वक मस्तिष्क में बिठा देता है।

वस्तुतः न्यायशास्त्र से दर्शनशास्त्र को जो दृढ़ता मिलती है वह स्थायी,

विवेकयुक्त और निर्णयात्मक होती है। यही कारण है कि सभी भारतीय (जैन, बौद्ध और वैदिक) धर्मों में दर्शनशास्त्र और न्यायशास्त्र का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया है तथा दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इतना ही नहीं, उन पर बल देते हुए उन्हें विकसित एवं समृद्ध किया गया है।

इस प्रकार हमें धर्म, दर्शन और न्याय के अन्तर को भलीभांति पहिचान कर न्याय का अद्भुत लाभ प्राप्त करना चाहिए। न्यायविद्या बड़े भाग्य से प्राप्त होती है।

धर्म, दर्शन और न्याय के अन्तर को गहराई से समझने की प्रेरणा मुझे डॉ. दरबारीलाल कोठिया जी के उपर्युक्त कथन से ही मिली है, अतः मैं उनका हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, उनको विनम्र प्रणाम करता हूँ।

धर्म, दर्शन और न्याय के उक्त अन्तर को समझते हुए एक विशेष विचार यहाँ यह भी आता है कि आनेवाले समय में न्याय की प्रासंगिकता और भी अधिक बढ़नेवाली है, क्योंकि एक तो नई पीढ़ी तार्किक स्वभाव की होती जा रही है, वह धर्म-दर्शन की बात को ऐसे ही नहीं स्वीकार करती, अपितु उसकी तर्क-युक्ति से परीक्षा करना पसंद करती है। दूसरी बात, लोक में भी कलियुग के प्रभाव से दिन-प्रतिदिन दर्शनभेद, मतभेद या विचारभेद बहुत अधिक बढ़ते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में न्याय ही एक मात्र शरण होगा, जो उन सबकी समीचीन परीक्षा करके यह बता देगा कि उनमें से कौन सत्य है और कौन मिथ्या। अतः जिनके पास यह कसौटी होगी, वे तो सत्य तत्त्व की प्राप्ति कर लेंगे, किन्तु जिनके पास यह नहीं होगी, वे धर्म-दर्शन के नाम पर यहाँ-वहाँ धोखा ही खाते रहेंगे। अतः न्याय की प्रासंगिकता भविष्य में भी समाप्त नहीं होगी, बनी ही रहेगी। ❖❖

**“सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः मंत्रौषधिशक्तिचित्तादयः, अन्तरिताः कालविप्रकृष्टाः
लाभालाभसुखदुःखग्रहोपरागादयः। —(आचार्य अकलंकदेव, अष्टशती, कारिका 5)**

अभिप्राय— यहाँ आचार्य अकलंकदेव ने आप्तमीमांसा के मूल पद ‘सूक्ष्मान्तरित’ की व्याख्या करते हुए सूक्ष्म पदार्थों में मन्त्र, औषध, शक्ति, चित्त आदि को लिया है और अन्तरित पदार्थों में लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, ग्रहोपराग आदि को लिया है। इससे भी सिद्ध होता है कि जैनाचार्य मंत्रादिक एवं ग्रहादिक को स्वीकार करते हैं। कुछ लोग जो ऐसा कहते हैं कि जैन दर्शन में ये सब कुछ भी मान्य नहीं है, उनका कहना गलत है। ●●

न्याय में सत्य का महत्त्व है, छोटे-बड़े, तेरे-मेरे, नये-पुराने का नहीं। कैसे ? स्वर्ण की परीक्षा करनी है तो कसौटी पत्थर चाहिए, कोई पहाड़ नहीं। बुखार नापना हो तो थर्मामीटर चाहिए, लाठी या बांस नहीं। ●●

आधुनिक युग के प्रमुख जैन नैयायिक

जैन नैयायिकों की परम्परा प्राचीन काल से आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। प्राचीन नैयायिकों ने तो जैन न्याय के प्रणयन में स्तुत्य योगदान किया ही है, उनकी तो अद्भुत से अद्भुत महिमा है ही, किन्तु आधुनिक युग में भी अनेक विद्वानों ने जैन न्याय के विकास में महनीय योगदान किया है, जिसकी कथमपि उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज मैं यहाँ आधुनिक युग के ही कतिपय प्रमुख जैन नैयायिकों का पुण्य-स्मरण करना चाहता हूँ। जैन न्याय के विद्यार्थियों को इनसे भी अवश्य परिचित होना चाहिए। ध्यान रहे ‘आधुनिक युग’ का तात्पर्य यहाँ मुख्यतः बीसवीं शताब्दी से ही है।

आधुनिक युग के जैन नैयायिकों की संख्या भी यद्यपि मेरे आकलन के अनुसार सहस्राधिक है, क्योंकि पहले न्यायशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन बड़े व्यापक स्तर पर होता था, किन्तु अभी हम यहाँ ऐसे कतिपय प्रमुख जैन नैयायिकों का ही स्मरण करेंगे, जो सूर्य-चन्द्र के समान विशेष दैदीप्यमान रहे। जैन न्याय के विद्यार्थियों को कम से कम इनसे तो अवश्य परिचित होना चाहिए। न केवल परिचित होना चाहिए, अपितु इनका कृतज्ञ भी होना चाहिए और इनसे प्रेरणा लेकर स्वयं को भी न्यायविद्या की प्रगति में यथाशक्ति योगदान करना चाहिए।

ध्यातव्य है कि अभी यहाँ केवल दिवंगत नैयायिकों का ही पुण्य-स्मरण किया जा रहा है, अन्यथा अभी वर्तमान में भी अनेक नैयायिक जैन न्याय की महती सेवा कर रहे हैं, जो कथमपि उपेक्षणीय नहीं हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में अलग से लिखने का प्रयास किया जाएगा।

आधुनिक युग के इन जैन नैयायिकों के सम्बन्ध में भी यद्यपि मेरा मन इनके जीवनवृत्त, व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का विस्तृत परिचय देने का कर रहा है, परन्तु अभी विस्तारभय के कारण अतिसंक्षिप्त परिचय ही यहाँ लिखा जा रहा है, ताकि विद्यार्थी सरलतापूर्वक इन महापुरुषों से कुछ तो परिचित हो सकें, विस्तृत परिचय बाद में कभी लिखने का प्रयास किया जाएगा। यथा—

1. पं. गोपालदास बरैया (1867 से 1917)— आधुनिक युग में एक प्रकार

से आपने ही सर्वप्रथम शिक्षा का शुभारम्भ किया। यही कारण है कि आप ‘गुरुणां गुरुः’ कहलाते हैं। वर्तमान में जितने भी जैन विद्वान् हैं, उन सबका मूल कहीं-न-कहीं आपसे जुड़ा हुआ मिलता है। आपने मुरैना (मध्यप्रदेश) में जो जैन सिद्धांत विद्यालय स्थापित किया, वह युगांतरकारी सिद्ध हुआ। उसमें बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् तैयार हुए। यह विद्यालय आज भी आपकी अमर कीर्ति को प्रकाशित करता हुआ भलीभांति चल रहा है। आपने जैन न्याय के विकास में जो योगदान किया है, वह अविस्मरणीय है। आपने अपनी कृति ‘जैन सिद्धांत प्रवेशिका’ में भी एक अध्याय न्याय विषय का लिखकर जन-जन को जैन न्याय से परिचित कराने का स्तुत्य प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त ‘जैन सिद्धान्त दर्पण’ एवं ‘सुशीला’ उपन्यास भी आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

2. पं. गणेशप्रसाद वर्णी (1874 से 15 सितम्बर 1961)– आपने जैन न्याय के अध्ययन-अध्यापन को पूरे देश में अद्भुत गति प्रदान की। आपने गाँव-गाँव में जैन दर्शन एवं न्याय के व्यवस्थित अध्ययन-अध्यापन हेतु विद्यालय-महाविद्यालय खुलवाये। स्याद्धाद महाविद्यालय वाराणसी भी आपकी ही अक्षय कीर्ति का स्मारक है। आपने स्वयं इस महाविद्यालय का प्रथम विद्यार्थी बनकर न्यायाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। आपकी सारी ही कथा बड़ी रोमांचक एवं शिक्षाप्रद है, जिसे ‘मेरी जीवनगाथा’ पढ़कर कुछ समझा जा सकता है। आपका तप वस्तुतः प्रणम्य है, समाज आपके उपकारों से कभी भी उन्मत्त नहीं हो सकता। जीवन के अन्त में आपने सम्मेलनशिखर तीर्थ पर दिगम्बर मुनि दीक्षा धारण करके शरीर का त्याग किया।

3. पं. जुगलकिशोर मुख्त्यार (1877 से 22 दिसम्बर 1968)– आप बहुत बड़े जैन नैयायिक थे। जैन न्याय के संस्थापक आचार्य समन्तभद्र पर तो आपका असाधारण अधिकार था। आपने उनकी सभी कृतियों का सम्पादन, अनुवाद एवं व्याख्यान आदि किया है, जिनमें स्वतंत्ररूप से भी आप्तमीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन आदि हैं और समग्ररूप से ‘समन्तभद्र-भारती’ भी है। इनके अतिरिक्त भी आपके अनेक ग्रन्थ हैं— तत्त्वानुशासन, समाधितन्त्र, युगवीर—निबन्धावली, मेरी भावना आदि। वीर सेवा मन्दिर दिल्ली आपकी ही कीर्ति का अक्षय स्मारक है। आपकी ‘अनेकान्त’ पत्रिका अभी तक यहाँ से निरन्तर प्रकाशित हो रही है।

4. पं. सुखलाल संघवी (8 दिसम्बर 1880 से 2 मार्च 1978)– आपकी कहानी अत्यन्त प्रेरणास्पद है। आपकी आँखें 16 वर्ष की उम्र में ही चेचक के कारण चली गई थी, फिर भी आपने अपनी दृढ़ लगन के कारण दर्शन, न्याय, साहित्य, भाषा आदि विविध विषयों गहन अध्ययन किया और काशी हिन्दू

विश्वविद्यालय वाराणसी में प्रोफेसर बने। आपको साहित्य अकादमी आदि के तो अनेक पुरस्कार मिले ही, भारत सरकार द्वारा ‘पद्मभूषण’ सम्मान भी प्राप्त हुआ। आपने जैन न्याय के अनेक ग्रन्थों का विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाओं के साथ सम्पादन किया है। आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं— दर्शन और चिन्तन, प्रमाणमीमांसा, सन्मतितर्क, जैन तर्कभाषा, तत्त्वार्थसूत्र आदि।

5. पं. माणिकचन्द्र कौन्देय— आप लगभग 60 वर्ष तक पंडित गोपालदास सिद्धान्त विद्यालय मुरैना में प्रधानाध्यापक रहे। आपने हजारों विद्यार्थियों को जैन न्याय का अध्ययन कराया। आपने आचार्य विद्यानंदस्वामी के ‘तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक’ का सम्पादन-अनुवाद भी किया है, जो सात भागों में सोलापुर से प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्ध भी जैन दर्शन एवं न्याय से सम्बन्धित लिखे हैं। न्यायशास्त्र में प्रवीण होने के कारण आपने अपने समय में अनेक शास्त्रार्थ भी किये थे और उनमें विजय भी प्राप्त की थी। एतदर्थ समाज द्वारा आपको समय-समय पर तर्कशिरोमणि, न्यायरत्न, न्यायभूषण, न्यायदिवाकर आदि अनेक उपाधियों से भी विभूषित किया गया। जिनशासन का रहस्य, धर्मफलसिद्धान्त, षट्द्रव्यों की आकृतियाँ आदि भी आपकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

6. पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ (22 जनवरी 1899 से 26 जनवरी 1969)— आप जयपुर के सुप्रसिद्ध कॉलेज श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य थे और जैन न्याय के विशिष्ट ज्ञाता एवं कुशल अध्यापक थे। आपने जैन न्याय के अध्ययन-अध्यापन को बढ़ावा देने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। सरकारी स्तर पर जैन न्याय के ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में निर्धारित कराने में भी आपका योगदान अविस्मरणीय है। आप वैदिक विद्वानों के साथ भी संस्कृत भाषा में शास्त्रार्थ कर लेते थे। आपके कारण जयपुर जैनों की काशी कहलाने लगा, यद्यपि इसमें अन्य भी अनेक विद्वानों का योगदान है। आपकी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं। यथा— जैनदर्शनसार, अर्हत्-प्रवचन, भावना-विवेक, प्रवचन-प्रकाश, सर्वार्थसिद्धिसार, पावन प्रवाह, निक्षेपचक्र, स्याद्वाद आदि।

7. पं. घनश्यामदास न्यायतीर्थ, महरौनी, उत्तरप्रदेश (1888 से 1924)— आप जैन सिद्धान्त विद्यालय मुरैना में पं. गोपालदासजी बरैया के साक्षात् शिष्य रहे और दिगम्बर जैन समाज के प्रथम न्यायतीर्थ बने। आपको ‘गोम्मटसार’ की पूरी लगभग पौने दो हजार गाथाएँ कंठस्थ थीं। आप कुछ समय स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में भी धर्माध्यापक रहे, किन्तु अन्त में खुरई (मध्यप्रदेश) में ही रहने लगे। आपकी अनूदित कृतियाँ हैं— परीक्षामुख, नाममाला, पद्मपुराण, पांडवपुराण, प्रभंजनचरित।

8. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धांताचार्य (1903 से 17 नवम्बर 1987)– आप जैन न्याय के विशिष्ट ज्ञाता एवं कुशल अध्यापक थे। आपने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के प्राचार्य/अधिष्ठाता के रूप में अपनी महती सेवाएँ समाज को प्रदान की हैं। ‘जैन न्याय’ आपकी अत्यन्त लोकप्रिय कृति है, जो दो भागों में मिलती है। इसके अतिरिक्त भी आपने अनेक ग्रन्थों का लेखन किया है। यथा— प्रमाणनयनिक्षेप, जैन सिद्धांत, जैन धर्म, समीचीन जैन धर्म, भगवान ऋषभदेव, करणानुयोग प्रवेशिका, चरणानुयोग प्रवेशिका, जैन साहित्य का इतिहास, आदि। आपके द्वारा सम्पादित कृतियाँ भी बहुत हैं। यथा— द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, जयधवला (13 भाग), गोम्मटसार, धर्माभूत, भगवती आराधना आदि।

9. पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (11 मई 1911 से 20 मई 1959)– आप तो मानों जैन न्याय के पर्यायवाची ही थे। आपका जन्म ही मानों जैन न्याय के उद्धार के लिए हुआ था। आप सदा ही जैन न्याय में रचे-पचे रहते थे। मात्र 48 वर्ष की अल्पायु में भी आपने इतने अधिक न्यायग्रन्थों का सम्पादन-अनुवाद आदि किया है कि आश्चर्य होता है। तथा वे ग्रन्थ भी कोई साधारण नहीं हैं, अपितु जैन न्याय के अत्यन्त कठिन ग्रन्थों में गिने जाते हैं। आपने उनकी विद्वत्तापूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ भी लिखी हैं, जो एक-एक ही पीएच. डी. के समान जान पड़ती हैं। आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं— न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमल-मार्तण्ड, प्रमाण-मीमांसा, प्रमाणप्रमेयकलिका, युक्त्यनुशासन, सत्यशासनपरीक्षा, विश्वतत्त्वप्रकाश, जैनदर्शन आदि।

10. डॉ. दरबारीलाल कोठिया (11 जून 1911 से 3 जनवरी 2000)– आप भी आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध जैन नैयायिक हैं। आपका जन्म नैनागिर में हुआ था और समाधिमरण नेमावर में। आप संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी तीनों भाषाओं में कुशलतापूर्वक लेखन करते थे। आपके द्वारा लिखित या सम्पादित कृतियाँ हैं— जैनदर्शने प्रमाणचिन्तनम्, जैनदर्शने करुणायाः स्वरूपम्, द्रव्यसंग्रहटीका, न्यायदीपिकायाः प्रश्नोत्तरावलिः, न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, स्याद्वादसिद्धि, पत्रपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणप्रमेयकलिका, अष्टसहस्री, देवागमस्तोत्र, जैन न्याय की भूमिका, प्रमाणशास्त्र-परिशीलन, जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, जैनतत्त्वमीमांसा आदि।

11. पं. नरेन्द्रकुमार भिसीकर (29 जून 1906 से 1997)– आप श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा, महाराष्ट्र में धर्माध्यापक थे और न्यायशास्त्र भी बहुत अच्छा पढ़ाते थे। मुझे भी श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धांत महाविद्यालय में आपसे आप्तपरीक्षा पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपने अनेक न्याय एवं अध्यात्म के ग्रन्थों का मराठी भाषा में अनुवाद किया है। यथा— प्रमेयकमलमार्तण्ड,

अष्टसहस्री, पंचाध्यायी, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि।

12. पं. मूलचन्द्र शास्त्री (1903 से 5 अगस्त 1986)— आपका जन्म सागर (मध्य प्रदेश) जिले के मालथौन ग्राम में हुआ और आपकी शिक्षा स्याद्धाद विद्यालय वाराणसी में हुई। आपने प्रारम्भ में अहमदाबाद, गुना, कोलारस, पपौरा आदि अनेक स्थानों पर कार्य किया, किन्तु बाद में आदर्श महाविद्यालय श्रीमहावीरजी में ही धर्माध्यापक के रूप में ही स्थायी हो गये। आप दर्शन एवं न्याय के साथ-साथ साहित्य के भी बहुत अच्छे विद्वान् थे। आपने संस्कृतभाषा में भी वर्द्धमानचम्पू, वचनदूतम्, लोकाशाहमहाकाव्य आदि अनेक कृतियों की रचना की है। इसके अतिरिक्त लगभग 50 कृतियों के अनुवादादि भी आपने किये हैं। आपकी न्याय-विषयक कृतियों में आप्तमीमांसाटीका, युक्त्यनुशासन, न्यायरत्न आदि उल्लेखनीय हैं।

13. मनोहरलाल वर्णी 'सहजानन्द' (1915 से 30 मार्च 1978)— जैन न्याय को साधारण जनता तक पहुँचाने में आपका विशेष योगदान है। आपने समाज की सार्वजनिक सभाओं में जैन-न्याय के अनेकानेक ग्रन्थों पर व्याख्यान किये, जिनकी अनेकानेक कृतियाँ भी प्रकाशित हुई हैं। यथा— अष्टसहस्री-प्रवचन, परीक्षामुख-प्रवचन, आप्तपरीक्षा-प्रवचन, आप्तमीमांसा-प्रवचन, सप्तभंगीतरंगिणी-प्रवचन, युक्त्यनुशासन-प्रवचन, आदि। इनके अतिरिक्त भी आपके शताधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

14. जिनेन्द्र वर्णी (14 मई 1921 से 24 मई 1983)— 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' के प्रणेता जिनेन्द्र वर्णी जी को कौन नहीं जानता? जैन न्याय आपका विशेष विषय था। आपने जैन न्याय पर सार्वजनिक शास्त्रसभा में भी व्याख्यान किये। आपके उन व्याख्यानों की एक कृति प्रकाशित भी हुई है— नयदर्पण। इसके अतिरिक्त आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं— शान्तिपथप्रदर्शन, पदार्थविज्ञान, कर्मसिद्धान्त, कर्मरहस्य, कुन्दकुन्द-दर्शन, समणसुत्त आदि।

15. मुनि नथमल (14 जून 1920 से 9 मई 2010)— आपका नाम बाद में आचार्य महाप्रज्ञ हो गया। न्यायशास्त्र-विषयक आपकी एक कृति बहुत प्रसिद्ध है— 'जैन न्याय का विकास' जो राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त 'समयसार : निश्चय-व्यवहार की यात्रा' भी आपकी न्याय-अध्यात्म-मिश्रित महत्त्वपूर्ण कृति है। तेरापंथ अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ की प्रेरणा से जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय लाडनू में भी जैन न्याय का अध्ययन निरन्तर प्रगतिशील है।

16. पं. उमरावसिंह न्यायतीर्थ— आप स्याद्धाद महाविद्यालय वाराणसी में प्राध्यापक थे और पण्डित कैलाशचन्द्रजी के भी गुरु थे। आपने 'आप्तपरीक्षा'

की एक सुन्दर हिन्दी टीका लिखी है, जो बहुत अच्छी है, मैंने स्वयं पढ़ी है, किन्तु उसके अतिरिक्त भी कोई ग्रन्थ होगा तो मुझे ज्ञात नहीं हुआ। आप अपने समय में एक ‘ज्ञानवर्द्धक’ नाम की पत्रिका भी निकाला करते थे।

17. मुनि वीरसागरजी (5 मई 1940 से 10 मार्च 1993)– जैन न्याय को सरल-सुबोध शैली में जन-जन तक पहुँचाने में आपका विशेष योगदान है। आप जैन न्याय को आध्यात्मिक दृष्टि से समझने-समझाने पर विशेष बल देते थे। प्रायः सोलापुर में आपके सान्निध्य में जैन न्याय के विशेष शिविर लगते थे। ‘अध्यात्मन्यायदीपिका’ आपकी अत्यन्त लोकप्रिय कृति है।

18. प्रो. उदयचन्द्र जैन (1 अक्टूबर 1923 से 24 दिसम्बर 2009)– आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में प्रोफेसर थे और सर्वदर्शनार्थ थे, सभी दर्शनों के अच्छे ज्ञाता थे। आपने जैन न्याय के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद, परिशीलन, व्याख्यान आदि लिखकर जैन न्याय के विकास में महान योगदान किया है। आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं— आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका, स्वयम्भूस्तोत्र-तत्त्वदीपिका, प्रमेयकमलमार्तण्ड-परिशीलन, न्यायकुमुदचन्द्र-परिशीलन आदि।

19. आर्यिका सुपाश्वर्यमती (फाल्गुन शुक्ला नवमी वि.सं. 1985 से वि.सं.2069)– आप आचार्य श्री वीरसागरजी की विदुषी शिष्या थीं। आपने तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकालंकार, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति आदि अनेक महत्त्वपूर्ण न्याय-ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद किया है और स्तुतिविद्या आदि कुछ ग्रन्थों की टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त भी आपके अनेक ग्रन्थ हैं— मेरा चिंतवन, नारी का चातुर्य, नैतिक शिक्षाप्रद कहानियाँ, दशलक्षण धर्म, प्रतिक्रमण-पंजिका आदि।

20. आर्यिका जिनमती (1933 से 31 जनवरी 1996)– आप भी आचार्य श्री वीरसागरजी की विदुषी शिष्या थीं। आपने ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विशालकाय न्यायग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद किया है, जो तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त भास्करनंदी कृत तत्त्वार्थवृत्ति का भी आपने हिन्दी-अनुवाद किया है। अन्य भी कुछ कार्य चल ही रहे थे कि अचानक आपका समाधिमरण हो गया, अन्यथा जैन न्याय की कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ और भी प्रकाश में आतीं।

इस प्रकार यहाँ हमने आधुनिक युग के कतिपय प्रमुख जैन नैयायिकों का पुण्य-स्मरण किया है, किन्तु ऐसे ही और भी अनेकानेक विद्वान् जैन न्याय के इतिहास में बहुत हुए हैं, जिन्होंने जैन न्याय की पवित्र मन्दाकिनी को अद्यावधि अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित करने में अद्भुत योगदान किया है। सभी को हमारा कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम हो।



साधन और कारण में अन्तर

‘साधन’ और ‘कारण’ —ये दो शब्द ऐसे हैं जो एक-से लगते हैं और सामान्य अपेक्षा से एक-से कहे भी जाते हैं, लोक में ही नहीं, शास्त्र में भी स्थान-स्थान पर इनका प्रयोग एक-दूसरे के स्थान पर होता देखा जाता है, किन्तु सूक्ष्मता से देखा जाए तो ये दोनों शब्द बिलकुल भी एक-से नहीं हैं, अपितु इनमें बड़ा भारी अन्तर है, जिसे हम सबको समझना अत्यंत आवश्यक है। खास तौर से न्यायशास्त्र के विद्यार्थियों को तो इसे जानना अनिवार्य ही है, अन्यथा बड़ा अनर्थ हो सकता है।

साधन उसे कहते हैं जो साध्य को सिद्ध करे, उसका ज्ञान का कराए, किन्तु कारण उसे कहते हैं जो कार्य को उत्पन्न करे।

साधन ज्ञापक कारण है और कारण कारक, जनक या उत्पादक कारण है।

साधन केवल ज्ञान कराता है, किन्तु कारण कार्य को उत्पन्न करता है।

तत्त्वमीमांसा दो प्रकार की होती है। एक ज्ञापक तत्त्वमीमांसा और दूसरी कारक तत्त्वमीमांसा। ‘साधन’ शब्द का विशेष प्रयोग ज्ञापक तत्त्वमीमांसा में होता है और ‘कारण’ शब्द का विशेष प्रयोग कारक तत्त्वमीमांसा में होता है।

साधन का अपर नाम हेतु भी है, जिसके भेद-प्रभेद होते हैं— विधिसाधक, निषेधसाधक आदि, किन्तु कारण के भेद-प्रभेद होते हैं— निमित्त, उपादान आदि।

यहाँ कुछ लोग ऐसी भी भूल करते मैंने देखे हैं जो कहते हैं कि उपादान तो कारण है और निमित्त साधन है अथवा निमित्त तो कारण है और उपादान साधन है। किन्तु ऐसा नहीं है। निमित्त-उपादानरूप सम्पूर्ण सामग्री ‘कारण’ ही कहलाती है, ‘साधन’ नहीं। साधन तो वह होता है जो उसका ज्ञान कराए। जैसे कि अग्नि धुंआ का कारण तो है, पर साधन नहीं है। इसीप्रकार धुंआ अग्नि का साधन तो है, क्योंकि उसका ज्ञान कराता है, किन्तु कारण नहीं है, क्योंकि वह अग्नि को उत्पन्न नहीं करता है। यद्यपि यह बात अलग है कि कहीं-कहीं कारण भी साधन अर्थात् हेतु बनता है। किन्तु कारण और साधन दोनों एक नहीं हैं —यह बात हमें भलीभांति समझ लेनी चाहिए। यदि साधन और कारण एक ही होते तो साधन/हेतु के भेदों में कारणरूप हेतु, कार्यरूप हेतु आदि भेद नहीं गिनाए जा सकते थे।

इस प्रकार यह बात एकदम स्पष्ट है कि साधन और कारण दोनों एक नहीं हैं, उनमें बड़ा अन्तर है, किन्तु यहाँ अब एक विशेष बात सावधानी की यह है कि इन दोनों शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में भी स्थान-स्थान पर सामान्य अपेक्षा से एकार्थक जैसा ही कर दिया गया है, अतः उसे हमें स्वविवेक से सही-सही समझने का प्रयत्न करना होगा। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय ऐसे वाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं, जहाँ ‘साधन’ का अर्थ ‘कारण’ है और ‘कारण’ का अर्थ ‘साधन’। यथा—

‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय मोक्ष का साधन है’ —यहाँ वस्तुतः ‘साधन’ का अर्थ ‘कारण’ है, क्योंकि रत्नत्रय मोक्ष का उत्पादक कारण है, ज्ञापक कारण नहीं।

‘पुस्तक, कलम, शिक्षक, विद्यालय आदि शिक्षा के साधन हैं’ —यहाँ भी ‘साधन’ का अर्थ ‘कारण’ है, क्योंकि पुस्तक, कलम आदि ज्ञान के उत्पादक/कारक कारण हैं, ज्ञापक कारण नहीं।

‘कार, बस, ट्रेन, प्लेन आदि यात्रा के साधन हैं’ —यहाँ भी ‘साधन’ का अर्थ ‘कारण’ है, क्योंकि कार, बस आदि यात्रा के उत्पादक/कारक कारण हैं, ज्ञापक कारण नहीं।

‘अमुक ग्रह दुःख/सुख का कारण है’ —यहाँ वस्तुतः ‘कारण’ का अर्थ ‘साधन’ है, क्योंकि ग्रह दुःख/सुख का ज्ञापक कारण है, कारक/उत्पादक कारण नहीं।

‘अमुक वास्तु दुःख/सुख का कारण है’ —यहाँ भी ‘कारण’ का अर्थ ‘साधन’ है, क्योंकि वास्तु दुःख/सुख का ज्ञापक कारण है, कारक/उत्पादक कारण नहीं।

‘अमुक स्वप्न दुःख/सुख का कारण है’ —यहाँ भी ‘कारण’ का अर्थ ‘साधन’ है, क्योंकि स्वप्न दुःख/सुख का ज्ञापक कारण है, कारक/उत्पादक कारण नहीं।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक प्रयोग समझ लेने चाहिए और जहाँ जो अर्थ उपयुक्त हो वही ग्रहण करना चाहिए।

विचारणीय है कि जब साधन और कारण में इतना अन्तर है तो शास्त्रों में इनका प्रयोग सर्वत्र सावधानीपूर्वक क्यों नहीं किया गया? साधन को कारण और कारण को साधन समझने से तो बड़ा दोष उत्पन्न होता है।

उत्तर— ऊपर संकेत किया था कि तत्त्वमीमांसा दो प्रकार की होती है। एक ज्ञापक तत्त्वमीमांसा और दूसरी कारक तत्त्वमीमांसा। दोनों की अपनी-अपनी शब्दावली है, दोनों का ही अपना-अपना क्षेत्र है, दोनों अपने-अपने समीचीन कारण की खोज करते हैं, क्योंकि समीचीन कारणों की खोज का नाम ही दर्शनशास्त्र है। इस दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञापक तत्त्वमीमांसा में जो ‘साधन’ है, वह भी वास्तव में कारण ही है, क्योंकि वह ज्ञान का कारण है,

ज्ञापक कारण है और वही उसका विषयक्षेत्र है, वह केवल ज्ञापक कारणों की ही खोज करता है। इसी प्रकार कारक तत्त्वमीमांसा में जो ‘कारण’ है, वह भी वास्तव में साधन ही है, क्योंकि वही उसके साध्य को उत्पन्न करता है, उसकी उत्पत्ति का साधक बनता है और वही उसका विषयक्षेत्र है, वह केवल उत्पादक/कारक कारणों की ही खोज करता है।

इस बात को हम सरल शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब साधन को ‘कारण’ कहा गया हो तो समझना चाहिए कि ‘कारण’ अर्थात् ‘ज्ञान का कारण’ और जब कारण को ‘साधन’ कहा गया हो तो समझना चाहिए कि ‘साधन’ अर्थात् कार्यरूप साध्य को ‘उत्पन्न करनेवाला साधन’। इस प्रकार ठीक से समझने पर महादोष उत्पन्न नहीं होगा।

बहरहाल, अभी हमारा विषय न्यायशास्त्र है और उसमें तो लगभग सर्वत्र ही इन दोनों शब्दों का प्रयोग सावधानीपूर्वक किया गया है, अतः न्यायशास्त्र के विद्यार्थियों को इनके सम्बन्ध में जरा भी लापरवाही नहीं बरतना चाहिए। जैसे कि ‘धुंआ अग्नि का साधन है’ —इस वाक्य में ‘साधन’ का अर्थ ‘साधन’ ही है, क्योंकि धुंआ अग्नि का ज्ञापक कारण है, कारक/उत्पादक कारण नहीं। ‘पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं हैं’ —इस वाक्य में ‘कारण’ का अर्थ ‘कारण’ ही है, क्योंकि यहाँ उनके उत्पादक कारणत्व का निषेध किया जा रहा है, ज्ञापक कारणत्व का नहीं।

प्रश्न— ज्ञापक तत्त्वमीमांसा और कारक तत्त्वमीमांसा के विषयक्षेत्र को पुनः स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— दर्शनशास्त्र दो बातों पर विचार-विमर्श करता है। एक तो यह कि यह जगत क्या है, कैसे बना है, कैसे चल रहा है, इसके कार्य कैसे हो रहे हैं, उनका सही कारण क्या है, इत्यादि और दूसरा यह कि इसके सम्बन्ध में हम सब जो समझ रहे हैं, क्या वह सही है, सही ज्ञान आखिर कैसे होता है, उसकी सही विधि क्या है, इत्यादि। पहली को कारक तत्त्वमीमांसा कहते हैं और दूसरी को ज्ञापक तत्त्वमीमांसा। उदाहरणार्थ जैन दर्शन की कारक तत्त्वमीमांसा में षट्द्रव्यविवेचन, निमित्त-उपादान आदि विषय आते हैं और ज्ञापक तत्त्वमीमांसा में प्रमाण-नय-निक्षेप आदि विषय आते हैं। ❖❖

**भवबीजांकुरजननाः रागाद्याः क्षयमुपगता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥**

—(स्याद्वादमंजरी, प्रस्तावना, 27)

अर्थ— जिसने संसार के कारणभूत रागादि का क्षय कर दिया है, उसे ही नमस्कार हो, चाहे वह ब्रह्मा हो या विष्णु हो या हर हो या जिन हो।

प्रमेय का स्वरूप

भूमिका

जैन न्याय का एक प्रमुख वैशिष्ट्य यह भी है कि इसमें केवल प्रमाण का ही वर्णन नहीं किया गया है, अपितु उसके साथ-साथ प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति (प्रमाणफल) का भी वर्णन किया गया है। यहाँ हम प्रमेय के स्वरूप पर संक्षेप में विचार करना चाहते हैं।

प्रमेय का स्वरूप-निरूपण जैन नैयायिकों का अत्यन्त प्रिय एवं प्राथमिक विषय रहा है। प्रायः सभी न्यायग्रन्थों में, प्राथमिक न्यायग्रन्थों में भी, प्रमेय के स्वरूप का निरूपण उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं तो इस विषय पर पूरा एक स्वतन्त्र अध्याय तक मिलता है। जैसे कि ‘परीक्षामुख’ में चतुर्थ अध्याय पूरा का पूरा मात्र प्रमेय के स्वरूप को ही स्पष्ट करने के लिए लिखा गया है और फिर उसके आधार से उसकी सभी टीकाओं में भी इस विषय को स्वतन्त्र अध्याय में विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

अनेक जैन-न्याय-ग्रन्थों के तो नाम ही ‘प्रमेय’ शब्द पर आधारित रखे गये हैं। जैसे कि— प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र), प्रमेयरत्नमाला (अनन्तवीर्य), प्रमेयरत्नाकर (आशाधरसूरि), प्रमेयरत्नकोश (चन्द्रप्रभसूरि), प्रमाप्रमेय (भावसेन), प्रमेयरत्नसार (शान्तिषेण) इत्यादि। इससे भी सिद्ध होता है कि जैन न्याय में प्रमेय-स्वरूप के प्रकाशन पर भी विशेष बल दिया गया है।

प्रमेय का अर्थ, व्युत्पत्ति एवं पर्यायवाची

प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। जिसप्रकार ध्यान के विषय को ध्येय कहते हैं, ज्ञान के विषय को ज्ञेय कहते हैं, श्रद्धा के विषय को श्रद्धेय कहते हैं, उसीप्रकार प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं।

‘प्रमेय’ शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि—

1. ‘प्रमाणविषयः प्रमेयः।’¹
2. ‘प्रमाणेन परिच्छेद्यं प्रमेयं प्रणिगद्यते।’²
3. ‘योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम्।’³

4. ‘द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम् इति तु समीचीनं लक्षणं सर्वसंग्राहकत्वात्।’⁴

‘प्रमेय’ शब्द के अनेक पर्यायवाची हैं— ज्ञेय, परिच्छेद्य, वस्तु, अर्थ, पदार्थ, द्रव्य, तत्त्व, आदि।

प्रमेय का स्वरूप

‘प्रमेय’ शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों एवं पर्यायवाची शब्दों से यद्यपि प्रमेय का सामान्य स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, तथापि जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि आखिर वह प्रमेय कैसा है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, अतः जैनाचार्य कहते हैं कि—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।⁵

अर्थात् सामान्यविशेषात्मक अर्थ/पदार्थ/वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

तात्पर्य यह है कि प्रमाण का विषय केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप नहीं होता, सामान्यविशेषात्मक ही होता है।

दरअसल जैन आचार्यों के अनुसार जगत् में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप हो। अनेक जैनैतर दर्शन वस्तु को केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप मानकर उसे प्रमाण का विषय स्वीकार करते हैं, किन्तु जैन आचार्यों की यह सयुक्तिक स्थापना है कि कोई भी वस्तु केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप हो ही नहीं सकती, अतः वह प्रमाण का विषय भी नहीं हो सकती। केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप वस्तु को प्रमाण का विषय मानना अवस्तु को विषय मानना है, खरविषाण को विषय मानना है।

कोई जैनैतर दर्शन सामान्यरूप और विशेषरूप दोनों को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु वे दोनों को स्वतन्त्र या पृथक् पृथक् स्वीकार करते हैं, अतः यह भी समीचीन नहीं है। जैनाचार्यों के अनुसार प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, उसमें एक साथ दोनों धर्म पाए जाते हैं— सामान्यरूप भी और विशेषरूप भी। उनके अनुसार वस्तु एक साथ सामान्यविशेषात्मक हो तभी वह अपनी अर्थक्रिया कर सकती है, अन्यथा उसमें अर्थक्रिया भी सिद्ध नहीं हो सकती है। तथा सामान्य के बिना विशेष और विशेष के बिना सामान्य की स्थिति भी सम्भव सिद्ध नहीं होती। अतः वस्तु को युगपद् सामान्यविशेषात्मक स्वीकार करना आवश्यक है।

सामान्यविशेषात्मक को ही अनेकान्तात्मक भी कहते हैं, जैसा कि श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति ने ‘न्यायदीपिका’ में कहा है—

‘अथ कोयमर्थो नाम ? उच्यते- अर्थोऽनेकान्तः। अर्थ इति लक्ष्यनिर्देशः अभिधेय इति यावत्। अनेकान्त इति लक्षणकथनम्। अनेके अन्ताः धर्माः सामान्यविशेषगुणाः यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः।’⁶

तात्पर्य यह हुआ कि जैन दर्शन के अनुसार प्रमेय सामान्यविशेषात्मक या

अनेकान्तात्मक ही है, एकान्तात्मक नहीं।

प्रमेय सामान्यविशेषात्मक कैसे सिद्ध होता है—इसका उत्तर देते हुए आचार्य माणिक्यनन्दी अपने ‘परीक्षामुख’ ग्रन्थ में लिखते हैं कि—

‘अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षण-परिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च।’⁷

यह सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है और बहुत ही ध्यान से समझने योग्य है। इसमें कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक इसलिए सिद्ध होती है, क्योंकि उसमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होता है और उसमें पूर्व आकार का व्यय, उत्तर आकार का उत्पाद एवं स्थितिलक्षणपरिणामरूप अर्थक्रिया भी होती दिखाई देती है।

यह वही है, यह वही है—इसप्रकार के ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं और यह वह नहीं है, यह वह नहीं है—इसप्रकार के ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं। जगत् की कोई भी दो वस्तुएँ देखिए, आपको वे दोनों एक साथ ऐसी भी दिखाई देंगी कि ये समान हैं और ऐसी भी दिखाई देंगी कि ये असमान हैं। इसी का नाम अनुवृत्त-व्यावृत्त प्रत्यय है। न केवल दो वस्तुएँ, अपितु एक वस्तु की भी कोई भी दो पर्यायें देखी जाएँ तो भी हमें ज्ञात होता है कि ये दोनों एक अपेक्षा से समान भी हैं और अन्य अपेक्षा से असमान भी हैं। यही अनुवृत्त-व्यावृत्त प्रत्यय है और यही सिद्ध करता है कि प्रत्येक वस्तु सदा सामान्यविशेषात्मक है।

सामान्य दो प्रकार का होता है—अनेक वस्तुओं में पाया जानेवाला सामान्य और एक ही वस्तु में पाया जानेवाला सामान्य। अनेक वस्तुओं में पाए जानेवाले सामान्य को तिर्यक् सामान्य कहते हैं और एक ही वस्तु में पाए जानेवाले सामान्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसा कि ‘परीक्षामुख’ में कहा है—

‘सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्। सदृशपरिणामस्तिर्यक्खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्। परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।’⁸

अर्थ— सामान्य दो प्रकार का होता है—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। अनेक वस्तुओं में होनेवाली सदृशता को तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे कि खण्डी, मुण्डी आदि अनेक प्रकार की गायों में पाया जानेवाला गोत्व। तथा एक ही वस्तु की भूत-भविष्यवर्ती पर्यायों में रहनेवाली सदृशता को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे कि स्थास, कोश, कुसूल आदि सभी पर्यायों में पाया जानेवाला मिट्टीपना।

सामान्य की भांति विशेष भी दो प्रकार का होता है—अनेक वस्तुओं में पाया जानेवाला विशेष और एक ही वस्तु में पाया जानेवाला विशेष। अनेक वस्तुओं में पाए जानेवाले विशेष को व्यतिरेक विशेष कहते हैं और एक ही वस्तु में पाए जानेवाले विशेष को पर्याय विशेष कहते हैं। जैसा कि ‘परीक्षामुख’ में ही आगे कहा है—

‘विशेषश्च। पर्यायव्यतिरेकभेदात्। एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः
आत्मनि हर्षविषादादिवत्। अर्थान्तरगतो विसृष्टपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।’⁹

अर्थ— विशेष भी दो प्रकार का होता है— पर्याय विशेष और व्यतिरेक विशेष। एक ही द्रव्य में होनेवाले क्रमभावी परिणामों को पर्याय विशेष कहते हैं। जैसे कि आत्मा में होनेवाले हर्ष, विषाद आदि। अनेक वस्तुओं में पाए जानेवाले विसृष्ट परिणाम को व्यतिरेक विशेष कहते हैं। जैसे कि अनेक पशुओं में पाई जानेवाली असमानता कि यह गो है, यह महिष है, इत्यादि।

कहने का तात्पर्य यह है कि जगत की प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, क्योंकि उसमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होता है और उसमें पूर्व आकार का व्यय, उत्तर आकार का उत्पाद एवं स्थितिलक्षणपरिणामरूप अर्थक्रिया भी होती दिखाई देती है।

यहाँ ‘परीक्षामुख’ के मूल सूत्रों में सामान्य और विशेष के स्वरूप एवं भेदों को भी भलीभाँति समझाया गया है, जो ध्यान से समझने योग्य है। तथा उन्हें समझाने के लिए कतिपय उदाहरण भी दिए गये हैं। हम स्वयं भी ऐसे ही अनेकानेक उदाहरण और भी घटित करके देख सकते हैं, ताकि विषयवस्तु भलीभाँति स्पष्ट हो सके। जैसे कि मान लीजिए हमारे समक्ष विविध फल रखे हैं— सेवफल, केला, आम, अनार, संतरा, पपीता आदि। तो यहाँ हमें एक साथ दो प्रकार का ज्ञान हो रहा है— उनमें परस्पर समानता का भी और उनमें परस्पर असमानता का भी। समानता का ज्ञान इस प्रकार हो रहा है कि यह भी फल है, यह भी फल है, यह भी फल है और असमानता का ज्ञान इस प्रकार हो रहा है कि यह सेवफल है, यह केला है, यह आम है, यह अनार है, आदि। समानता और असमानता के इसी ज्ञान को ‘परीक्षामुख’ में क्रमशः अनुवृत्त-प्रत्यय एवं व्यावृत्त-प्रत्यय कहा गया है। यह अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय हमें सदा सभी वस्तुओं में होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु सदा सामान्यविशेषात्मक है।

अब आगे चलकर मान लीजिए कि हमारे समक्ष केवल आम ही आम हैं, अन्य कोई फल नहीं है, किन्तु तब भी हमें उनमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होता है। एक अपेक्षा से लगता है कि वे सभी समान हैं— यह भी आम है, यह भी आम है, यह भी आम है आदि, किन्तु अन्य अपेक्षा से ऐसा भी लगता है कि ये सब अलग-अलग हैं— यह दशहरी है, यह सफेदा है, यह चौसा है, यह लँगड़ा है आदि। इस प्रकार इनमें भी हमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय हो रहा है।

अब मान लीजिए कि हमारे समक्ष केवल दशहरी आम ही हैं, अन्य कोई आम नहीं है, किन्तु तब भी हमें उनमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होता है। एक अपेक्षा से लगता है कि वे सभी समान हैं— यह भी दशहरी आम है, यह भी दशहरी

आम है, यह भी दशहरी आम है आदि, किन्तु अन्य अपेक्षा से ऐसा भी लगता है कि ये सब अलग-अलग हैं— यह छोटा है, यह बड़ा है, यह हरा है, यह पीला है आदि। इस प्रकार हमें यहाँ भी एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय हो रहा है।

अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय को यहाँ हमने अनेक वस्तुओं में घटित करके देखा, किन्तु यह एक वस्तु में भी घटित होता है। अनेक वस्तुओं में घटित होनेवाले अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय को क्रमशः तिर्यक् सामान्य और व्यतिरेक विशेष कहते हैं। किन्तु यही अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय जब एक वस्तु में घटित किया जाएगा तो उसे क्रमशः ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय विशेष कहेंगे।

एक वस्तु में घटित होनेवाले अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए भी ‘परीक्षामुख’ में अच्छे उदाहरण दिए हैं। उसके अनुसार, मान लीजिए घट की अनेक अवस्थाएँ हैं— स्थास, कोश, कुसूल आदि। तो यहाँ भी हमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय हो रहा है। एक अपेक्षा से लग रहा है कि यह भी मिट्टी है, यह भी मिट्टी है, यह भी मिट्टी है, आदि, किन्तु अन्य अपेक्षा से ऐसा भी लग रहा है कि यह अलग है, यह अलग है, यह अलग है, आदि। इस प्रकार एक ही घट की अनेक अवस्थाओं में भी हमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय हो रहा है।

इसी बात को हम आत्मा पर भी घटित करके देख सकते हैं। एक आत्मा में हर्ष, विषाद आदि रूप अनेक अवस्थाएँ हुई। तो यहाँ भी हमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय हो रहा है। एक अपेक्षा से लग रहा है कि यह भी वही आत्मा है, यह भी वही आत्मा है, आदि, किन्तु अन्य अपेक्षा से ऐसा भी लग रहा है कि यह प्रसन्न है, यह खिन्न है, आदि। इस प्रकार एक ही आत्मा की अनेक अवस्थाओं में भी हमें एक साथ अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि जगत की कोई भी दो वस्तुएँ ले लीजिए, चाहे वे परस्पर कितनी भी समान हों या कितनी भी असमान हों, उनमें आपको अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होगा ही होगा, नियम से होगा। अथवा एक ही वस्तु की कोई भी दो अवस्थाएँ ले लीजिए, चाहे वे परस्पर कितनी भी समान हों या कितनी भी असमान हों, उनमें भी आपको अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होगा ही होगा, नियम से होगा।

अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु सदा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अर्थक्रिया भी करती रहती है। उसमें निरन्तर नवीन पर्याय का उत्पाद, पूर्व पर्याय का व्यय और स्वभाव की स्थिरतारूप ध्रौव्य भी बना रहता है। जैसे कि स्वर्णघट का व्यय हुआ, स्वर्णमुकुट का उत्पाद हुआ और स्वर्णभाव दोनों में स्थिर रहा। इससे भी उसकी सामान्यविशेषात्मकता सिद्ध होती है। आचार्य उमास्वामी ने प्रत्येक वस्तु को ‘सत्’ होने के लिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होना अनिवार्य बताया है। यथा—

‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।’

इस बात को भी हमें अनेक दृष्टान्तों से अभ्यास करके भलीभाँति समझना चाहिए। जैसे कि बाल-अवस्था का व्यय हुआ, युवा-अवस्था का उत्पाद हुआ और मनुष्य-अवस्था स्थिर रही। अथवा— दूध-अवस्था का व्यय हुआ, दधि-अवस्था का उत्पाद हुआ और गोरस-अवस्था स्थिर रही। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-धौव्यपना पाया जाता है। इससे भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु सदा सामान्यविशेषात्मक है।

शंका— आपने कहा कि जगत की कोई भी दो वस्तुएँ ले लीजिए, चाहे वे परस्पर कितनी भी समान हों या कितनी भी असमान, उनमें आपको अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होगा ही होगा। तो क्या मनुष्य और चींटी में भी कुछ समानता है? आग और पानी में भी कुछ समानता है? तथा क्या एक सांचे की या एक डिब्बे की दो पेंसिलों में भी कुछ असमानता है?

समाधान— अच्छा प्रश्न किया, इसी प्रकार से अनेक वस्तुओं पर घटित कर-करके थोड़ा अभ्यास करने पर ही यह विषय भलीभाँति समझ में आएगा। मनुष्य और चींटी दोनों ही संसारी जीव हैं, शुद्ध जीव नहीं हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि रूप अचेतन द्रव्य भी नहीं हैं, अतः इस अपेक्षा से दोनों समान हैं। इसीप्रकार आग और पानी दोनों एकेन्द्रिय जीव हैं, द्वीन्द्रियादि जीव नहीं हैं, शुद्ध जीव भी नहीं हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि अचेतन द्रव्य भी नहीं हैं, अतः इस अपेक्षा से दोनों समान हैं। तथा एक सांचे की या एक डिब्बे की दो पेंसिलों में भी कुछ-न-कुछ असमानता अवश्य होती ही है, भले ही उसे हमारा स्थूल उपयोग ग्रहण न कर सके। अथवा— इस बात को हमें इसप्रकार समझना चाहिए कि एक सांचे की दो पेंसिलों में भी हमें ‘यह भी वही है, यह भी वही है’ —ऐसा अनुवृत्त-प्रत्यय भी होता है और ‘यह अलग है, यह अलग है’ —ऐसा व्यावृत्त-प्रत्यय भी होता है। इससे सिद्ध होता है कि सर्वत्र समानता और असमानता दोनों हैं ही।

शंका— आपने कहा कि एक ही वस्तु की कोई भी दो अवस्थाएँ ले लो, चाहे वे परस्पर कितनी भी समान हों या कितनी भी असमान हों, उनमें भी आपको अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय होगा ही होगा। तो क्या मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन में भी कुछ समानता है? तथा केवलज्ञान की दो पर्यायों में भी कुछ असमानता है?

समाधान— मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन दोनों ही श्रद्धा गुण की पर्याय हैं, ज्ञान-चारित्र आदि की नहीं हैं, अतः दोनों समान हैं। इसीप्रकार केवलज्ञान की दो पर्यायों में भी कुछ-न-कुछ असमानता अवश्य ही है, भले ही उसे हमारा स्थूल उपयोग ग्रहण न कर सके। अथवा— इस बात को भी हमें इसप्रकार समझना चाहिए कि उन दोनों पर्यायों में भी हमें ‘यह भी वही है, यह भी वही है’ —ऐसा अनुवृत्त-प्रत्यय भी होता है और ‘यह अलग है, यह अलग है’ —ऐसा व्यावृत्त-प्रत्यय भी होता है।

इससे सिद्ध होता है कि सर्वत्र समानता और असमानता दोनों हैं ही।

इस प्रकार यह भलीभांति सिद्ध होता है कि जगत की सभी वस्तुएँ सदा सामान्यविशेषात्मक हैं और ऐसी सामान्यविशेषात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

प्रमेय के भेद

जैनाचार्यों ने प्रमेय के स्वरूप-निरूपण के अतिरिक्त उसके भेद-प्रभेदों पर भी विशद प्रकाश डाला है। उनके अनुसार प्रमेय के भेद अनेक दृष्टि से किये जा सकते हैं। यथा—

1. प्रमेय एक प्रकार का है— प्रमाण के विषयरूप। अथवा— सत् रूप।
2. प्रमेय दो प्रकार का भी है— जीव और अजीव। अथवा— स्व और पर। अथवा— हेय और उपादेय।
3. प्रमेय तीन प्रकार का भी है— शब्द प्रमेय, अर्थ प्रमेय और ज्ञान प्रमेय। अथवा— द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद से भी प्रमेय तीन प्रकार का है। अथवा— हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद से भी प्रमेय तीन प्रकार का है।
4. प्रमेय चार प्रकार का भी है— नाम प्रमेय, स्थापना प्रमेय, द्रव्य प्रमेय, भाव प्रमेय।
5. प्रमेय छह प्रकार का भी है— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

इसप्रकार और भी अनेक भेद-प्रभेद प्रमेय के किये जा सकते हैं। जैनाचार्यों के अनुसार प्रमेय के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद भी किये जा सकते हैं, किन्तु मुख्य बात यही ध्यान देने योग्य है कि वह सामान्यविशेषात्मक ही होगा, केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप नहीं हो सकता। जैनाचार्यों ने प्रमेय के उपर्युक्त सभी भेद-प्रभेदों का भी विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु अभी उसे विस्तारभय से नहीं लिखते हैं।

उपसंहार

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन न्याय में प्रमाण की भांति प्रमेय की भी विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है, प्रमेय है। मात्र सामान्य या मात्र विशेषरूप पदार्थ प्रमाण का विषय नहीं है, विषयाभास है; प्रमेय नहीं है, प्रमेयाभास है। विश्व के सभी पदार्थ सामान्यविशेषात्मक ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनमें अनुवृत्त-व्यावृत्त प्रत्यय होता है और प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अर्थक्रिया भी होती है। विश्व का कोई भी पदार्थ मात्र सामान्य या मात्र विशेषरूप सिद्ध नहीं होता है। मात्र सामान्य या मात्र विशेषरूप पदार्थ की सत्ता मानना खरविषाण या आकाशकुसुम की सत्ता मानना है। अतः कोई भी प्रमाण मात्र सामान्य या मात्र विशेषरूप पदार्थ

को विषय नहीं बनाता। यदि बनाए तो समझना चाहिए कि वह प्रमाण नहीं, प्रमाणाभास है। जैन ग्रन्थों में प्रमेय के भेद-प्रभेदों और उन सबके स्वरूप का भी विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है।

सन्दर्भ-

1. सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, 1/23
2. द्रव्यानुयोगतर्कणा, 11/23
3. न्यायसूत्रवृत्ति, 1/11
4. स्याद्वादमंजरी, 10
5. परीक्षामुख, 4/1
6. न्यायदीपिका, 3/78
7. परीक्षामुख, 4/2
8. परीक्षामुख, 4/3,4,5
9. परीक्षामुख, 4/6,7,8,9
10. तत्त्वार्थसूत्र, 5/30



स्यात् पद का कार्य

जैसे हम कहें कि स्यात् (कथंचित् या किसी अपेक्षा से) वस्तु नित्य है, तो इस समय इस वाक्य में स्थित 'स्यात्' शब्द अन्य वस्तु धर्मों के अस्तित्व की रक्षा करता है— उनके अस्तित्व की सूचना देता है, यह अभिप्राय है। यह स्यात् शब्द विवक्षित धर्मवाची शब्द को समस्त वस्तु पर अधिकार करने से रोकता है और कहता है कि भाई, इस समय नित्य शब्द द्वारा उच्चारित होने से तुम मुख्य हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर तुम्हारा (=नित्य का) ही अधिकार हो। तुम्हारे अनन्त भाई (=अनन्त धर्म) इसी वस्तु के उसी तरह समान अधिकारी हैं, जिस तरह कि तुम।

ऐसा कोई शब्द नहीं है जो वस्तु के पूर्णरूप को स्पर्श कर सके। प्रत्येक शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। इस तरह जब शब्द में स्वभावतः विवक्षानुसार एक नियत धर्म के प्रतिपादन करने की शक्ति है तब यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक प्रतीक अवश्य हो, जो वक्ता तथा श्रोता को भूलने न दे। 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता है। आगम में इसी तथ्य को इन शब्दों में कहा है कि जो नियम का निषेध करने वाला है, निपात से जिसकी सिद्धि है, जो सापेक्षता की सिद्धि करता है वह 'स्यात्' शब्द कहा गया है। नियम का निषेधक, इससे यह तात्पर्य है कि स्यात् शब्द 'सर्वथा' इस नियम को छोड़कर सर्वत्र अर्थ की प्ररूपणा करता है। यह अनेकान्त का द्योतक है। वस्तु सर्वथा रूप से सत् ही है, सर्वथा असत् ही है, इत्यादि रूप से प्रतिपादन (कथन करना) के नियम का त्यागी स्यात् शब्द है, यह तात्पर्य है। वस्तु जैसी प्रमाण से ज्ञात या प्राप्त है उसको यह स्यात् शब्द अपेक्षा में रखने वाला है।

—स्याद्वाद, पं. जवाहरलाल शास्त्री, पृष्ठ 19

निक्षेप-विमर्श

जैन न्याय के दो अंग प्रसिद्ध हैं— प्रमाण और नय, जैसा कि स्पष्ट कहा गया है— ‘प्रमाणनयात्मको न्यायः’, अतः निक्षेप की चर्चा अन्यत्र तो क्या, जैन-न्याय-ग्रन्थों में भी प्रायः नहीं हुई है। परीक्षामुख, न्यायदीपिका आदि किसी भी प्राथमिक ग्रन्थ में निक्षेप की चर्चा देखने को नहीं मिलती।

यदि कदाचित् किसी प्रश्नकर्ता ने पूछा भी कि निक्षेप की चर्चा क्यों नहीं की जा रही है तो उसे उत्तर दिया गया है कि निक्षेप नयों में गर्भित हो जाते हैं, अतः उनकी पृथक् चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

यह बात एक अपेक्षा से सत्य भी है, किन्तु विस्तारबुद्धि जीवों को स्पष्ट बोध कराने के लिए निक्षेप की पृथक् से चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है।

अथवा— वास्तव में देखा जाए तो निक्षेप नय नहीं हैं और नयों में गर्भित भी नहीं होते हैं, वे नय से पृथक् ही वस्तु हैं, अतः उन्हें पृथक् से ही भलीभांति समझना आवश्यक है।

यही कारण है कि यतिवृषभ, वीरसेन, अकलंक आदि अनेक आचार्यों ने निक्षेप की चर्चा पृथक् से प्रस्तुत की है। आचार्य अकलंक ने तो विशेष रूप से ही एक न्याय-ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम है— लघीयस्त्रय। इसमें उन्होंने तीन लघु प्रकरणों की रचना की है— 1. प्रमाण-प्रवेश, 2. नय-प्रवेश, 3. निक्षेप-प्रवेश। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं और समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। तथा इस आधार पर हम कह सकते हैं कि वास्तव में देखा जाए तो जैन-न्याय के तीन अंग होते हैं— प्रमाण, नय और निक्षेप।

इस प्रकार जैन न्याय के तीन अंग होने पर भी निक्षेप की चर्चा प्रायः उपेक्षित रहती है, अतः आज हम इसी विषय को संक्षेप में समझने का प्रयास करते हैं। निक्षेप की यह चर्चा सभी को सरलतापूर्वक समझ में आ सके, अतः प्रश्नोत्तर-शैली का आश्रय लिया जाता है।

प्रश्न—1. निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर— ‘निक्षेप’ शब्द ‘नि’ उपसर्ग पूर्वक ‘क्षिप्’ धातु से बना है। इसका अर्थ है— निश्चित अर्थ में क्षेपण करना, फेंकना, आरोपित करना, न्यास करना,

व्यवहार करना आदि। तात्पर्य यह हुआ कि जो शब्दों को विभिन्न अर्थों में क्षेपित करते हुए उसके एक निश्चित अर्थ का अवधारण कराता है, उसे निक्षेप कहते हैं। ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ में आचार्य अकलंकदेव ने निक्षेप की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है— “न्यसनं न्यस्यते इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थः।” आचार्य देवसेन ने भी निक्षेप के सम्बन्ध में ऐसा ही कहा है कि— “वस्तु नामादिषु क्षिपति निक्षेपः।”

प्रश्न-2. निक्षेप को न्यास क्यों कहते हैं?

उत्तर— निक्षेप, न्यास, आरोप, व्यवहार, उपाय आदि सब एकार्थक हैं। निक्षेप या न्यास शब्द का सरल अर्थ होता है— रखना, जैसे कि हम सब बोलते हैं— शिलान्यास, अंकन्यास, आदाननिक्षेपण आदि।

प्रश्न-3. निक्षेप की आवश्यकता, उद्देश्य या प्रयोजन क्या है?

उत्तर— अप्रकृत अर्थ का निवारण करके प्रकृत अर्थ का ग्रहण कराने के लिए निक्षेप का कथन किया गया है। यदि निक्षेप नहीं कहे जाएँगे तो अप्रकृत अर्थ का निवारण और प्रकृत अर्थ का ग्रहण नहीं होगा तथा संशय का निवारण भी नहीं होगा। ‘धवला’ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने बहुत अच्छा कहा है—

“अवगयणिवारद्वं पयदस्स परुवणाणिमित्तं च।

संशयविणासणद्वं तच्चत्थवधारणद्वं च॥” —धवला 1/1/15

अर्थ— अप्रकृत का निराकरण करने के लिए, प्रकृत की प्ररूपणा करने के लिए, संशय का विनाश करने के लिए और तत्त्वार्थ के अवधारण के लिए निक्षेप का कथन किया गया है।

आचार्य पूज्यपादस्वामी कहते हैं—

निक्षेपविधिना शब्दार्थः प्रतीयते। —सर्वार्थसिद्धि 1/5

अर्थप्रकाशिका, परिच्छेद 4, पृष्ठ 55 पर भी लिखते हैं कि— “तत्त्वों की स्थापना में व्यवहार का व्यभिचार दूर करने के लिए स्थापनादि चार निक्षेप कहे।”

निक्षेप का वर्णन ‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ में 62 पृष्ठों में विस्तारपूर्वक आया है। वहाँ उत्थानिका में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात लिखी है। यथा— कुछ लोग केवल नामरूप वस्तु मानते हैं, कुछ लोग केवल स्थापनारूप वस्तु मानते हैं, कुछ लोग केवल द्रव्यरूप वस्तु मानते हैं, कुछ लोग केवल भावरूप वस्तु मानते हैं, अतः उनका निराकरण करके लोक-समय-व्यवहार की समीचीन प्रसिद्धि हेतु निक्षेप को कहते हैं।

निक्षेप का सन्देश है कि एक भाव ही असली होता है, शेष सब नकली और व्यर्थ हैं —ऐसा आग्रह मत करो। सर्वत्र विवक्षा समझो और आगे बढ़ो, विवाद में मत उलझो।

प्रश्न-4. यदि निक्षेप को नहीं माना जाए तो क्या हानि है?

उत्तर— यदि निक्षेप को नहीं माना जाए तो क्या हानि है —इसे समझने के लिए हमें निम्नलिखित कथनों पर गम्भीरता से चिन्तन करना होगा—

1. निक्षेपविस्पष्टः सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्थानं कुर्यादिति वा । —धवला
अर्थ— निक्षेप-रहित वर्णन वक्ता और श्रोता दोनों को कुमार्ग पर ले जा सकता है ।
2. जो ण प्रमाणएहिं णिक्खेवेण णिरक्खदे अट्ठं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि॥ —तिलोयपण्णत्ति, 82
3. जो निक्षेपपूर्वक तत्त्व को भाते हैं, वे ही तथ्य तत्त्व को प्राप्त करते हैं, भटकते नहीं हैं । —आचार्य देवसेन, नयचक्र, 281

दरअसल निक्षेप को न मानने से बहुत बड़ी अव्यवस्था होगी, सारा लोकव्यवहार बाधित या मिथ्या सिद्ध होगा। मन्दिर में पूजा तक में कही गई बहुत सारी बातें झूठी सिद्ध होंगी— ये भगवान हैं, ये इन्द्र हैं, ये पुष्प हैं, इत्यादि ।

तथा किसी भी विषय या ग्रन्थ को समझने के लिए सर्वप्रथम उसकी भाषा-शैली समझना अनिवार्य होता है, अन्यथा समीचीन अर्थबोध नहीं हो सकता। निक्षेप की यही सबसे बड़ी उपयोगिता है ।

प्रश्न-5. निक्षेप का प्रथम वर्णन कहाँ आया है?

उत्तर— नयों की भांति निक्षेप का भी प्रथम वर्णन मुख्यतः ‘तत्त्वार्थसूत्र’ से ही प्रारम्भ होता है। प्रमाण-नय-निक्षेपात्मक न्याय की चर्चा के मूल उद्गमस्रोत वास्तव में ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के निम्नलिखित दो सूत्र ही हैं—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। —तत्त्वार्थसूत्र, 1/5

प्रमाणनयैरधिगमः। —तत्त्वार्थसूत्र, 1/6

किन्तु जिसप्रकार प्रमाण-नय की चर्चा अत्यन्त प्राचीन भी सिद्ध होती है, उसके उल्लेख अन्य ग्रन्थों या वेदों तक में पाए जाते हैं, उसीप्रकार निक्षेप की चर्चा भी अत्यन्त प्राचीन भी सिद्ध होती है ।

प्रश्न-6. तत्त्वार्थसूत्र में तो निक्षेप की चर्चा पहले आई है और प्रमाण-नय की उसके बाद, किन्तु हम लोग आज ‘प्रमाण-नय-निक्षेप’ —इसप्रकार से प्रमाण-नय को पहले और निक्षेप को बाद में क्यों बोलते हैं?

उत्तर— बहुत अच्छा प्रश्न है। प्रमाण-नय की चर्चा न्यायविद्या में प्रधानता से सर्वत्र चलती है, अतः उसे पहले बोला जाता है अथवा उसके अन्य भी कुछ कारण हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में जो निक्षेप की चर्चा पहले आई है, उसका कारण

यह प्रतीत होता है कि निक्षेपपूर्वक ही प्रमाण-नय का जन्म होता है। पहले निक्षेप के द्वारा अप्रकृत वस्तु का निराकरण करके प्रकृत वस्तु का ग्रहण किया जाता है और उसके बाद ही उस प्रकृत वस्तु पर प्रमाण-नय घटित किये जाते हैं।

प्रश्न-7. प्रमाण, नय और निक्षेप में क्या अन्तर है?

उत्तर- प्रमाण, नय और निक्षेप में अन्तर बताते हुए तिलोयपण्णत्ति, प्रथम अधिकार, गाथा 83 में इस प्रकार कहा है कि—

णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स ह्रिदयभावत्थो ।

णिवखेवो वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥—तिलोयपण्णत्ति, 1/83

अर्थ- ज्ञान प्रमाण है, ज्ञानी के हृदय का भाव नय है और उसे समझने का उपाय निक्षेप है। इन तीनों को ही युक्ति (न्याय/परीक्षा) कहते हैं, इसी से अर्थ का प्रतिग्रहण होता है।

प्रश्न-8. नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव —ये चार नय भी हैं और निक्षेप भी; इनमें क्या अंतर है?

उत्तर- नय तो विषय करनेवाला ज्ञान है, किंतु निक्षेप उस ज्ञान का विषय है।

प्रश्न-9. नय और निक्षेप में क्या अन्तर हुआ, फिर से स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- दरअसल, निक्षेप विषय है और नय विषयी अर्थात् विषय करनेवाला है।

प्रश्न-10. समझ में नहीं आया, निक्षेप वस्तु है या ज्ञान?

उत्तर- ज्ञानात्मक वस्तु है। अतः इसे वस्तु में भी गिनते हैं और ज्ञान में भी।

दरअसल वस्तु तीन प्रकार की कही गई हैं— शब्दात्मक, अर्थात्मक और ज्ञानात्मक। निक्षेप शब्दात्मक और ज्ञानात्मक वस्तुओं का नाम है।

विचारणीय है कि स्थापना क्या है— मूर्ति या अपना ज्ञान? इससे सिद्ध होता है कि निक्षेप ज्ञानात्मक वस्तु है। (पदिट्ठा बुद्धिवाचको); ठवणासदो बुद्धिवाचओ (स्थापना शब्द बुद्धिवाचक है) —धवला, खंड 5, पृष्ठ 6

कुछ लोग कहते हैं कि निक्षेप वस्तु नहीं है, किन्तु फिर उसे अवस्तु मानने का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि जो वस्तु नहीं है वही तो अवस्तु है।

प्रश्न-11. क्या निक्षेप ज्ञानात्मक वस्तु ही है या शब्दात्मक वस्तु भी है?

उत्तर- जिसप्रकार नय, आगम आदि दो प्रकार के माने गये हैं— ज्ञानात्मक भी और शब्दात्मक भी, उसीप्रकार निक्षेप भी दो प्रकार के माने गये हैं— ज्ञानात्मक

भी और शब्दात्मक भी।

प्रश्न—12. शब्दात्मक निक्षेप कैसा होता है?

उत्तर— वह अक्षरात्मक, चित्रात्मक या शब्दात्मक होता है। जैसे— ‘हिमालय’ ऐसा शब्द या नक्शे का हिमालय।

प्रश्न—13. निक्षेप के कितने भेद होते हैं?

उत्तर— निक्षेप के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं। सामान्य से निक्षेप एक ही प्रकार का होता है। द्रव्य और पर्याय के भेद से निक्षेप दो प्रकार का होता है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के भेद से निक्षेप चार प्रकार का होता है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से निक्षेप छह प्रकार का होता है। निक्षेप के अन्य भी संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त भेद हो सकते हैं, जिन्हें सामान्य अपेक्षा से नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव —इन्हीं चार में गर्भित कह सकते हैं और भेदविवक्षा से स्पष्ट बोधार्थ पृथक् भी कह सकते हैं। —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, भाग 2, पृष्ठ 146

प्रश्न—14. निक्षेप के वे अन्य भेद कौन से हो सकते हैं, कुछ बताइए?

उत्तर— भगवती आराधना, गोमटसार, मूलाचार, तत्त्वार्थवार्तिक आदि अनेक ग्रन्थों में सत्य के दस भेद कहे हैं— जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीति, संभावना, व्यवहार, भाव, उपमा। ये सब मुझे एक प्रकार से निक्षेप ही प्रतीत होते हैं, यदि कुछ भूल हो तो विद्वज्जन सुधार करें। इनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

जो शब्द जिस देश में जिस अर्थ में प्रचलित है, उसे उसी अर्थ में समझना जनपद सत्य है। जैसे— ‘मीठा’ शब्द का अर्थ राजस्थान में मीठा होता है और गुजरात में नमक। जिस शब्द का जो अर्थ बहुत लोगों द्वारा सम्मत, स्वीकृत हो उसे सम्मति सत्य कहते हैं। जैसे— राजा की पटरानी या किसी स्त्री विशेष को ‘देवी’ कहना। एक वस्तु में अन्य वस्तु की स्थापना करके कहना स्थापना सत्य है। जैसे— मूर्ति को ‘भगवान’ कहना। मात्र व्यवहार के लिए किसी भी वस्तु की कोई संज्ञा रखना नाम सत्य है। जैसे— यह ‘जिनदत्त’ है। वस्तु को उसके अन्य गुणों को गौण करके मात्र रूप की मुख्यता से कहना रूप सत्य है। जैसे— यह गोरा है, यह सफेदा है, यह हरियाली है, आदि। अन्य वस्तु की अपेक्षा से छोटा, बड़ा आदि कहना प्रतीति सत्य है। जैसे— यह भारी है या यह हल्का है। इस सत्य का दूसरा नाम आपेक्षिक सत्य भी है। लोकव्यवहार की मुख्यता से कथन करना व्यवहार सत्य है। जैसे— आटा पीस रहा हूँ अथवा यह घट मेरा है। संभावना की मुख्यता से कथन करना सम्भावना सत्य है। जैसे— इन्द्र जंबूद्वीप को पलट सकता है। भावों की मुख्यता से कथन करना भाव सत्य है। जैसे— यह वस्तु अब प्रासुक (शुद्ध) हो गई है। किसी अन्य पदार्थ की समानता की मुख्यता से कथन करना उपमा सत्य है। जैसे— यह तो चन्द्रमा है। —(गोमटसार जीवकांड, गाथा 222)

प्रश्न-15. निक्षेप के असंख्य-अनन्त भेद हो सकते हैं, फिर भी चार ही क्यों कहे जाते हैं?

उत्तर- असंख्य-अनन्त भेदों को कहा नहीं जा सकता। तथा वे सभी सामान्य अपेक्षा से नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव —इन चार में गर्भित हो जाते हैं। अतः चार ही मुख्य रूप से कहे जाते हैं। यही आचार्य विद्यानंद स्वामी ने भी कहा है। यथा—

नन्वनंतः पदार्थानां निक्षेपो वाच्य इत्यसन् ।

नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात्संक्षेपरूपतः॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 2/1/5/71

प्रश्न-16. नाम निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर- तत्त्वार्थसूत्र की टीका ‘सर्वार्थसिद्धि’ में नाम निक्षेप का लक्षण इस प्रकार आया है—

अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियोज्यमानं संज्ञाकर्म नाम ।

—सर्वार्थसिद्धि, 1/5

अर्थात् गुण की अपेक्षा रखे बिना, संव्यवहार के लिए, अपनी इच्छा से वस्तु की संज्ञा रखना नाम निक्षेप है।

नाम निक्षेप में गुणों की अपेक्षा नहीं होती है, वह स्वेच्छाधारित ही होता है, परन्तु उसमें भी भावना तो अच्छी हो सकती है नाम रखने वाले की। जैसे कि ज्ञानचंद ज्ञानी हो —यह आवश्यक नहीं है, पर नाम रखनेवाले माता-पिता की भावना तो उसे ज्ञानी बनाने की होती है।

प्रश्न-17. क्या नाम निक्षेप में वैसे गुण नहीं हो सकते?

उत्तर- हो भी सकते हैं, पर उन गुणों के कारण नाम नहीं रखा जाता है। यदि गुणों के कारण ही वैसे नाम कहें तो वह भाव निक्षेप कहलाएगा। जैसे— तीर्थंकर, नर्तक, पुजारी, धनीराम। यद्यपि यदि उसका संव्यवहार नाम की तरह लोक में चलता हो तो वह नाम निक्षेप ही है।

प्रश्न-18. स्थापना निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर- तत्त्वार्थसूत्र की टीका ‘सर्वार्थसिद्धि’ में स्थापना निक्षेप का लक्षण इस प्रकार आया है—

काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना ।

—सर्वार्थसिद्धि, 1/5

अर्थात् काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेपादि में ‘यह वह है’ —ऐसा स्थापित करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। जैसे कि किसी मूर्ति, चित्र या गोटी आदि को ‘यह महावीर है’ —ऐसा कहना स्थापना निक्षेप है। स्थापना को धारणा,

प्रतिष्ठा आदि भी कहते हैं।

प्रश्न-19. स्थापना निक्षेप के कितने भेद हैं?

उत्तर- स्थापना निक्षेप के दो भेद हैं— तदाकार स्थापना और अतदाकार स्थापना। इन्हें क्रमशः साकार स्थापना और अनाकार स्थापना अथवा सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना भी कहते हैं। उसी आकार में की गई स्थापना को तदाकार स्थापना कहते हैं और उस आकार के बिना ही की गई स्थापना को अतदाकार स्थापना कहते हैं। जैसे कि राजा के आकार वाली मूर्ति या चित्र में की गई स्थापना तदाकार स्थापना है और उस आकार के बिना ही शतरंज की गोटी आदि में की गई राजा की स्थापना अतदाकार स्थापना है।

अतदाकार स्थापना में परोपदेश की आवश्यकता होती है, जैसा कि आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने ‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ (1/5/54) में कहा है—

मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात्।

प्रश्न-20. क्या सजीव वस्तु में भी राजा, मुनिराज या देवादि की स्थापना हो सकती है?

उत्तर- नहीं, क्योंकि इससे संव्यवहार खराब होता है। कल्पना कीजिए— क्या किसी मुनि या गृहस्थ को स्थापना-कुन्दकुन्द बनाकर पूज सकते हैं? नहीं। क्या किसी जीवित व्यक्ति को स्थापना-नेता बनाकर जला सकते हैं? नहीं।

प्रश्न-21. तो फिर पंचकल्याणक आदि के अवसर पर मनुष्यों में इन्द्र आदि की स्थापना कैसे करते हैं? क्या वह स्थापना निक्षेप नहीं है?

उत्तर- नहीं, वह केवल नाम निक्षेप है। अथवा— वह केवल नाटक, अनुकृति या अनुकरण मात्र है। यही कारण है कि उसमें सबको बनाते हैं, पर ऋषभदेव को नहीं बनाते। यदि जीवित व्यक्ति में स्थापना हो सकती होती तो ऋषभदेव भी बनाते।

प्रश्न-22. लोग तो उसे स्थापना ही समझते हैं, तभी तो नाटक के राम, इन्द्र आदि की पूजा करने लगते हैं?

उत्तर- नहीं करना चाहिए, वह अज्ञानता है अथवा बचपना है।

प्रश्न-23. क्या कलेण्डर का चित्र स्थापना-महावीर है?

उत्तर- देखिए, स्थापना के विषय में जैन आचार्यों ने एक विशेष संविधान भी बनाया है, जिसे प्रतिष्ठाशास्त्र भी कहते हैं। स्थापना निक्षेप सम्बन्धी ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर के लिए उसका भी पर्याप्त ज्ञान अपेक्षित है। स्थापना निक्षेप के सामान्य सिद्धान्त की अपेक्षा तो कलेण्डर का चित्र भी स्थापना-महावीर ही है, किन्तु जैन प्रतिष्ठाशास्त्र के अनुसार उसे स्थापना-महावीर नहीं कहते, क्योंकि

ऐसा मानने से संव्यवहार खराब होता है।

प्रश्न-24. क्या अप्रतिष्ठित मूर्ति स्थापना-महावीर है?

उत्तर- फिर वही बात आ गई। स्थापना निक्षेप के सामान्य सिद्धान्त की अपेक्षा तो अप्रतिष्ठित मूर्ति भी स्थापना-महावीर है, किन्तु जैन प्रतिष्ठाशास्त्र के अनुसार उसे स्थापना-महावीर नहीं कहते, क्योंकि ऐसा मानने से संव्यवहार खराब होता है।

प्रश्न-25. क्या मोबाईल फोन, श्यामपट्ट, स्लेट या कागज पर बनी हुई फोटो या लिप्यात्मक महावीर को स्थापना-महावीर कह सकते हैं?

उत्तर- यह भी वैसी ही बात है। स्थापना निक्षेप के सामान्य सिद्धान्त की अपेक्षा तो मोबाईल फोन, श्यामपट्ट, स्लेट या कागज पर बनी हुई फोटो या लिप्यात्मक महावीर को स्थापना-महावीर कह सकते हैं, किन्तु जैन प्रतिष्ठाशास्त्र के स्वीकृत संविधान के अनुसार उन्हें स्थापना-महावीर नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा मानने से संव्यवहार खराब होता है।

प्रश्न-26. क्या स्थापनारूप पुष्प, फल आदि के समर्पण का भी वही फल मिलता है, जो वास्तविक पुष्प, फल आदि के समर्पण का मिलता है?

उत्तर- जिनशासन स्याद्वादरूप है। एक अपेक्षा से देखा जाए तो स्थापनारूप पुष्प, फल आदि के समर्पण का भी वही फल मिलता है, जो वास्तविक पुष्प, फल आदि के समर्पण का मिलता है। जैसे कि आटे के मुर्गे की बलि देने का भी वही फल मिला, जो वास्तविक मुर्गे की बलि देने का मिलता।

किन्तु यदि सर्वथा वही फल मिलता हो तो हिंसाभीरु श्रावक चावल आदि में उनकी स्थापना क्यों करें? वास्तविक ही क्यों न चढाए? इससे ज्ञात होता है कि सर्वथा वही फल नहीं मिलता है।

इस प्रश्न के उत्तर के लिए भी वस्तुतः जैन प्रतिष्ठाशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। उसमें जैन आचार्यों ने स्थापना निक्षेप की ऐसी बातों पर बहुत विस्तार से चर्चा की है।

प्रश्न-27. क्या चावल या लोंग में भगवान की स्थापना हो सकती है, जैसा कि कुछ लोग ठोने में करते हैं?

उत्तर- इस प्रश्न के उत्तर के लिए भी जैन प्रतिष्ठाशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है, जिसमें जैन आचार्यों ने स्थापना निक्षेप के विविध नियम-उपनियम निर्धारित किये हैं। स्थापना निक्षेप के सामान्य सिद्धान्त की अपेक्षा से तो चावल या लोंग में भी भगवान की स्थापना हो सकती है, जिसे अतदाकार स्थापना कहेंगे। किन्तु जैन प्रतिष्ठाशास्त्र के अनुसार, जहाँ तक मैं जानता हूँ, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि

इससे संव्यवहार खराब होता है। पंडित सदासुखदासजी ने भी रत्नकरंड-श्रावकाचार-वचनिका में इसका निषेध किया है।

तथापि मैं यहाँ यह विशेष कहना चाहता हूँ कि यदि कोई ऐसा करता हो तो विवाद न करें, क्योंकि वे पूजा के अन्त में उसका विसर्जन भी कर देते हैं, अतः दोष नहीं प्रतीत होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'जयधवला' में ऐसे विषयों में एकान्ताग्रह नहीं करने का उपदेश दिया है, क्योंकि उससे दुर्नय का प्रसंग उपस्थित होता है। यथा—

ण एसो वि एयंतग्गहो कायव्वो, एयंतवहारणस्स सव्वहा दुण्णत्तपसंगादो।

—जयधवला

प्रश्न-27. क्या एक बार स्थापना करने के बाद उसका विसर्जन भी किया जा सकता है?

उत्तर— क्यों नहीं, जब स्थापना की जा सकती है तो उस स्थापना का विसर्जन भी किया जा सकता है। सब हमारी मान्यता पर ही तो आधारित है। यही कारण है कि स्थापना दो प्रकार की भी कही गई है— नित्य और अल्पकालिक।

प्रश्न-29. कागज के पुष्प को क्या कहेंगे— नामपुष्प, स्थापनापुष्प, द्रव्यपुष्प या भावपुष्प?

उत्तर— चार निक्षेपों में से उसे स्थापना निक्षेप ही कहेंगे, क्योंकि वह चित्रात्मक या शिल्पात्मक पुष्प है। नाम मात्र नहीं है, भावी योग्यता धारण करने रूप द्रव्य भी नहीं है और भाव भी नहीं है।

प्रश्न-30. किसी के हाथों को पुष्प कहना क्या है— नामपुष्प, स्थापनापुष्प, द्रव्यपुष्प या भावपुष्प?

उत्तर— इसे भी चार निक्षेपों में से स्थापना निक्षेप ही कहेंगे, क्योंकि हाथों में पुष्प की स्थापना की गई है। अथवा— इसे हम उपमानिक्षेप मानकर उपमापुष्प भी कह सकते हैं, जैसा कि ऊपर प्रश्न-15 के उत्तर में सत्य के दस भेद बताते हुए कहा था।

प्रश्न-31. किसी मिठाई आदि भोज्य वस्तु में 'यह मछली है' या 'यह तितली है' —ऐसी कल्पना करने को क्या कहेंगे?

उत्तर— यह भी स्थापना निक्षेप ही है और इसीलिए ऐसी वस्तुओं को खाने में मछली या तितली को खाने का ही दोष लगता है। स्थापना निक्षेप को समझने से हमें यह भी बड़ा लाभ होता है कि हम लोग जीवन में जाने-अनजाने में ऐसा जो घोर पाप करते रहते हैं, उससे बच जाते हैं। हमें समझ में आता है कि चित्रात्मक जीवों के साथ किया गया दुर्व्यवहार भी हिंसा ही है, पापबन्ध का कारण ही है।

प्रश्न-32. द्रव्य निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर— तत्त्वार्थसूत्र की टीका ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ में द्रव्य निक्षेप का लक्षण इस प्रकार आया है—

यदभाविपरिणामप्राप्तिं प्रति योव्यतामादधानं तद्व्यमित्युच्यते । —1/5/3

अर्थात् भावी योग्यता को धारण करनेवाले को अभी वैसा कहना द्रव्य निक्षेप है। जैसे कि राजकुमार को राजा कहना अथवा भगवान बननेवाली पाषाणशिला को ही भगवान कहना।

प्रश्न-33. द्रव्य निक्षेप के कितने भेद हैं?

उत्तर— द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं— आगम द्रव्य निक्षेप और नो-आगम द्रव्य निक्षेप। जैसे कि— जो व्यक्ति अरिहंत-विषयक शास्त्र को जानता है, परन्तु अभी उसके उपयोग से रहित है, वह आगम द्रव्य निक्षेप है। और उसका शरीरादि नो-आगम द्रव्य निक्षेप है।

नो-आगम द्रव्य निक्षेप के पुनः अनेक भेद-प्रभेद हैं। यथा— शरीर तीन प्रकार का है— ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। ज्ञायक शरीर के फिर तीन भेद हैं— भूत ज्ञायक शरीर, वर्तमान ज्ञायक शरीर और भावी ज्ञायक शरीर। भूत ज्ञायक शरीर के फिर से तीन भेद हैं— च्युत, च्यावित और त्यक्त। इनमें भी त्यक्त के पुनः तीन भेद हैं— भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन। तद्व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं— कर्म और नोकर्म। नोकर्म दो प्रकार का है— लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक और लोकोत्तर —ये दोनों ही तीन-तीन प्रकार के होते हैं— सचित्त, अचित्त और मिश्र। तद्व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य के और भी अनेक भेद बताये गये हैं। यथा— ग्रन्थिम, वाइम, वेदिम, पूरिम, संघातिम, अहोदिम, णिक्खेदिम, ओव्वेलिम, उद्वेलिम, वर्ण, चूर्ण, गन्ध, विलेपन आदि।

आगम द्रव्य निक्षेप के 9 भेद बताये गये हैं। यथा— स्थित, जित, परिचित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम, घोषसम।

द्रव्य निक्षेप के उक्त सभी भेद-प्रभेदों की सोदाहरण चर्चा बाद में कभी अलग से करेंगे, क्योंकि अभी बहुत विस्तार हो जाएगा।

प्रश्न-34. भाव निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर— तत्त्वार्थसूत्र की टीका ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ में भाव निक्षेप का लक्षण इस प्रकार आया है—

वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। —1/5/8

अर्थात् वर्तमान में उस पर्याय से सहित होनेवाले को ही वैसा कहना भाव निक्षेप है। जैसे कि— वर्तमान में राज करते हुए व्यक्ति को ही राजा कहना।

प्रश्न-35. भाव निक्षेप के कितने भेद हैं?

उत्तर- भाव निक्षेप के भी मूल भेद दो हैं— आगम भाव निक्षेप और नो-आगम भाव निक्षेप। जैसे कि— जो व्यक्ति अरिहंत-विषयक शास्त्र को जानता है और अभी उसके उपयोग से भी सहित है, वह आगम भाव निक्षेप है। और उसका शरीरादि नो-आगम भाव निक्षेप है।

इनके भेद-प्रभेदों की चर्चा द्रव्य निक्षेप के लगभग समान ही हैं। द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप में अन्तर केवल इतना है कि द्रव्य निक्षेप में भावी योग्यता की बात है और भाव निक्षेप में वर्तमान में उससे सहित होने की बात है।

प्रश्न-36. क्या क्षेत्र निक्षेप एवं काल निक्षेप भी कुछ होते हैं, उनका क्या स्वरूप है?

उत्तर- हाँ, क्षेत्र निक्षेप एवं काल निक्षेप की भी शास्त्रों में चर्चा आई है। षट्खंडागम में तो स्थान-स्थान पर 6 निक्षेप ही बताये गये हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। परन्तु इनमें से क्षेत्र निक्षेप और काल निक्षेप का क्या स्वरूप है—यह मुझे ज्ञात नहीं हो सका है। तथापि मेरी समझ से इनका स्वरूप कुछ ऐसा हो सकता है— जैसे कि क्षेत्र की मुख्यता से वस्तु का कथन करना क्षेत्र निक्षेप है। जैसे कि— बनारसी मिठाई या बनारसी साड़ी। तथा काल की मुख्यता से वस्तु का कथन करना काल निक्षेप है। जैसे कि— बरसाती मच्छर या बरसाती बुखार। यदि इसमें कुछ भूल हो तो विद्वज्जन सुधार करें।

प्रश्न-37. नाम निक्षेप को सर्वप्रथम क्यों कहा गया है?

उत्तर- नाम निक्षेप को सर्वप्रथम इसलिए रखा गया है, क्योंकि वही सारे व्यवहार का मूल आधार है। नाम के बाद ही अन्य कुछ बात होती है। लोक में प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक भवन, प्रत्येक क्रिया आदि का नाम है। नाम के बाद ही उसका परिचय, विश्लेषण आदि सम्भव होता है। यही कारण है कि 'न्यायदीपिका' में भी प्रकरण-प्रवृत्ति हेतु सर्वप्रथम उसका नाम बताना अनिवार्य कहा है। यथा— 'नाममात्रकथनमुद्देशः'—न्यायदीपिका, 1/3

प्रश्न-38. नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप में क्या अंतर है?

उत्तर- नाम निक्षेप मात्र सम्बोधन आदि रूप व्यवहार का हेतु होता है, किन्तु स्थापना निक्षेप में उसके पूज्यत्व आदि का भी व्यवहार होता है। जैसा कि आचार्य अकलंकदेव ने भी तत्त्वार्थवार्तिक 1/5/13 में स्पष्ट किया है। यथा—

नामस्थापनयोरेकत्वं संज्ञाकर्माविशेषादिति चेत्, न, आदरानुग्रहाकाक्षित्वात् स्थापनायाम्..... यथार्हदिन्द्रस्कंदेश्वरादिप्रतिमासु आदरानुग्रहाकाक्षित्वं जनस्य, न तथा परिभाषते वर्तते। ततोऽन्यत्वमनयोः।

अर्थात् यद्यपि नाम और स्थापना दोनों में संज्ञा रखी जाती है, बिना नाम रखे स्थापना नहीं हो सकती, तो भी स्थापित अरिहंत, इन्द्र, स्कन्द और ईश्वर आदि की प्रतिमाओं में मनुष्य को जिस प्रकार पूजा, आदर और अनुग्रह की अभिलाषा होती है, वैसी नाम में नहीं होती।

प्रश्न-39. नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव —इन चारों निक्षेपों को एक ही उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— बहुत सरल है, क्योंकि सभी वस्तुएँ निक्षेप की दृष्टि से चार प्रकार की होती हैं। जैसे कि— राजा भी चार प्रकार का है— नामराजा, स्थापनाराजा, द्रव्यराजा और भावराजा। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु चार प्रकार की है— घट, पट, मनुष्य, देव आदि सब। ‘आलाप-पद्धति’ में ‘जिन’ पर चारों निक्षेप इस प्रकार घटित किए हैं। यथा—

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा जिणिंदपडिमाओ ।

दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥

अर्थात् जिन नाम की वस्तु या व्यक्ति नामजिन है, जिनेन्द्र की प्रतिमा स्थापनाजिन है, भविष्य में जिन बनने वाले जीव द्रव्यजिन हैं और समवशरण में विराजमान जिन भावजिन हैं।

प्रश्न-40. इनमें द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप के भेद-प्रभेदों को भी एक ही वस्तु पर घटित करके दिखाइए न?

उत्तर— थोड़ा-सा कठिन है, परन्तु आइए, प्रयत्न करते हैं, ‘जिन’ पर ही सारे निक्षेप घटित करके देखते हैं—

नामजिन— जिन नाम की वस्तु या व्यक्ति नामजिन है।

स्थापनाजिन— जिन की प्रतिमा स्थापनाजिन है। यह दो प्रकार की है—

तदाकारस्थापनाजिन— जिन की तदाकार प्रतिमा तदाकारस्थापनाजिन है।

अतदाकारस्थापनाजिन— किसी गोटी आदि में जिन की स्थापना अतदाकार- स्थापनाजिन है।

द्रव्यजिन— भविष्य में जिन बनने वाले जीव द्रव्यजिन हैं। इसके दो प्रकार हैं—

आगमद्रव्यजिन— जिन को जाननेवाले किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव को आगमद्रव्यजिन कहते हैं। (सर्वज्ञ को जाननेवाले जीव को भी सर्वज्ञ या कलिकालसर्वज्ञ कहने की परम्परा इसीलिए प्रचलित हुई प्रतीत होती है।)

नोआगमद्रव्यजिन— आगमद्रव्यजिन के शरीर को नोआगमद्रव्यजिन कहते हैं।

भावजिन— समवशरण में विराजमान जिन भावजिन हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—

आगमभावजिन— जिन को जाननेवाले और वर्तमान में उसके उपयोग से भी सहित जीव को आगमभावजिन कहते हैं।

नोआगमभावजिन— आगमभावजिन के शरीर को नोआगमभावजिन कहते हैं।

इसी प्रकार अनेक वस्तुओं पर चारों निक्षेप घटित करने का अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न-41. निक्षेप चार कहे हैं, किन्तु प्रतीत होता है कि एक भाव निक्षेप में ही अर्थक्रियाकारित्व है, अन्य तीन निक्षेपों में अर्थक्रियाकारित्व नहीं है?

उत्तर— नहीं, ऐसा नहीं है, अन्य तीन निक्षेपों में भी अर्थक्रियाकारित्व है।

यथा— नाम निक्षेप में अर्थक्रियाकारित्व है, क्योंकि उससे सारा लोक-व्यवहार होता देखा जाता है। स्थापना निक्षेप में भी अर्थक्रियाकारित्व है, क्योंकि जिनबिम्ब से सम्यग्दर्शन तक होता देखा जाता है। द्रव्य निक्षेप में भी अर्थक्रियाकारित्व है, क्योंकि घृत के लिए दुग्ध का ग्रहण होता देखा जाता है।

यदि नाम निक्षेप को न माना जाए तो वाच्य-वाचक के सर्व व्यवहार का अभाव हो जाएगा। यदि स्थापना निक्षेप को न माना जाए तो मूर्तिदर्शन, राजकीय मुद्रा का व्यवहार, सभापतित्व आदि के सर्व व्यवहार का अभाव हो जाएगा। यदि द्रव्य निक्षेप को न माना जाए तो घृत के लिए दुग्ध, मूर्ति के लिए पाषाण, पलंग के लिए लकड़ी, तैल के लिए तिल आदि के ग्रहण का जो व्यवहार देखा जाता है, उस सबका अभाव हो जाएगा। —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, भाग 2, पृष्ठ 163

प्रश्न-42. प्रमाण और नय की भाँति क्या निक्षेप भी दो प्रकार का होता है— सम्यक् एवं मिथ्या?

उत्तर— हाँ, जो संव्यवहार अर्थात् समीचीन व्यवहार का हेतु है, वह सम्यक् निक्षेप है और जो उसे खराब करता है, वह मिथ्या निक्षेप है। अथवा जो निक्षेप नहीं है, पर निक्षेप जैसा लगता है या माना जाता है, वह मिथ्या निक्षेप है, निक्षेपाभास है। ❖❖

जैनदर्शन ही शरण है

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलिश्वापदे ।

विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीयावने ॥

नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृढमोहिनां देहिनां ।

जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवी सङ्कटे ॥

—पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसारकलश 306

अर्थ— जो देहसमूहरूपी वृक्षपंक्ति से भयंकर है, जिसमें दुःखपरम्परारूपी जंगली पशु बसते हैं, जहाँ अति कराल कालरूपी अग्नि सबका भक्षण करती है, जिसमें बुद्धिरूपी जल सूखता है और जो दर्शनमोहयुक्त अनेक कुनयरूपी मार्गों के कारण अत्यंत दुर्गम है, उस संसार रूपी विकट अटवी में एक जैन दर्शन ही शरण है।

जैन न्याय परिचर्चा

प्रश्न 1. सरल शब्दों में बताइए कि न्याय किसे कहते हैं?

उत्तर— सत्य को जानने के निर्दोष तरीके/साधन/पद्धति को ही न्याय कहते हैं।

प्रश्न 2. जैन दर्शन के अनुसार न्याय क्या है?

उत्तर— जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण-नय-व्यवस्था ही न्याय है, क्योंकि वही सत्य को जानने का निर्दोष तरीका/साधन/पद्धति है, अन्य कुछ नहीं।

प्रश्न 3. लोक में प्रचलित न्यायालयों के न्याय में और इस न्याय में क्या अंतर है?

उत्तर— दोनों ही न्याय पक्षपात, दुराग्रह आदि से ऊपर उठकर विवादों को सुलझाते हैं और सत्य का उद्घाटन करते हैं— यह तो उनमें समानता है, किन्तु लौकिक न्याय तो पारिवारिक, सामाजिक आदि लौकिक विवादों को ही सुलझाते हैं, किन्तु यह न्याय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषयों के विवादों को भी सुलझाता है। इस न्याय की प्रामाणिकता भी विशेष है।

प्रश्न 4. इस न्याय का महत्त्व क्या है?

उत्तर— यह न्याय हमको सर्व मोह-राग-द्वेष से ऊपर उठाकर सत्य का साक्षात्कार कराता है। अनादि काल से हम अंधविश्वास, पक्षपात, आग्रह, भावुकता आदि अनेक दोषों से युक्त हैं, जिनके कारण हमें सत्य के दर्शन नहीं होते। यह न्याय हमें उन सर्व दोषों से ऊपर उठाकर सत्य के दर्शन करा देता है। यही इसका सबसे बड़ा महत्त्व है।

प्रश्न 5. जैन न्याय के कितने अंग हैं— दो या तीन? कहीं कहते हैं कि दो हैं— प्रमाण और नय, और कहीं कहते हैं कि तीन हैं— प्रमाण, नय और निक्षेप?

उत्तर— मुख्यता की अपेक्षा से दो अंग कहते हैं, लेकिन वास्तव में देखा जाए तो जैन न्याय के तीन अंग हैं— प्रमाण, नय और निक्षेप। जैन न्याय का विषय इन तीन अंगों के प्रतिपादन से ही पूर्ण होता है।

तथापि जब कभी यह कहा जाता है कि दो अंग हैं— प्रमाण और नय, तब समझना चाहिए कि निक्षेप को नय में गर्भित कर लिया है। नय के बहुत अधिक भेद-प्रभेद होते हैं, उनमें नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय, भावनय भी हैं, निक्षेपों की चर्चा उन्हीं में गर्भित हो जाती है।

प्रश्न 6. न्यायशास्त्र में लक्षण को जानना बहुत आवश्यक क्यों बताया गया है? आखिर लक्षण को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर— लक्षण को जाने बिना तत्त्व/वस्तु को पहिचाना ही नहीं जा सकता और जब पहिचानेंगे ही नहीं तो उसकी परीक्षा कैसे करेंगे? तथा परीक्षा के बिना उसका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण कैसे किया जा सकेगा? यही कारण है कि समयसार, गाथा 39 की ‘आत्मख्याति’ टीका में लिखा है कि जो व्यक्ति आत्मा का समीचीन लक्षण नहीं जानते, वे क्लीब (नपुंसक) हैं और अत्यंत विमूढ़ हैं। तथा वहीं आगे ‘परिशिष्ट’ में भी जोर देकर ऐसा कहा है कि लक्षण को जाने बिना लक्ष्य को नहीं जाना जा सकता, जो लक्षण को जानता है उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है— “नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः।”

प्रश्न 7. लक्षण और हेतु में क्या अंतर है?

उत्तर— लक्षण भी हेतु हो सकता है, परन्तु लक्षण और हेतु एक ही बात नहीं है। दोनों में अंतर है। लक्षण लक्ष्य को पहचानने के लिए होता है और हेतु साध्य को सिद्ध करने के लिए होता है। हेतु की साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति होती है, अविनाभाव होता है। यदि लक्षण और हेतु एक ही होते तो हम धूम को अग्नि का जैसे हेतु कहते हैं, वैसे ही लक्षण भी कह सकते थे, परन्तु नहीं कह सकते हैं, लक्षण तो उष्णता को ही कहते हैं। इसी प्रकार के और भी अनेक हेतु हैं जो हेतु तो हैं, पर लक्षण नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि लक्षण और हेतु में बहुत अन्तर है। तथापि शास्त्रों में कहीं-कहीं हेतु को लक्षण और लक्षण को हेतु कह दिया गया है, उसे स्थूल कथन मानकर उसकी उचित विवक्षा समझ लेना।

प्रश्न 8. लक्षण और स्वरूप में क्या अंतर है?

उत्तर— स्वरूप में तो वस्तु का पूरा परिचय दिया जाता है, किन्तु लक्षण में उसका केवल एक ऐसा चिह्न बताया जाता है जिसके द्वारा उसे अन्य वस्तुओं से भिन्न जाना जाता है। जैसे कि गाय का स्वरूप पूछा जाए तो उसके चार पैर, दो सींग, दो कान आदि सब बताए जाएंगे, परन्तु यदि लक्षण पूछा जाए तो केवल सास्नादिमत्त्व ही कहना होगा, अन्य कुछ नहीं। जीव का स्वरूप पूछा जाए तो उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सब बताए जाएंगे, परन्तु यदि लक्षण पूछा जाए तो केवल उपयोगमत्त्व ही कहना होगा, अन्य कुछ नहीं।

प्रश्न 9. क्या लक्षण और परिभाषा को एक कह सकते हैं?

उत्तर— हाँ, सम्भवतः कह सकते हैं, मुझे ऐसा ही लगता है। जिसे प्राचीन शास्त्रीय पद्धति में लक्षण कहते थे, उसे ही आजकल परिभाषा कहते हैं। यद्यपि इसमें भी कई बार लोग गलती करते देखे जाते हैं, परन्तु मुझे लगता है कि परिभाषा में उसका लक्षण ही कहना चाहिए, अन्य कुछ नहीं, उसका पूरा स्वरूप नहीं। जैसे अग्नि की परिभाषा यही है कि जो उष्ण हो उसे अग्नि कहते हैं। जीव की परिभाषा यही है कि जो उपयोगवान हो उसे जीव कहते हैं— ‘उपयोगो लक्षणम्’। पुद्गल की परिभाषा यही है कि जो रूपी हो उसे पुद्गल कहते हैं— ‘रूपिणः पुद्गलाः’। यह लक्षण ही तो है।

प्रश्न 10. न्यायशास्त्र के अध्ययन से क्या हमें अपने दैनिक /व्यावहारिक जीवन में भी कुछ लाभ होता है?

उत्तर— हाँ, बहुत अधिक लाभ होता है। इस विषय पर मैं एक स्वतंत्र लेख लिख चुका हूँ, उसे देखना चाहिए— ‘न्यायशास्त्र के अध्ययन की दैनिक जीवन में उपयोगिता’, तथापि यहाँ संक्षेप में पुनः बताता हूँ। न्यायशास्त्र के अध्ययन से हमें अपने दैनिक/व्यावहारिक जीवन में भी निम्नलिखित लाभ होते हैं—

1. जिससे हमारे विचार नहीं मिलते या कहें कि जो हमारा विरोधी है, उसके प्रति भी हमारे मन में कषाय उत्पन्न नहीं होती। मतभेद रखते हुए भी मनभेद न रखने की सुन्दर कला आती है।
2. किसी भी बात का विरोध/खंडन/निराकरण करने का समीचीन/सभ्यतापूर्ण तरीका आता है। इससे एक स्वस्थ समाज और राष्ट्र की संरचना होती है।
3. युक्तिसंगत और व्यवस्थित चिन्तन करना आता है। व्यर्थ की मानसिक उलझनों से मुक्ति मिल जाती है। पूरी बात समझ में न आए तब भी अनेक मिथ्या मान्यताओं से सहज ही मुक्ति मिल जाती है।
4. हमारी वाणी और लेखनी भी युक्तिसंगत और सुव्यवस्थित हो जाती है। ऊटपटांग बोलने, अनर्गल प्रलाप करने या निरर्थक लिखने की आदत छूट जाती है।

प्रश्न 11. न्यायशास्त्र में प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय की बहुत चर्चा होती है, क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय को ही न्यायशास्त्र में क्रमशः प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय कहा जाता है? या इनमें कुछ विशेष अन्तर है?

उत्तर— सामान्य अपेक्षा से तो ये दोनों एकार्थक कहे जा सकते हैं, कहे भी जाते हैं, परन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो दोनों में बहुत अन्तर है। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय तो सामान्य नाम हैं, चाहे वे सम्यक् हों या मिथ्या, दोनों को ही ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय कहते हैं। किन्तु प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय मात्र सम्यक् ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय को ही

कहते हैं, मिथ्या को नहीं। यह विशेष अंतर ध्यान रखने योग्य है।

प्रश्न 12. जैन न्याय में एकान्तों का खंडन किया जाता है और दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि एकान्त कुछ है ही नहीं। प्रश्न है कि जब एकान्त है ही नहीं तो खंडन किसका किया जाता है?

उत्तर— एकान्तों का तुच्छाभावरूप अभाव जैन नहीं मानते हैं। अज्ञानी जीव की मान्यता में वे पाए जाते हैं, अतः कथंचित् सत् हैं और उन्हीं का खंडन किया जाता है।

प्रश्न 13. यदि मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध पर्यायवाची हैं तो स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिंता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को भी सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष ही कहना चाहिए था, परोक्ष क्यों कहा?

उत्तर— परमार्थतः मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध —ये सब परोक्ष ही हैं, प्रत्यक्ष नहीं हैं, परन्तु इनमें से एक मति को उपचार से, व्यवहार से प्रत्यक्ष कहना पड़ा, क्योंकि लोक में उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध को लोक में प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता, अतः उनको सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी, वे परोक्ष में ही स्वीकृत हो गये।

प्रश्न 14. तर्क और अनुमान में क्या अंतर है?

उत्तर— तर्क तो सिद्धांत या नियम का नाम है, जिसे शास्त्रीय शब्दों में व्याप्ति कहते हैं, किन्तु अनुमान उसका प्रयोग है। जैसे कि— ‘जहाँ-जहाँ धूम होगा वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी’ —यह तर्क है, किन्तु ‘यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है’ —यह अनुमान है।

प्रश्न 15. चित्राद्वैतवाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— नाना आकार वाले ज्ञान को ही मानना, अन्य किसी वस्तु को नहीं मानना ही चित्राद्वैतवाद है। वह निम्नलिखित कारणों से अनुचित है—

(क) चित्राद्वैतवाद में देशना की व्यवस्था नहीं बनती। वक्ता, श्रोता, वक्तव्य शब्दादि की सिद्धि नहीं होती।

(ख) चित्र का अर्थ ही नाना या अनेक है और अद्वैत का अर्थ एक है, अतः चित्र को अद्वैत कहना स्ववचनबाधित है।

—(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 1/120, प्रमेयकमलमार्तण्ड, 1/5)

प्रश्न 16. तत्त्वोपप्लववाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— तत्त्व का उपप्लव अर्थात् उच्छेद या नाश ही तत्त्वोपप्लववाद है। तत्त्वोपप्लववादी के अनुसार तत्त्व/वस्तु नाम की कहीं कोई चीज नहीं है। तथा जब तत्त्व है ही नहीं तो उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना व्यर्थ है। तत्त्वोपप्लववाद इसलिए स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि फिर तो इसका वक्ता/

प्रतिपादनकर्ता और उसका विषय, हेतु आदि सभी अभावरूप सिद्ध होते हैं।

प्रश्न 17. उच्छेदवाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— यह तत्त्वोपप्लववाद का ही दूसरा नाम है। यह भी इसीलिए स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि फिर तो इसका वक्ता/प्रतिपादनकर्ता और उसका विषय, हेतु आदि सभी अभावरूप सिद्ध होते हैं।

प्रश्न 18. अभाववाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— यह भी तत्त्वोपप्लववाद या उच्छेदवाद का ही दूसरा नाम है। यह भी इसीलिए स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि फिर तो इसका वक्ता/प्रतिपादनकर्ता और उसका विषय, हेतु आदि सभी अभावरूप सिद्ध होते हैं।

प्रश्न 19. शून्यवाद क्या है? वह क्यों असंगत है?

उत्तर— यह भी एक प्रकार से तत्त्वोपप्लववाद का ही दूसरा नाम है। सब शून्यरूप है— यही इनका सिद्धांत है। यह भी इसीलिए स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि फिर तो इसका वक्ता/प्रतिपादनकर्ता और उसका विषय, हेतु आदि सभी शून्यरूप सिद्ध होते हैं।
—(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1/382)

प्रश्न 20. शून्याद्वैतवाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— ज्ञान, ज्ञेय आदि कुछ भी नहीं है— इस प्रकार सभी का अभाव मानना शून्याद्वैतवाद है। यह शून्यवाद का ही अपर नाम है। यह इसीलिए अनुचित है, क्योंकि फिर तो इसका वक्ता/प्रतिपादनकर्ता और उसका विषय, हेतु आदि सभी कुछ शून्यरूप सिद्ध होते हैं। किस पर कैसे विचार/विश्वास किया जाए?

प्रश्न 21. शब्दाद्वैतवाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— शब्दाद्वैतवाद भर्तृहरि आदि अनेक वैयाकरणों का मत है। उनके अनुसार इस जगत् में मात्र एक शब्दब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं है। न तो कोई अर्थ है और न ही ज्ञान। सभी अर्थ और ज्ञान जो कुछ दिखाई देते हैं वे सब शब्दानुविद्ध ही हैं, शब्दात्मक ही हैं, शब्द के ही विवर्त हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं हैं, उनमें प्रकाशरूपता शब्दब्रह्म के कारण से ही आई है। इस अर्थ का द्योतक उनका एक सुप्रसिद्ध श्लोक है— न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते। अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठिते।।

किन्तु उनका यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि इसमें अनेक दोष आते हैं। प्रथम तो अर्थ एवं ज्ञान के शब्दानुविद्धत्व का ही प्रतिभास किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, न प्रत्यक्ष से न अनुमान से, अपितु दोनों की भिन्नता ही सिद्ध होती है। चाक्षुष ज्ञान में नीलादि रूप शब्दरहित ही प्रतिभासित होते हैं और श्रावण ज्ञान में भी अर्थाकार से रहित शब्द का प्रतिभास होता है। जगत् को शब्दात्मक

या शब्द का ही विवर्त मानना उचित नहीं है, क्योंकि इससे शब्द और अर्थ में तादात्म्य सिद्ध होगा और तब फिर अनेक दोष उपस्थित होंगे। जैसे कि— यदि सभी पदार्थ शब्दात्मक हों तो शब्द का ज्ञान होने पर उसके संकेत से अनभिज्ञ व्यक्ति को भी अर्थ का ज्ञान हो जाना चाहिए। तथा यदि सभी पदार्थ शब्दात्मक हों तो अग्नि, हिम आदि शब्दों का ज्ञान होते ही उष्णता, शीतलता का अनुभव होना चाहिए। इसप्रकार शब्दाद्वैतवाद को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।

प्रश्न 22. संवेदनाद्वैतवाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— ग्राह्य-ग्राहक भाव से रहित शुद्ध ज्ञान का ही प्रकाश मानना, उसके अतिरिक्त किसी भी बाह्य अर्थ को न मानना संवेदनाद्वैतवाद या शुद्धसंवेदनाद्वैतवाद है। इसे ज्ञानाद्वैत भी कहते हैं। वह संवेदनाद्वैत या ज्ञानाद्वैत निम्नलिखित कारणों से अनुचित है—

1. यदि ज्ञेयरूप बाह्य अर्थ नहीं है तो बुद्धि एवं वचन की प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकेगी। बुद्धि एवं वचन की प्रमाणता ज्ञेयरूप बाह्य अर्थ के आधार पर होती है।
2. ज्ञान और ज्ञेय— ये दोनों संज्ञायें सापेक्ष हैं। यदि बाह्य ज्ञेय नहीं हैं तो ज्ञान संज्ञा भी निरर्थक सिद्ध होगी।

प्रश्न 23. कारकसाकल्यवाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— कारकसाकल्यवाद की चर्चा मुख्यतः ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ के प्रथम परिच्छेद के प्रथम सूत्र की टीका में आई है, जहाँ प्रमाण के लक्षण का प्रकरण है। कारकसाकल्यवाद को जरन्नैयायिक जयन्त भट्ट प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार— आत्मा, मन, अर्थ, आलोक, इन्द्रिय आदि जिन-जिन कारणों से अर्थ की उपलब्धि होती है उनकी समग्रता का नाम कारकसाकल्य है और यही वास्तव में प्रमाण है, क्योंकि यही अर्थ की उपलब्धि में साधकतम (करण) है।

किन्तु यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रथम तो कारकसाकल्यवाद का ही कोई स्वरूप सिद्ध नहीं होता है। तथा यदि हो भी जाए तो कारकसाकल्यवाद अचेतन सिद्ध होता है, जो स्व-पर-परिच्छिन्ति में साधकतम (करण) नहीं हो सकता। स्व-पर-परिच्छिन्ति में साधकतम (करण) तो अज्ञानविरोधी ज्ञान ही हो सकता है।

प्रश्न 24. अस्वसंवेदनज्ञानवाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— अस्वसंवेदनज्ञानवाद का अर्थ है कि ज्ञान सभी पदार्थों को जानता है, पर स्वयं को नहीं जानता, वह अस्वसंवेदी है। इसे परोक्षज्ञानवाद भी कहते हैं। परोक्षज्ञानवाद का अर्थ हुआ कि ज्ञान कभी भी अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है, वह अपने लिए सदा परोक्ष ही रहता है।

यह मान्यता जैन दर्शन के विपरीत है, क्योंकि वह ज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक मानता है। जैन दर्शन का कहना है कि यदि ज्ञान स्वयं को न जाने तो वह पर को भी नहीं जान सकता, यदि वह स्वयं ही अप्रत्यक्ष है तो बाह्य अर्थ का भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। इसलिए ज्ञान को अर्थव्यवसायात्मक की तरह स्वव्यवसायात्मक भी अवश्य मानना चाहिए। ज्ञान कर्म की भाँति कर्ता, करण, क्रिया को भी अवश्य जानता है।

अस्वसंवेदनज्ञानवाद या परोक्षज्ञानवाद मुख्यरूप से मीमांसकों की मान्यता है। इस विषय की विशेष चर्चा प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रथम परिच्छेद, सूत्र 9 में मिलती है।

प्रश्न 25. सन्निकर्षवाद क्या है? वह क्यों अनुचित है?

उत्तर— सन्निकर्षवाद मुख्यरूप से नैयायिक-वैशेषिकों की मान्यता है। उनका मानना है कि सन्निकर्ष ही प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम है, इसलिए वही प्रमाण है। सन्निकर्ष का अर्थ है— इन्द्रिय और अर्थ का मिलन, ‘इन्द्रियार्थसम्बन्धः सन्निकर्षः’। किन्तु यह मान्यता अनेक कारणों से अनुचित है। यथा—

1. सन्निकर्ष अचेतन रूप है, वह प्रमाण कैसे हो सकता है?
2. सन्निकर्ष की बात चक्षु इन्द्रिय पर नहीं घटित होती, क्योंकि वह अप्राप्यकारी है, उसका अर्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होता।
3. सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर संशयादि को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि सन्निकर्ष वहाँ भी होता है।
4. सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकेगा, क्योंकि उनका इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष नहीं होता।
5. एक अवयव का ही ज्ञान होगा, अवयवी (पूर्ण वस्तु) का ज्ञान नहीं होगा। घट, स्वयं आदि के अवयव को देखकर पूर्ण अवयवी का ज्ञान होता है, उसके साथ विरोध उपस्थित होगा।
6. कोई भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि त्रिलोक-त्रिकालवर्ती पदार्थों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता।

प्रश्न 26. न्यायशास्त्र में बहुत अधिक परमतखंडन किया जाता है, क्या इससे उनको दुःख नहीं होता होगा, क्रोध नहीं आता होगा? क्या इससे हमको भी पाप नहीं लगता होगा?

उत्तर— सच्चे दार्शनिकों या नैयायिकों की दुनिया निराली होती है। उनकी सोच हमारे जैसी हल्की नहीं होती। उनमें परस्पर एक-दूसरे से बहुत प्रेम होता है, क्योंकि वे सब एक ही पथ के पथिक होते हैं और इस तरह खंडन-मंडन की प्रक्रिया अपनाकर वे एक-दूसरे का सहयोग करते हैं, उपकार करते हैं।

वहाँ खंडन करनेवाला व्यक्ति भी द्वेष या दुर्भावना से खंडन नहीं करता है, अपितु उसके स्खलन की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए ही करता है। वहाँ किसी को किसी की मूलभूत अन्तरंग नियत पर कोई संदेह नहीं होता है। मात्र इतना ही रहता है कि प्रमाद या अज्ञानवश स्खलन हो रहा है। यही कारण है कि वहाँ किसी को भी किसी का खंडन सुनकर किंचित् भी दुःख नहीं होता, अपितु बहुत प्रसन्नता होती है, क्योंकि इससे उन्हें सत्य के अनुसन्धान में बड़ी सहायता मिलती है, उनका स्खलन दूर होता है, चिन्तन विकसित होता है, निर्मल होता है।

किन्तु हाँ, यदि कोई व्यक्ति दुर्भावना से खंडन-मंडन करता है तो उसे अवश्य पाप लगता है।

प्रश्न 27. न्यायशास्त्र का अपर नाम प्रमाणशास्त्र भी कहा जाता है, किन्तु प्रमाण तो न्याय का एक ही अंग है, उसे ही कहने से उसका दूसरा अंग नय तो छूट जाता है?

उत्तर— न्यायशास्त्र को प्रमाणशास्त्र कहने का कारण यह है कि अन्य सभी दर्शनों में न्यायशास्त्र में केवल प्रमाण की चर्चा होती है।

अथवा नय भी प्रमाण का ही अंश है, अतः ‘प्रमाण’ पद में नय को भी गर्भित समझ लेना चाहिए।

प्रश्न 28. न्यायशास्त्र को हेतुविद्या भी कहते हैं, उसका क्या कारण है?

उत्तर— न्यायशास्त्र में हेतु का बहुत अधिक महत्त्व है। जिसने हेतु को ठीक से नहीं समझा, उसने वास्तव में न्यायशास्त्र ही नहीं समझा। हेतु के इस विशेष महत्त्व को बताने के लिए ही न्यायशास्त्र को हेतुविद्या भी कहते हैं। जिसप्रकार अनुमान का महत्त्व बताने के लिए न्यायशास्त्र को अनुमानशास्त्र कहा जाता है, उसीप्रकार हेतु का महत्त्व बताने के लिए उसे हेतुशास्त्र भी कहा जाता है। वास्तव में अनुमान और अनुमान में भी हेतु विशेष सावधानी से समझने योग्य है।

प्रश्न 29. न्यायशास्त्र को अनुमानशास्त्र क्यों कहते हैं, अनुमान तो उसका एक अंग है?

उत्तर— न्यायशास्त्र को अनुमानशास्त्र कहने का कारण यह है कि न्याय में वस्तुतः अनुमान ही सबसे मुख्य प्रमाण है, वही न्यायशास्त्र का केन्द्रिय विषय है। अन्य प्रमाणों की चर्चा तो सामान्यतः दर्शनशास्त्र में भी आ जाती है, पर अनुमान को ही ठीक से समझाने के लिए न्यायशास्त्र का उद्भव विकास हुआ है।

अथवा अन्य सर्व प्रमाण भी, एक प्रत्यक्ष को छोड़कर, वस्तुतः अनुमान के ही भेद-प्रभेद हैं, जैसा कि वादिराजसूरि आदि आचार्यों ने अपने ‘प्रमाणनिर्णय’ आदि ग्रन्थों में समझाया है। यथा— प्रमाण के दो भेद हैं— प्रत्यक्ष और अनुमान। पुनः अनुमान

के दो भेद हैं— मुख्य अनुमान और गौण अनुमान। अनुमान को तो मुख्य अनुमान कहते हैं और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और आगम को गौण अनुमान कहते हैं।

प्रश्न 30. न्यायशास्त्र को तर्कशास्त्र भी कहा जाता है, उसका क्या कारण है?

उत्तर— तर्क का अर्थ है— व्याप्ति का ज्ञान। न्यायशास्त्र में इसका अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि अनुमान प्रमाण भी इसी पर आधारित है। यदि व्याप्ति गलत है तो पूरा अनुमान गलत हो जाता है। इसीप्रकार हेतु जैसे मूलभूत विषय का निर्णय करने के लिए भी व्याप्तिज्ञान/तर्क अत्यन्त आवश्यक है। तर्क के इसी महत्त्व को प्रकाशित करने के लिए न्यायशास्त्र को तर्कशास्त्र भी कहा जाता है।

प्रश्न 31. साधन और हेतु में क्या कोई अन्तर है?

उत्तर— नहीं, सामान्य अपेक्षा से तो ये दोनों पर्यायवाची ही हैं, इनमें कोई अन्तर नहीं है। परन्तु जिसप्रकार दृष्टान्त और उदाहरण में अन्तर बताया जाता है कि दृष्टान्त के वचन (कथन) को उदाहरण कहते हैं, उसीप्रकार यहाँ भी कहा गया है कि साधन के वचन (कथन) को हेतु कहते हैं। यथा— ‘साधनवचनं हेतुः।’

—न्यायदीपिका, 3/33

प्रश्न 32. ‘आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः’ —आगम के इस लक्षण में ‘आदि’ पद से हस्तसंकेतादि का ग्रहण किया गया है, परन्तु आप्त तो वीतरागी होते हैं, वे ऐसा कोई संकेत करते नहीं हैं, फिर कैसे घटित होगा?

उत्तर— अच्छा प्रश्न है, विद्वान विचार करें। मेरी समझ से ऐसा हो सकता है—

1. यहाँ एकदेश आप्त के रूप में आचार्य, उपाध्याय, साधु का भी ग्रहण करना चाहिए। हस्तसंकेतादि का ग्रहण उन पर घटित होगा।
2. अरिहंत भी भले संकेत करते नहीं हैं, पर उनके हस्त, मुख आदि से संकेत प्राप्त तो होता ही है। अतः उन पर भी घटित हो जाएगा।
3. लौकिक क्षेत्र के आप्त पर भी इसे घटित कर सकते हैं।

प्रश्न 33. जैन दर्शन शब्द को प्रमाण मानता है या नहीं?

उत्तर— मानता है, पर उसे आगम प्रमाण के रूप में मानता है।

प्रश्न 34. उसे शब्द प्रमाण के रूप में ही कहने में क्या कुछ आपत्ति है?

उत्तर— शब्द पौद्गलिक होने के कारण स्वयं प्रमाण नहीं हो सकता, उसमें प्रमाणता आप्त से आती है।

प्रश्न 35. वेद को अपौरुषेय एवं प्रमाण मानने में क्या दोष है?

उत्तर— वेद को अपौरुषेय मानना युक्तिविरुद्ध है। मीमांसक वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिए अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु देते हैं। कहते हैं कि यदि कोई वेद

का कर्ता होता तो उसका स्मरण होना चाहिए था, किन्तु उसका स्मरण नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि वेद अनादि एवं अपौरुषेय है।

किन्तु उनका यह हेतु उचित नहीं है, क्योंकि स्मरण नहीं होना किसी की अनादिता एवं अपौरुषेयता का प्रमाण नहीं है। बहुत-से मकान, खंडहर आदि ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनके कर्ता का स्मरण नहीं होता, किन्तु फिर भी उन्हें अनादि एवं अपौरुषेय नहीं माना जाता।

तथा यदि कदाचित् वेद को अपौरुषेय भी माना जाए तो अपौरुषेय होना भी कोई प्रमाणता का साधक हेतु नहीं है, क्योंकि लोक में अनेक गाली-गलौचरूप म्लेच्छादि व्यवहार ऐसा चला आता है, जो अनादि एवं अपौरुषेय है, जिनके कर्ता का किसी को स्मरण नहीं है। परन्तु इससे वह प्रमाण नहीं हो जाता। इसी प्रकार अन्य भी अनेक दोष वेद को प्रमाण मानने में उपस्थित होते हैं।

—(सिद्धिविनिश्चय, प्रस्तावना, पृष्ठ 127)

प्रश्न 36. चेतना या उपयोग के दो भेद कहे हैं— ज्ञान एवं दर्शन, और दोनों ही पदार्थों को प्रतिभासित करने का कार्य करते हैं, अतः ज्ञान की भाँति दर्शन को भी प्रमाण मानना चाहिए, किन्तु परीक्षामुख आदि न्यायग्रन्थों में दर्शन की प्रमाणता का निराकरण किया गया है। ऐसा क्यों?

उत्तर— बहुत महत्वपूर्ण जिज्ञासा है। दरअसल, परीक्षामुख आदि न्यायग्रन्थों में जिस दर्शन का निराकरण किया गया है, वह बौद्धाभिमत निर्विकल्पक दर्शन है, जो स्वविषय का उपदर्शक नहीं होता और इसीलिए उसका निराकरण किया गया है— ‘स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्’ —(परीक्षामुख, 6/3)। जैनदर्शनाभिमत दर्शन को तो प्रमाण माना जा सकता है, उसमें कोई आपत्ति नहीं है। इस सन्दर्भ में मैंने एक स्वतंत्र लेख लिखा है— ‘क्या दर्शनोपयोग अप्रमाण है’, कृपया उसे देखें।

प्रश्न 37. शास्त्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिए, किन्तु परीक्षामुख ग्रन्थ में मंगलाचरण क्यों नहीं किया?

उत्तर— इस प्रश्न का उत्तर आचार्य अनंतवीर्य ने ‘प्रमेयरत्नमाला’ में बहुत अच्छा दिया है, जिसका हिन्दी-अनुवाद इसप्रकार है—

“यहाँ मंगलाचरणस्वरूप नमस्कार नहीं किया —ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि नमस्कार केवल लिखित ही नहीं होता, मन-वचन-काय से भी होता है। अथवा— लिखित में भी किया ही है, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त ‘प्रमाण’ शब्द के अनेक अर्थ हैं, उनमें से एक यह भी है कि— ‘प्र’ अर्थात् उत्कृष्ट, ‘मा’ अर्थात् लक्ष्मी (अनंतचतुष्टयरूप अन्तरंग लक्ष्मी और समवशरणादिरूप बहिरंग लक्ष्मी) और ‘अण’ अर्थात् शब्द अर्थात् दिव्यध्वनि। प्र+मा+अण = प्रमाण। तात्पर्य हुआ कि जो उत्कृष्ट अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी होकर दिव्यध्वनि द्वारा सब जीवों के हित का

उपदेश देते हैं, उन अर्हन्त से ही अर्थ की सम्यक् सिद्धि होती है, अन्य कुदेवों (प्रमाणाभास) से नहीं। इस प्रकार यहाँ इष्टदेवतास्मरणरूप मंगलाचरण भी है ही।”
—(आचार्य लघु अनंतवीर्य, प्रमेयरत्नमाला, पृष्ठ 10-11)

प्रश्न 38. अभाव की चर्चा अन्य दर्शनों में भी आती है, जैन दर्शन और उनकी चर्चा में क्या अंतर है?

उत्तर— अन्य दर्शनों के अभाव में और जैनदर्शन के अभाव में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि अन्य दर्शन अभाव को सर्वथा अभाव रूप ही मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन अभाव को भी कथंचित् सद्भावरूप वस्तुधर्म मानता है— ‘भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तरं भाववदहर्तस्ते।’ (युक्त्यनुशासन, 60)।

प्रश्न 39. जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है, किन्तु ज्ञान तो प्रमाण का फल है। प्रमाण तो उसे कहना चाहिए जो ज्ञान (प्रमा) का करण (साधन) हो। यदि ज्ञान को ही प्रमाण माना जाए तो फलाभाव का प्रसंग उपस्थित होता है?

उत्तर— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ज्ञान ही प्रमा का सच्चा साधन है, करण है— साधकतमं करणं है, अन्य कुछ नहीं। तथा उसमें फलाभाव का भी कोई प्रसंग प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि फल तो अज्ञाननिवृत्ति एवं हानोपादानोपेक्षा है— ‘अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।’ (—परीक्षामुख 5/1) ज्ञान होने के बाद जो हानोपादानोपेक्षा (त्याग, ग्रहण या उपेक्षा) होती है, वही प्रमाण का फल है। अथवा— ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सभी पूर्व पूर्व के ज्ञान प्रमाण हैं और उत्तर-उत्तर के ज्ञान उनके फल हैं। इसप्रकार फलाभाव का प्रसंग नहीं आता है।

शंका— प्रमाण का फल जो अज्ञाननिवृत्ति आपने कहा है वह तो ज्ञान ही है?

समाधान— कोई बात नहीं। परमार्थ से तो ज्ञान ही ज्ञान का फल है—

“ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।

अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृष्यते॥” —(आत्मानुशासन, 175)

यह प्रकरण सर्वार्थसिद्धि 1/10/97 में भी अच्छा आया है। ज्ञान का फल आनन्द है, दुःखनिवृत्ति है।

प्रश्न 40. क्या सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि अन्य दर्शनों के अनुयायी वर्तमान में मिलते हैं? कहीं दिखाई तो देते नहीं?

उत्तर— मिलते हैं, बहुत मिलते हैं, लोक में इस तरह की मान्यताओं के बहुत लोग मिलते हैं। यद्यपि जिस प्रकार जैन, बौद्ध आदि मतों के अनुयायी वर्तमान में मिलते हैं, वैसे सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि अन्य मतों के

अनुयायी वर्तमान में हमें दिखाई नहीं देते हैं, परन्तु वे हैं अवश्य, क्योंकि वे तो मिथ्या मान्यताओं के नाम हैं, जो संसार में सदा काल पाई जाती हैं। हो सकता है कि वे हमारे अंदर ही हों, इसलिए हमें बाहर में यह नहीं देखना चाहिए कि ये मत बाहर में कहाँ दिखाई देते हैं, अपितु अपने अंदर ही खोजना एवं उसे ठीक करना चाहिए।

प्रश्न 41. न्यायदीपिकादि सभी न्यायग्रन्थों में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, अकेला ज्ञान नहीं, ज्ञान में ‘सम्यक्’ पद लगाना अनिवार्य है, तभी संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, इत्यादि, किन्तु कतिपय आगम-ग्रन्थों में तो इतना ही कहा है कि ज्ञान ही प्रमाण है, जैसे कि तिलोपपण्णत्ति, गाथा 1/83 में कहा है कि ‘णाणं होदि पमाणं’। इसका क्या समाधान है?

उत्तर— बहुत अच्छा प्रश्न है। देखो, जहाँ ऐसा कहा हो कि ज्ञान ही प्रमाण है, वहाँ भी हमें ऐसा ही समझना चाहिए कि वहाँ भी सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कहा है, मिथ्याज्ञान को नहीं। यद्यपि वहाँ स्पष्ट रूप से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करनेवाला ‘सम्यग्ज्ञान’ पद प्रयुक्त नहीं किया गया है, तथापि इसे वहाँ गर्भित ही समझना चाहिए। समझना चाहिए कि यहाँ सम्यग्ज्ञान का ही अधिकार है, अतः संक्षेप में सम्यग्ज्ञान को ही ‘ज्ञान’ पद से कह दिया है। अथवा आचार्यदेव के समक्ष बैठे किसी भी श्रोता को ‘ज्ञान’ कहने से मिथ्याज्ञान का भ्रम नहीं हुआ, सब उसका अर्थ ‘सम्यग्ज्ञान’ ही समझे, अतः यह कथन भी निर्दोष ही है कि ‘ज्ञान ही प्रमाण है’। हमें जहाँ जो कथन जिस अपेक्षा से किया गया हो उसे उसी अपेक्षा से समझ लेना चाहिए, उसमें बहुत विवाद नहीं करना चाहिए कि यह ऐसे क्यों कहा, ऐसे क्यों नहीं कहा, आदि। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगते हैं कि आचार्यदेव से गलती हुई है, आदि और बहुत कषाय करने लगते हैं। यह उचित नहीं। ‘ज्ञान ही प्रमाण है’ —कहकर आचार्यदेव ने अज्ञानरूप इन्द्रियवृत्ति, सन्निकर्ष, अर्थ, आलोक आदि की प्रमाणता का निषेध कर दिया और सम्यग्ज्ञान की प्रमाणता की स्थापना कर दी, यही पर्याप्त है —ऐसा समझना चाहिए।

शंका— आपने कहा कि बहुत विवाद नहीं करना चाहिए तो क्या थोड़ा विवाद करना चाहिए?

समाधान— हाँ, ऐसी स्थिति में वक्ता से स्पष्टीकरण अवश्य पूछ लेना चाहिए कि ज्ञान तो दो प्रकार का है— सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान, क्या दोनों प्रमाण हैं। तथा यदि वे सही स्पष्टीकरण करें तो उसे शान्ति से स्वीकार करना चाहिए।

प्रश्न 42. न्यायदीपिका में स्वार्थानुमान के प्रकरण में अनुमान के दो अंग बताए हैं— पक्ष और हेतु, किन्तु परार्थानुमान के प्रकरण में अनुमान

के दो अंग बताये— प्रतिज्ञा और हेतु। इनमें क्या अंतर है?

उत्तर— स्वार्थानुमान में स्वयं जानने की बात है, इसलिए वहाँ ‘पक्ष’ कहा है, किन्तु परार्थानुमान में दूसरे को समझाने की बात होती है, इसलिए वहाँ ‘प्रतिज्ञा’ कहा है। पक्ष और प्रतिज्ञा में इतना-सा ही अंतर है कि पक्ष के कथन/वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं— ‘पक्षवचन प्रतिज्ञा’ —न्यायदीपिका 3/33

प्रश्न 43. जैनाचार्यों ने हेतु के त्रिरूपत्व, पंचरूपत्व आदि का खंडन करते हुए कहा है कि हेतु एकलक्षण ही होता है तो क्या किसी भी साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु एक ही होता है?

उत्तर— नहीं, ऐसा नहीं है; किसी भी साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु एक ही नहीं होता, अनेक हेतु हो सकते हैं; किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि हेतु एकलक्षण होता है। एकलक्षण होता है अर्थात् उसकी पहचान एक ही है— अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति। बौद्ध हेतु को त्रिलक्षण मानते हैं और नैयायिक पंचलक्षण, अतः उनका निषेध करने के लिए जैन दर्शन में हेतु को एकलक्षण कहा गया है।

प्रश्न 44. स्मृति को अन्य दर्शन प्रमाण नहीं मानते, फिर जैनदर्शन क्यों मानता है?

उत्तर— जैनदर्शन का कहना है कि यदि स्मृति को प्रमाण न माना जाए, अप्रमाण माना जाए तो प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि को भी प्रमाण नहीं माना जा सकेगा, उन सबको भी अप्रमाण ही मानना पड़ेगा, क्योंकि वे सब स्मृतिपूर्वक ही होते हैं। अप्रमाणरूप स्मृति के आधार से होनेवाले प्रत्यभिज्ञानादि भी अप्रमाण ही सिद्ध होंगे।

प्रश्न 45. न्यायशास्त्र के ज्ञान के लिए क्या संस्कृत भाषा का ज्ञान होना अनिवार्य है?

उत्तर— उपयोगी तो बहुत है, आवश्यक भी कह सकते हैं, पर ‘अनिवार्य’ शब्द बहुत बड़ा है, उसका प्रयोग करने पर जिनको संस्कृत नहीं आती, वे न्यायशास्त्र का ज्ञान बिल्कुल नहीं कर पाएँगे, किन्तु ऐसा नहीं है। संस्कृत भाषा के ज्ञान के बिना भी हिन्दी के न्यायग्रन्थों से भी कोई व्यक्ति आज अच्छा न्यायज्ञान कर सकता है। तथापि मूल न्यायग्रन्थों को ठीक से समझने के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। संस्कृतज्ञ पाठक को मूल न्यायग्रन्थों के अध्ययन में अद्भुत आनन्द आता है।

प्रश्न 46. प्रमाण और प्रमेय में क्या अंतर है?

उत्तर— सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ

को प्रमेय कहते हैं। किन्तु यहाँ एक विशेष बात यह भी है कि यदि कोई पूछे कि प्रमाण और प्रमेय में भेद है या अभेद तो उसका उत्तर यह है कि भेद भी है और अभेद भी, क्योंकि प्रमाण प्रमाण भी है और प्रमेय भी, जैसे कि दीपक प्रकाशक भी होता है और प्रकाश्य भी। यदि प्रमाण को सर्वथा प्रमाण ही माना जाए, प्रमेय न माना जाए तो अनवस्था दोष उपस्थित होगा।

—(आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक 1/10/10-13)

प्रश्न 47. प्रमाण का फल बताते समय केवलज्ञान का फल उपेक्षा अर्थात् वीतरागता बताया गया है, किन्तु वीतरागता तो केवलज्ञान से पूर्व ही (बारहवें गुणस्थान में) प्रकट हो जाती है, फिर वह केवलज्ञान का फल कैसे कही जा सकती है, फल तो बाद में या साथ में ही हो तभी कह सकते हैं?

उत्तर— प्रश्न बहुत अच्छा है। इसके तीन उत्तर हैं—

1. वीतरागता केवलज्ञान का ही फल नहीं बताया गया है, अपितु श्रुतज्ञान का भी बताया है; (कारिका 102) अतः हम कह सकते हैं कि बारहवें गुणस्थान में प्राप्त होने वाली वीतरागता श्रुतज्ञान का फल है, केवलज्ञान का नहीं। श्रुतज्ञान भी कथंचित् केवलज्ञान के समान ही कहा गया है। (कारिका 105)

2. फल बाद में या साथ में ही हो— ऐसा एकान्त नियम नहीं है। सूर्योदय का फल उससे कुछ पूर्व ही उषा के रूप में दिखाई देने लगता है।

3. सभी प्रमाणों का प्रथम/साक्षात् फल तो अज्ञाननिवृत्ति ही है, शेष सब तो बाद की बात है, द्वितीयक/असाक्षात् फल की बात है। कहा भी है—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।

अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृग्यते॥ —आत्मानुशासन, 175

प्रश्न 48. न्यायशास्त्र को ठीक से समझने के लिए सभी दर्शनों के प्राथमिक ज्ञान की आवश्यकता है, किन्तु यह बताइए कि इस हेतु हम क्या करें, कौन-सी पुस्तक पढ़ना चाहिए?

उत्तर— सभी दर्शनों के प्राथमिक ज्ञान हेतु आजकल पुस्तकालयों में बहुत पुस्तकें ‘भारतीय दर्शन’ के नाम से मिलती हैं, उनमें से कोई भी दो-तीन पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए। जैसे कि— 1. भारतीय दर्शन— वाचस्पति गैरोला, 2. भारतीय दर्शन— बलदेव उपाध्याय, 3. भारतीय दर्शन— चन्द्रधर शर्मा।

इनके अतिरिक्त कुछ प्राचीन ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। जैसे कि— हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शनसमुच्चय, सायण माधव कृत सर्वदर्शनसंग्रह आदि।

इनके अतिरिक्त आजकल यूट्यूब पर भी बहुत व्याख्यान या कक्षाएँ मिलती हैं। हम उनका भी सहारा ले सकते हैं।

किन्तु सर्वत्र सावधानी रखना बहुत आवश्यक है, क्योंकि यत्र-तत्र बहुत-सी बातें गलत भी मिलती हैं; अतः उचित यही है कि हम सभी दर्शनों के एक-एक दो-दो प्रमुख ग्रन्थों को ही मूल से पढ़ें। प्रायः सभी दर्शनों में ऐसे मूल ग्रन्थ मिलते भी हैं। जैसे कि जैनदर्शन में तत्त्वार्थसूत्र है, सांख्यदर्शन में सांख्यसूत्र या सांख्यकारिका, वेदान्त में ब्रह्मसूत्र, न्याय में न्यायसूत्र, इत्यादि।

प्रश्न 49. साधन और कारण में क्या अन्तर है?

उत्तर— कभी-कभी स्थूल अपेक्षा से दोनों को एक कहते हैं, परंतु सूक्ष्मता से देखा जाए तो इन दोनों में बड़ा अन्तर है। साधन साध्य को जानने के लिए होता है, पर कारण कार्य को उत्पन्न करने के लिए होता है। दूसरे शब्दों में कारण उसे कहते हैं जो कार्य को उत्पन्न करता है परंतु साधन उसे कहते हैं जो हमें हमारे साध्य का ज्ञान कराता है। साधन को हेतु भी कहते हैं और हेतु कारण व कार्य में से कुछ भी बन सकता है, दोनों ही बन सकते हैं। साधन को हम एक प्रकार से कह सकते हैं कि वह जानने/ज्ञान का कारण होता है। इस सम्बन्ध में मेरा लेख ‘साधन और कारण में अंतर’ पठनीय है।

प्रश्न 50. ‘परीक्षामुख’ ग्रन्थ क्यों विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है?

उत्तर— जैन-न्याय-ग्रन्थों में आचार्य माणिक्यनंदी कृत ‘परीक्षामुख’ का स्थान अत्यन्त विशिष्ट है। वह आज भी सूर्य के समान दैदीप्यमान है। गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है कि आखिर वह इतना अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों है। मेरी दृष्टि में उसके कतिपय कारण निम्नलिखित हैं—

1. यह जैन न्याय को सुव्यवस्थितरूप में प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास है।
2. यह जैन न्याय का प्रथम सूत्र-ग्रन्थ भी है। सूत्रात्मक होने के कारण भी इसे विशेष महत्त्व मिला। इसमें सूत्र के सभी गुण होने से बड़ी गम्भीरता भी है।
3. यह संस्कृत भाषा में है। संस्कृत भाषा में होने के कारण भी इसे विश्व के विद्वत्-समाज में विशेष महत्त्व मिला।
4. यह सरल-सुबोध और संक्षिप्त भी है। जैसा कि कहा भी गया है— ‘सिद्धमल्पं लघीयसः’।
5. यह जैन न्याय को क्रमबद्ध रीति से पूर्ण रूप में सांगोपांग प्रस्तुत करता है।
6. इसमें अन्य दर्शनों की अपेक्षाओं को भी ध्यान में रखकर उनका समुचित निराकरण किया गया है।
7. इसका मंगलाचरण बहुत उच्च कोटि का है, अत्यन्त सारगर्भित है।
8. यह आचार्य अकलंक आदि के न्यायसमुद्र को मथकर उसमें से ही अमृत के समान निकालकर प्रस्तुत किया गया है।
9. यह लगभग सभी विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम में निर्धारित है।

10. इस पर अनेक आचार्यों ने गूढ़ गम्भीर टीकाएँ लिखी हैं, जिनमें प्रभाचंद्र की 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड', अनंतवीर्य की 'प्रमेयरत्नमाला', अभिनव चारुकीर्ति की 'प्रमेयरत्नालंकार' और आचार्य वादिदेवसूरि की 'प्रमाणनयतत्त्वालंकार' विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक टीकाएँ हैं।
11. परवर्ती सम्पूर्ण न्यायचर्चा का भी मूलाधार यही ग्रन्थ प्रमुख रूप से रहा है।

प्रश्न 51. न्यायदीपिका ग्रन्थ क्यों विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है?

उत्तर— न्यायदीपिका वास्तव में ही न्यायशास्त्र के आधुनिक जिज्ञासुओं को प्राप्त हुआ एक अनमोल उपहार है। इससे न्यायशास्त्र को समझना वाकई बहुत सरल हो गया। पहले सूत्र और कारिकाएँ होती थीं, परंतु उनको समझना सबके वश की बात नहीं थी, उनमें अन्वय आदि लगाना पड़ता था, एक-एक पद में गूढ़ार्थ निहित होता था, परन्तु न्यायदीपिका सरल-सुबोध गद्यात्मक शैली में लिखा गया है। इसकी संस्कृत भी बहुत सरल है और सरल होकर भी अत्यंत परिष्कृत एवं प्रवाहपूर्ण है। न्यायदीपिका एक साथ विद्वानों और बालकों दोनों को आकर्षित करता है। परीक्षामुख आदि पूर्व ग्रन्थों को भी यह अपने अन्दर सविनय सप्रमाण समाहित कर लेता है। इसमें और भी अनेक गुण पाये जाते हैं।

प्रश्न— 52. क्या न्यायशास्त्र कथंचित् हेय भी है?

उत्तर— हाँ, ध्यान या अनुभूति की अपेक्षा न्यायशास्त्र हेय भी है। न्यायशास्त्र ऊहापोहात्मक होता है, विकल्पात्मक होता है, किन्तु ध्यान या अनुभूति निर्विकल्प होती है, अतः उसकी अपेक्षा न्यायशास्त्र को हेय भी कहा है। तत्त्व के निर्णय के लिए न्यायशास्त्र उपादेय है, किन्तु तत्त्व के अनुभव के लिए न्यायशास्त्र हेय है। वही कहा भी है—

तच्चाणेषणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण ।

णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा ॥

—माइल्लधवल, नयचक्र, 268

अर्थ— तत्त्वान्वेषण के काल में 'समय' को युक्ति से जानना चाहिए, किन्तु उसकी आराधना के समय युक्ति नहीं रहती, क्योंकि अनुभव तो प्रत्यक्ष होता है।

आचार्य अमितगति ने भी योगसारप्राभृत, 7/31 एवं 38 में ध्यान के समय 'मुक्त्वा वादादिवासनां' कहा है।

प्रश्न— 53. आपने न्यायग्रन्थों की सूची में तत्त्वार्थसूत्र को भी गिनाया है, परन्तु वह तो तत्त्वमीमांसा का ग्रन्थ है, न्याय का नहीं?

उत्तर— यह सत्य है कि तत्त्वार्थसूत्र तत्त्वमीमांसा का ग्रन्थ है, परन्तु सारा न्यायशास्त्र वस्तुतः उसी में से निकलकर आया है। उसके 'नामस्थापना-द्रव्यभावतस्तन्त्यासः' इत्यादि पाँचवें और 'प्रमाणनयैरधिगमः' इत्यादि छठे सूत्र

को तो सभी लोग न्याय के उद्गमस्रोत कहते ही हैं, किन्तु ध्यान से देखा जाए तो उसका सम्पूर्ण प्रथम अध्याय न्यायशास्त्र का ही है, प्रमाण-नय-निक्षेप का ही है, उसके सभी सूत्रों में इस विषय का ही वर्णन किया गया है। तत्त्वमीमांसा तो उसके बाद द्वितीय अध्याय से प्रारम्भ हुई है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में प्रमाण-नय-निक्षेपरूप न्याय का विस्तृत प्रतिपादन करके आचार्य उमास्वामी यह भी एक महत्त्वपूर्ण संदेश देना चाहते हैं कि तत्त्वमीमांसा से पूर्व न्यायशास्त्र को जानना अनिवार्य है, प्रमेय-मीमांसा से पूर्व प्रमाण-मीमांसा को समझना अनिवार्य है। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। इसप्रकार इसके द्वारा न्यायशास्त्र की विशेष उपयोगिता भी सिद्ध होती है। अतः मैंने इसे न्यायग्रन्थों की सूची में गिनाया है।

प्रश्न— 54. क्या किसी वस्तु का लक्षण एक ही होता है? अनेक लक्षण नहीं हो सकते?

उत्तर— हो सकते हैं। क्यों नहीं हो सकते? किसी वस्तु के अनेक लक्षण भी हो सकते हैं। जैसे कि कोई व्यक्ति भीड़ में है और हमें उसे पहिचानना है। तो उसके पास जो भी ऐसी बातें हैं जो अन्य लोगों के पास नहीं हैं, वे सब उसके लक्षण बन सकते हैं। जैसे कि पगड़ी वाला, दंड वाला, धोती वाला, लाल कपड़े वाला, हाथ में पुस्तक वाला इत्यादि। किन्तु यदि ऐसा कहा जाए कि लक्षण एक ही होता है तो उसका अर्थ है कि लक्षण का एक ही लक्षण होता है—व्यतिकर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्, अन्य कोई असाधारणधर्मवचन आदि नहीं होता।

प्रश्न 55. समन्तभद्रादि आचार्यों ने निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतरागी सन्त होते हुए भी नगर-नगर में वाद/शास्त्रार्थ किये, यह क्या उचित है?

उत्तर— दरअसल, प्राचीन काल में जब कोई ज्ञानचर्चा प्रमाणों के आधार पर व्यवस्थित रूप में की जाती थी, तो उसे ही वाद कहते थे। यह बड़ी ही स्वस्थ एवं पवित्र परम्परा थी, जो एकदम परीक्षाप्रधानी थी, पक्षपात या कषाय भाव से रहित होती थी। इसका उद्देश्य विशुद्ध रूप से तत्त्व का निर्णय करना होता था। वैज्ञानिक चेतना से सम्पन्न बुद्धिजीवी लोग इसी से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करते थे। अन्धश्रद्धा, भावुकता, पूर्वाग्रह, भय, आशा आदि दोषों से बचने का यही उत्तम मार्ग था। किन्तु बाद में यह मार्ग भी मलिन हो गया और लोग इसके माध्यम से भी कषाय करने लगे, अतः आज हमें ऐसी शंका हो रही है कि समन्तभद्रादि आचार्यों ने वीतरागी सन्त होते हुए भी वाद-विवाद या शास्त्रार्थ कैसे किया, अन्यथा इसमें कोई दोष नहीं है, अपितु गुण ही है और यह सब जैन दर्शन की परीक्षाप्रधानी शैली के अनुरूप उत्तम कार्य है।

शंका— ठीक है, पर वे इस कार्य के लिए नगर-नगर में क्यों जाते थे?

समाधान— नहीं, वे इस कार्य के लिए नगर-नगर में नहीं जाते थे, अपितु वे तो अपनी मुनिचर्या के नियमानुसार सहज ही विहार करते रहते थे। उस काल में राजा लोग भी प्रायः ज्ञानानुरागी ही होते थे, जो अपनी राजसभाओं में भी प्रायः प्रतिदिन ज्ञानचर्चा करते रहते थे, अतः वे ही कभी-कभी सत्य को पूर्ण ईमानदारी से समझने के लिए ऐसा निष्पक्ष आयोजन रखा करते थे। समन्तभद्रादि आचार्य सहज ही विहार करते हुए ऐसे आयोजनों में पहुँच जाते थे और अपनी प्रस्तुति से सभी को प्रभावित करते थे। अतः इसमें कोई दोष नहीं है, अपितु गुण ही है।

शंका— वे आखिर ऐसी कौन-सी बात कहते थे कि जिससे सभी शंकाओं का सुन्दर समाधान हो जाता था?

समाधान— स्याद्वाद ही एक ऐसी अचूक औषध थी उनके पास, जिससे सर्व समस्याओं का सुन्दर समाधान हो जाता था। संसार की सारी समस्याएँ एकान्तवाद से उत्पन्न होती हैं, अतः उनका समाधान भी अनेकान्तवाद में ही निहित होता है। समन्तभद्रादि आचार्य इस रहस्य को भलीभाँति समझ चुके थे। यही कारण है कि वे अपनी प्रस्तुति से सभी को प्रभावित करते थे, सभी की शंकाओं का सुन्दर समाधान कर देते थे।

शंका— क्या आचार्य समन्तभद्र के नमस्कार से सचमुच ही शिवपिण्डी फट गई थी और उसमें से चन्द्रप्रभ तीर्थकर की प्रतिमा प्रकट हुई थी?

समाधान— हाँ, उनकी कहानी में सर्वत्र ऐसा ही वर्णन आता है, अतः इस घटना को मिथ्या कहने का कोई अर्थ नहीं है; किन्तु यहाँ मुझे ऐसा लगता है कि वस्तुतः यह एक साहित्यिक या आलंकारिक कथन है। यद्यपि यह कार्य उनके किसी मन्त्र का प्रभाव या कोई दैवी चमत्कार के रूप में यथावत् भी हो सकता है; परन्तु मुझे इसके यथावत् होने की अपेक्षा साहित्यिक या आलंकारिक कथन होने की ही सम्भावना अधिक लगती है। मैंने देखा है कि ऐसे साहित्यिक प्रयोग अन्यत्र भी अनेकानेक कथाओं में बहुत हुए हैं। अतः मेरे हिसाब से हमें इसे हू-ब-हू ऐसी की ऐसी ही अभिधा रूप में घटित हुई घटना नहीं माननी चाहिए, अपितु एक लाक्षणिक प्रयोग समझना चाहिए, जिसके अनुसार इसका अर्थ कुछ ऐसा हो सकता है कि आचार्य समन्तभद्र ने राजा को, जो कि कट्टर शिवभक्त था, ऐसा उपदेश दिया होगा कि उसने शैव धर्म को त्यागकर जैन धर्म अपना लिया होगा और इसी बात को जनता ने ऐसा कहा होगा कि आचार्य समन्तभद्र ने तो आज शिवपिण्डी को फोड़कर उसमें चन्द्रप्रभ प्रकट कर दिये। चन्द्रप्रभ इसलिए, क्योंकि यह घटना चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि चन्द्रपुरी वाराणसी में घटित हो रही थी।



प्रकीर्णक

स्याद्वादमंगलम्

स्याद्वाददाय नमस्तुभ्यं, भाषादोषनिवारिणे।
सप्तभंगविधानेन, पूर्णसत्यप्रकाशिने॥
स्याद्वादो मंगलं लोके, स्याद्वादो लोकोत्तमः।
स्याद्वादः शरणं सम्यक्, स्याद्वाददाय नमो नमः॥
स्याद्वादेनैव सिद्ध्यन्ति, सर्वे वादाः दार्शनिकाः।
लौकिके व्यवहारेऽपि, यस्य महती भूमिका॥

स्याद्वाद की जय हो

वस्तु जटिल है वचन-अगोचर, गुण अनन्त धारण करती।
उसको कैसे कहें दिखाएँ, भाषाएँ दुर्बल रहतीं॥
किन्तु जय हो स्याद्वाद की, उसे बताता दिखलाता।
श्रुतज्ञानी को केवलज्ञानी, बना परम सुख दे देता॥
स्याद्वाद ही कल्पवृक्ष है, स्याद्वाद चिंतामणि रत्न।
पारस अमृत कामधेनु सब, इसे समझने करो प्रयत्न॥
इससे सम्यग्ज्ञान मिलेगा, और ज्ञान से परमानन्द।
सकल दुःख भागेंगे सत्वर, बरसेगा अक्षय आनन्द॥
स्याद्वाद से ही सुलझे हैं, सभी दार्शनिक दुनिया के।
अरु आगे भी सुलझेंगे सब, केवल स्याद्वाद ही से॥
स्याद्वाद ही वह चाबी है, जो खोले सारे ताले।
इसके बिना ज्ञान नहीं होगा, इस बिन सब हैं मतवाले॥
लोकव्यवहार प्रवर्तक सच्चा, सुंदर विश्व बनाता है।
वचन-अगोचर जटिल तत्त्व को, कह सब द्वंद्व मिटाता है॥
सर्व विकल्प शान्त करके यह, आत्मलीन कर देता है।
स्याद्वाद तो परमामृत है, मेरा मन प्रणाम करता है॥

स्याद्वाद समझें सभी, सुलझें सबके प्राण।
वाद-विवाद सारे मिटें, सबको हो कल्याण॥

स्याद्वाद ही होली-दीवाली

स्याद्वाद की समझ दिवाली, स्याद्वाद का रंग होली।
 स्याद्वाद ही विजयादशमी, स्याद्वाद रक्षामौली॥
 स्याद्वाद को नमन हमारा, स्याद्वाद को वन्दन है।
 स्याद्वाद को नित प्रति ध्याऊँ, स्याद्वाद ही चन्दन है॥
 इससे बढ़कर पारस भी कोई, और नहीं हो सकता है।
 दुर्बल मिथ्या कथनों को भी, सबल और सम्यक् करता॥

दुःखनिवृत्ति का मन्त्र

पाश्चात्य दर्शनों का उद्देश्य जिज्ञासापूर्ति है, किन्तु भारतीय दर्शनों का उद्देश्य मात्र जिज्ञासापूर्ति नहीं है, अपितु दुःखनिवृत्ति है, क्योंकि सदा सभी के सभी प्रश्नों का उत्तर मिले—यह सम्भव नहीं है, परन्तु सदा सभी की सभी शंकाओं का समाधान अवश्य हो सकता है, सभी सदा निःशंक अवश्य हो सकते हैं और यही दुःखनिवृत्ति या आत्मशान्ति का मूल मन्त्र है।

चतुरस्रधी आचार्य समन्तभद्र

आचार्य समन्तभद्र को स्थान-स्थान पर चतुरस्रधी कहा गया है। चतुरस्रधी का अर्थ होता है— चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी। जो एक साथ कवि, गमक, वादी और वाग्मी—ये चारों हो, उसे चतुरस्रधी कहा जाता था। कवि अर्थात् जो काव्यरचना में निपुण हो। गमक अर्थात् विश्वसनीय, परामर्शदाता, Guide, मार्गदर्शक। वादी अर्थात् जो शास्त्रार्थ में कुशल हो। वाग्मी अर्थात् वाक्पटु, बात करने में चतुर।

संगति कैसी करें ?

संगति वास्तव में ही बहुत सोच-परखकर करनी चाहिए, क्योंकि उसका हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है, किन्तु विचारणीय है कि संगति कैसे व्यक्ति की करें।

सामान्यतया हम लोग महापापी, दुराचारी व्यक्तियों की संगति से तो फिर भी बच जाते हैं, किन्तु जाने-अनजाने में अन्धविश्वासी, पक्षपाती, पूर्वाग्रही, भावुक लोगों की संगति में पड़ जाते हैं और यही हमारे लिए बहुत अधिक खतरनाक सिद्ध होता है। लोक में ऐसे लोग बहुत दिखाई देते हैं, जो बड़े-बड़े-से लगते हैं, भले-भले-से लगते हैं, धर्मात्मा-से भी लगते हैं; किन्तु अन्धविश्वास, पक्षपात, पूर्वाग्रह, भावुकता आदि दोषों से ग्रस्त होते हैं। ऐसे लोग सम्यक् ज्ञान (समीचीन तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति में बड़ी बाधा सिद्ध होते हैं। ऐसे लोगों की संगति करने से हम अपने जीवन में उत्तम परीक्षक नहीं बन पाते हैं, बल्कि और अधिक अज्ञानता के गहरे गर्त में गिर जाते हैं। अतः न्यायविद्या के अनुरागियों को कभी भी ऐसे लोगों की संगति नहीं करनी चाहिए; अपितु ऐसे ही व्यक्तियों की संगति करनी चाहिए जो परीक्षाप्रिय हों।

आचार्य समन्तभद्र के विशेषण

विभिन्न शास्त्रों एवं शिलालेखों में आचार्य समन्तभद्रस्वामी का स्मरण अनेकानेक विशेषणों के साथ किया गया है, जिनमें से कतिपय प्रमुख निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं—

पंडित, आचार्य, गुणज्ञ, कवि, कवीश्वर, कविविधाता, वादी, वादिराट्, वाग्मी, गमक, भिषक्, आज्ञासिद्ध, सिद्धसारस्वत, भारतभूषण, परीक्षाप्रधानी, कलिकालसर्वज्ञ, दुर्वादिमदभंजक, तार्किकचूड़ामणि, दार्शनिक, स्तुतिकार, मांत्रिक, तांत्रिक, दैवज्ञ, महामुनीश्वर, भद्रमूर्ति।

उक्त विशेषण बताते हैं कि स्वामी समन्तभद्र का व्यक्तित्व बहुमुखी था।

अभव्य को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति

अभव्य को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती —इस कथन में भी यदि ‘सर्वथा’ लगा दिया जाए तो यह जिनशासन का कथन नहीं रहेगा, क्योंकि फिर तो किसी नाम निक्षेप वाले अभव्य को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अथवा, किसी अभव्य जीव को नाम-स्थापना निक्षेप वाला सम्यग्दर्शन भी प्राप्त नहीं हो सकेगा। अथवा, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी, जैसा कि आगम में कहा गया है। अथवा, उसे अन्य दर्शनों का सम्यग्दर्शन भी प्राप्त नहीं हो सकेगा। अथवा, अन्य भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं, अतः यहाँ भी ‘सर्वथा’ पद का प्रयोग करना स्याद्वादमय जिनशासन के विरुद्ध है।

स्याद्वाद की व्यापकता

जीवन के हर क्षेत्र में स्याद्वाद की महती उपयोगिता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ दार्शनिक दृष्टि से स्याद्वाद वचन-अगोचर अनन्तधर्मात्मक जटिल वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराता है, व्यावहारिक दृष्टि से लोकनीति के विरोधाभास को दूर कर उसे अविरोध भाव से संचालित करने की सुंदर व्यवस्था करता है और आध्यात्मिक दृष्टि से जीव को सर्व विकल्पों से ऊपर उठकर निर्विकल्प होने की अद्भुत कला सिखाता है।

सन्निकर्ष से ज्ञान नहीं होता

सन्निकर्ष को प्रमाण मानने के विरुद्ध एक ठोस तर्क ‘जयधवला’ में यह भी मिलता है कि यदि सन्निकर्ष से ज्ञान होता हो तो अवयव का ही ज्ञान होना चाहिए, अवयवी का कैसे होता है? घट, स्तम्भ आदि के एक अवयव को देखकर मात्र उसी अवयव का ज्ञान होना चाहिए था, पूर्ण घट या पूर्ण स्तम्भ का नहीं। किन्तु वह होता है इससे सिद्ध होता है कि सन्निकर्ष से ज्ञान नहीं होता है। —जयधवला, पुस्तक 1, पृष्ठ 41

षड्दर्शन काल्पनिक भी हो सकते हैं

बहुत-से लोगों को ऐसी जिज्ञासा होती है कि सांख्य आदि षड्दर्शनों के अनुयायी वर्तमान में कौन हैं, कहाँ पाए जाते हैं, कितनी जनसंख्या में हैं, इत्यादि; किन्तु मैं समझता हूँ कि इनको हम जरा थोड़ी देर के लिए काल्पनिक समझ लें तो भी कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि कुछ सुविधा ही है, क्योंकि इनके माध्यम से हम निःसंकोच मिथ्या मान्यताओं का निराकरण/समीक्षण कर पा रहे हैं। वैसे भी बाहर में इनके होने न होने से क्या फर्क पड़ता है, हमारी मान्यता में तो ये हैं ही और हमें हमारी उस मिथ्या मान्यता को ही तो ठीक करना है। अपनी एकान्तरूप विविध मान्यताओं को दूर करने के लिए षड्दर्शन बहुत अच्छे माध्यम हैं।

केवलज्ञान असिद्ध नहीं है

केवलज्ञान या सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए ‘जयधवला’, पुस्तक 1, पृष्ठ संख्या 40 से 60 तक भी पठनीय हैं। वहाँ अनेक तर्कों से केवलज्ञान की सिद्धि की गई है। कहा गया है कि केवलज्ञान असिद्ध नहीं है, क्योंकि उसके अंश की स्वसंवेदन से निर्बाध उपलब्धि देखी जाती है। यह अवयव अपने अवयवी की सिद्धि करता है। तथा हमारे ज्ञान में होनेवाली वृद्धि-हानि अकारण नहीं हो सकती। इससे भी केवलज्ञान की सिद्धि होती है। तथा एक तर्क यह भी महत्त्वपूर्ण दिया है कि जिसप्रकार दाह्य-दाहक के बीच के सभी प्रतिबन्धक कारण हटा दिए जाएँ तो दाहक (अग्नि) समस्त दाह्य (ईंधन) को अवश्य ही जलाती है, उसीप्रकार ज्ञेयभूत सभी पदार्थों और ज्ञान के बीच के सभी प्रतिबन्धक कारण हटा दिए जाएँ तो ज्ञान सभी ज्ञेयों को अवश्य ही जानेगा।

न्यायशास्त्र में अन्य दर्शनों की मुख्यता से कथन होता है

न्यायशास्त्र को पढ़ते समय एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि उसमें अन्य दर्शनों की मुख्यता से कथन होता है, जैसा कि द्रव्यसंग्रह-टीका में भी स्पष्ट कहा है—

‘तर्क मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानम्।’ —ब्रह्मदेवसूरि, बृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका, 44

परीक्षा हर आत्मा का स्वभाव है

परीक्षा करना वास्तव में हर आत्मा का स्वभाव है। एक चींटी भी नमक और मिश्री में अंतर जानती है। एक वृक्ष भी भले-बुरे स्पर्श में अंतर जानता है। हम सब भी परीक्षा करना जानते हैं, किन्तु पक्षपात, भावुकता, अन्धविश्वास आदि दोषों से आच्छादित होने के कारण सही परीक्षा नहीं कर पाते हैं। यदि न्यायशास्त्र का अभ्यास करके इन दोषों से मुक्त होने की कला सीख ली जाए तो सच्ची परीक्षा करना कठिन नहीं है, सरल ही है।

कौआ काला नहीं होता

कौआ काला नहीं होता। कौआ तो कौआ होता है। यदि कौआ काला हो तो कौआ और काला दोनों एक हो जाएँ; जो जो कौआ है, वह सब काला हो जाए, उसके रुधिर, पित्त, अस्थि आदि भी काले हो जाएँ; तथा जो जो काला है वह सब भी कौआ हो जाए, कोयला आदि भी कौआ हो जाएँ। अतः वास्तव में देखा जाए तो कौआ कौआ है और काला काला है। कौआ काला नहीं है और काला कौआ नहीं है। वही धवल, जयधवल एवं तत्त्वार्थवार्तिक में कहा भी है। यथा—

‘काकश्च काकात्मकः, न कृष्णात्मकः, तत्पित्तास्थिरुधिराणामपि कृष्णतापत्तेः।’

—जयधवल, पुस्तक 1, पृष्ठ 206

सत्य और असत्य में इतना ही अंतर है

कुछ लोग कहते हैं कि सत्य और असत्य में बहुत बड़ा अंतर होता है, परन्तु आचार्य समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थों में बारम्बार सिद्ध किया है कि सत्य और असत्य कथन में केवल इतना ही अंतर होता है कि सत्य कथन में ‘स्यात्’ शब्द लगा होता है और असत्य कथन में ‘सर्वथा’ शब्द लगा होता है। प्रमाणस्वरूप उनकी एक निम्नलिखित पंक्ति सूत्र के समान समझी जा सकती है—

सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितिह ते। —‘बृहत्सवयम्भूस्तोत्र’, कारिका 101

अर्थात् सर्वथा लगाने से बात दूषित हो जाती है और स्यात् लगाने से वही बात भलीभाँति पुष्ट हो जाती है।

खण्डन करना चाहिए ?

जैन दर्शन किसी का खण्डन नहीं करता। वह तो केवल खण्डन का ही खण्डन करता है। विद्वान् हैं वे जीव जो जैन दर्शन की इस महत्त्वपूर्ण विशेषता को पहिचानते हैं।

चारों अनुयोगों में न्याय भरा है

वैसे तो न्याय को द्रव्यानुयोग में गिना जाता है, किन्तु वास्तव में देखा जाए तो चारों ही अनुयोगों में न्याय भरा है। चारों ही अनुयोग हमें हिताहित, पुण्यपाप, कार्याकार्य आदि की परीक्षा करना सिखाते हैं। प्रथमानुयोग नायक-खलनायक आदि के माध्यम से परीक्षा करना सिखाता है, चरणानुयोग भक्ष्य-अभक्ष्य आदि के माध्यम से परीक्षा करना सिखाता है और करणानुयोग गुणस्थान आदि के माध्यम से परीक्षा करना सिखाता है, उसकी सर्वज्ञता या आप्तोपज्ञता भी न्याय का ही विषय है। इसीप्रकार न्याय की आवश्यकता भी केवल द्रव्यानुयोग को ही समझने के लिए नहीं है, अपितु चारों अनुयोगों को समझने के लिए है।

भेदविज्ञान भी परीक्षा का ही दूसरा नाम है

शास्त्रों में भेदविज्ञान की अद्भुत महिमा गाई गई है। कहा गया है कि आज तक जितने भी जीव मुक्त हुए हैं, वे सब एक भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी जीव संसार में बँधे हैं, वे सब एक भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं (—समयसारकलश, 131)। किन्तु यह भेदविज्ञान भी वास्तव में परीक्षा या न्याय का ही दूसरा नाम है। न्याय के द्वारा ही स्व और पर, स्वभाव और विभाव, ज्ञान और राग इत्यादि को उनके निर्दोष (समीचीन) लक्षण जानकर पृथक्-पृथक् पहिचाना जा सकता है, जो भेदविज्ञान का मूलाधार है।

ज्ञान का फल आनन्द है

शास्त्रों में ज्ञान या प्रमाण का फल अज्ञाननिवृत्ति और हान-उपादान-उपेक्षा बताया है, पर क्या कभी हमारा ध्यान गया कि यह अज्ञाननिवृत्ति और हान-उपादान-उपेक्षा वास्तव में अन्य कुछ नहीं है, अपितु आनन्द ही है। ज्ञान या प्रमाण का फल वास्तव में आनन्द ही है। यही आचार्य पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि 1/10 में शंका-समाधानपूर्वक भलीभाँति स्पष्ट करके कहा है। यथा— “ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति। नैष दोषः, अर्थाधिगमे प्रीतिर्दर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते। सा फलमित्युच्यते।”

चरणानुयोग भी वस्तुतः परीक्षा करना ही सिखाता है

परीक्षा की बात केवल द्रव्यानुयोग में या न्यायशास्त्र में ही नहीं है, अपितु सर्वत्र है, चारों अनुयोगों में है। चरणानुयोग भी वास्तव में हमको परीक्षा करना ही सिखाता है। कहता है कि तुम स्वयं विचार करके निर्णय करो कि कैसा आहार, विहार आदि उचित है और कैसा आहार, विहार आदि अनुचित है, किससे पापबन्ध होता है और किससे पापबन्ध नहीं होता है। सम्पूर्ण आचार की यही एक कसौटी है। ‘मूलाचार’ में साफ कहा है कि—

कथं चरे कथं चिट्ठे, कथमासे कथं सये ।

कथं भासेज्ज भुंजेज्ज, जेण पावं ण बंधई ॥ —10/121

जथं चरे जथं चिट्ठे, जथमासे जथं सये ।

जथं भासेज्ज भुंजेज्ज, जेण पावं ण बंधई ॥ —10/122

अर्थात् हमने तुम्हें कसौटी बता दी है, अब तुम स्वयं निर्णय करो कि कैसे खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, सोना आदि कार्य करने हैं; जैसे पाप न बंधे वैसे ही करो।

खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, सोना आदि सभी क्रियाओं में यदि एक ‘विवेकपूर्वक’ या ‘परीक्षापूर्वक’ विशेषण जोड़ दिया जाए तो वह चरणानुयोग की क्रिया बन जाएगी, ज्ञानी की क्रिया बन जाएगी।

प्रयत्नपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए

तं परीक्षयात्र गृह्णन्ति, प्रेक्षावंतः प्रयत्नतः।
वंचनाभयतो रत्नं, यथा रत्नपरीक्षकः॥

—आचार्य नरेन्द्रसेन, सिद्धान्तसारसंग्रह, 1/16

अर्थ— जैसे रत्न को खरीदने वाला व्यक्ति वंचना के भय से उसे भलीभाँति परीक्षा करके ही खरीदता है, उसी प्रकार बुद्धिमान लोग धर्म को भी भलीभाँति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

कथा-साहित्य भी वस्तुतः परीक्षा करना ही सिखाता है

सच पूछो तो प्रथमानुयोग या कथा-साहित्य भी हमको परीक्षा करना ही सिखाता है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से एकदम स्पष्ट है—

अपरीक्षितं न कर्तव्यं, कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चादभवति सन्तापो, ब्राह्मणी नकुलं यथा ॥

—रत्नकीर्ति, आराधनासार-टीका, 49

अर्थ— हमें कभी भी अपरीक्षित कार्य नहीं करना चाहिए, अपितु अच्छी तरह परीक्षा करके ही करना चाहिए; क्योंकि जो व्यक्ति अपरीक्षित कार्य करते हैं, उन्हें बाद में बहुत सन्ताप होता है, जैसे कि ब्राह्मणी को नकुल को मारने के बाद हुआ था।

कथा-साहित्य में इसी प्रकार की और भी अनेकानेक कहानियाँ हैं, जो वास्तव में हमको परीक्षाप्रधानी बनाने के लिए ही लिखी गई हैं। (गन्ना खाने की कहानी)

सूर्य पूर्व दिशा में निकलता है?

सूर्य पूर्व दिशा में निकलता है? हाँ, परन्तु स्यात्, सर्वथा नहीं। यदि सर्वथा निकलता हो तो नरकों में भी निकले, स्वर्गों में भी निकले, मध्यलोक में ढाई द्वीप के बाहर भी निकले, ढाई द्वीप में भी रात को भी निकले, शाम को भी निकले, दोपहर में भी निकले, स्वप्न या चित्र का सूर्य भी सदा पूर्व दिशा में ही निकले, इत्यादि। अतः सूर्य सर्वथा पूर्व दिशा में निकलता है —ऐसा मानना एकांतवाद है।

सिद्ध भगवान सुखी हैं?

सिद्ध भगवान सुखी हैं? हाँ, परन्तु स्यात्, सर्वथा नहीं। यदि सर्वथा सुखी हों तो भूत नैगम नय से भी सुखी ठहरें। अथवा— अन्य गुणों की अपेक्षा भी सुखी ठहरें और तब उनके अन्य सर्व गुणों का अभाव सिद्ध हो, वे ज्ञानी आदि न रहें। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, अतः सिद्ध भगवान को सर्वथा सुखी कहना/मानना एकांतवाद है।

सहायता या व्यवधान?

आचार्य माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख, सूत्र 2/4 में ‘सहायता’ के लिए ‘व्यवधान’ शब्द का प्रयोग किया है। यथा— प्रतीत्यन्तराव्यवधाननेन..इति।

विचारणीय है कि क्या सहायता और व्यवधान —ये दोनों शब्द एकार्थक हैं, पर्यायवाची हैं। परमार्थ से चिंतन करें तो ज्ञात होता है कि हाँ, वास्तव में कोई किसी की सहायता नहीं करता, सहायता के नाम पर जो कुछ करता है वह व्यवधान ही है। सहायता करने और पाने की अभिलाषा ही सुख के मार्ग में बड़ा व्यवधान है।

स्ववचनबाधित प्रतिज्ञा के उदाहरण

मेरी माता वन्ध्या है, मेरे पिता बाल ब्रह्मचारी हैं, मेरी पत्नी विधवा हो गई है, मैं अभी सो रहा हूँ, मेरा आज मौन व्रत है, सामने देखो कितना अँधेरा है कुछ भी नहीं दिख रहा; इत्यादि अनेक कथन जिस प्रकार स्ववचनबाधित कथन हैं; उसी प्रकार ‘आत्मा नहीं है’ या ‘मैं नहीं हूँ’ —ऐसा कहना भी स्ववचनबाधित कथन है। तथा ‘वस्तु सर्वथा अवाच्य है’ —ऐसा कहना भी स्ववचनबाधित कथन है।

दोषाः वाच्या गुरोरपि

‘शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः दोषाः वाच्या गुरोरपि’ (महाभारत, विराट पर्व, 51/15) —इस सूक्ति के दोनों चरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ‘शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः’ —यह तो महत्त्वपूर्ण है ही, इसका महत्त्व तो हम सब जानते ही हैं, किन्तु ‘दोषाः वाच्या गुरोरपि’ —यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसकी ओर प्रायः हमारा ध्यान नहीं जाता; क्योंकि सामान्य अपेक्षा से हम सब यही उपदेश निरन्तर सुनते-सुनाते आ रहे हैं कि हमें कभी भी किसी के दोष नहीं देखने चाहिए, मात्र गुण ही देखने चाहिए; परन्तु यहाँ तो दोषों को भी देखने की प्रेरणा दी जा रही है। न केवल देखने की, उनको कहने की भी प्रेरणा दी जा रही है। तथा वह भी किसी सामान्य व्यक्ति के नहीं, अपितु अपने गुरु तक के भी। अतः यह बात बहुत ही सावधानी से समझने योग्य है। इसे वास्तव में कोई न्यायशास्त्र का विद्यार्थी ही भलीभाँति समझ सकता है। उसी में ऐसा साहस और कौशल हो सकता है कि वह गुरु के भी दोषों को कह सके, समझ सके, त्याग सके। अन्यथा या तो लोग गुरुनिन्दा का पाप अर्जित कर लेते हैं या फिर गुरु के प्रभाव में इतने अधिक आ जाते हैं कि उनके दोषों को देखना-समझना एवं उनकी समीक्षा करना तो दूर, उन्हें भी अपने जीवन में अपना लेते हैं। ऐसा बहुत बार देखा गया है कि शिष्यगण अपने गुरु के दोषों का भी अनुकरण कर लेते हैं, उनसे मुक्त नहीं रह पाते हैं। ‘दोषाः वाच्या गुरोरपि’ —उक्ति हमें इसी खतरे से बचाने का महान कार्य कर रही है और हमारे अन्दर एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण विकसित कर रही है।

विभिन्न मतों में प्रमाण का लक्षण

- सांख्य— इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम् ।
 प्राभाकर— प्रमातृव्यापारः प्रमाणम् ।
 भाट्ट— अनधिगतार्थाधिगन्तु प्रमाणम् ।
 सौगत— अविसंवादिज्ञानं प्रमाणम् ।
 यौग (न्यायवैशेषिक)— प्रमाकरणं प्रमाणम् ।
 जयन्त— कारकसाकल्यं प्रमाणम् ।
 लघु नैयायिक— सन्निकर्षः प्रमाणम् ।
 जरन्नैयायिक— कारकसाकल्यं प्रमाणम् ।
 वेदान्त— प्रमाकरणं प्रमाणम् ।
 चार्वाक— इन्द्रियप्रत्यक्षमेव प्रमाणम् ।
 जैन— स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।

ज्ञानप्राप्ति के चार चरण

अनेक बार हमें ऐसी घबराहट होती है कि यह विषय मेरी समझ में क्यों नहीं आ रहा है, किन्तु हमें बहुत अधिक नहीं घबराना चाहिए, थोड़ा धैर्य भी रखना चाहिए, क्योंकि कुछ बातें समय से ही समझ में आती हैं —ऐसा सभी आचार्यों का कहना है। यथा—

आचार्यः पादमाचष्टे, पादः शिष्य स्वमेधया ।

तद्विज्ञसेवया पादः, पादः कालेन पच्यते ॥

—आचार्य वीरसेन, धवला, पुस्तक 12, पृष्ठ 171

अर्थ— ज्ञान का एक पाद गुरु देते हैं, दूसरा पाद शिष्य अपनी मेधा से प्राप्त करता है, तीसरा पाद उस विषय के ज्ञाताओं की सेवा से प्राप्त होता है और चौथा पाद समय आने पर स्वतः प्राप्त होता है।

न्यायप्रिय व्यक्ति का व्यवहार

एक बार की बात है। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद देर रात को पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिलने दिल्ली उनके घर गये, किन्तु उनके गार्ड ने उनको अन्दर नहीं जाने दिया, कहा कि साहब सो चुके हैं, उन्हें जगाने की मनाही है, आपके आने की कोई पूर्वसूचना भी नहीं है। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद को पूरी रात सर्दी में बाहर प्रतीक्षा करते बितानी पड़ी। प्रातःकाल होने पर नेहरूजी गार्ड को बहुत जोर से डांटने लगे, किन्तु राजेन्द्रप्रसाद बोले— नहीं, इसकी कोई गलती नहीं है, इसने तो बल्कि अपनी ड्यूटी को ही निष्ठा से निभाया है, अतः वास्तव में तो यह पुरस्कार के योग्य है। और उन्होंने गार्ड का वेतन बढ़वा दिया।

सूत्र, वृत्ति, वार्तिक आदि का स्वरूप

न्यायशास्त्र के अनेक ग्रन्थ सूत्ररूप होते हैं, अनेक ग्रन्थ वृत्तिरूप होते हैं, अनेक ग्रन्थ वार्तिकरूप होते हैं, अनेक ग्रन्थ भाष्यरूप होते हैं, अनेक ग्रन्थ कारिकारूप होते हैं, इत्यादि। परन्तु इनके स्वरूप में क्या विशेष अंतर होता है—यह ठीक से समझ में नहीं आता। हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे इसप्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

“कम से कम शब्दों में जब अधिक से अधिक अर्थ प्रकट करने की कोशिश की जाती है तो इन छोटे-छोटे वाक्यों को सूत्र कहते हैं। जिसमें सूत्रों के सार मर्म बताये जाते हैं उसे वृत्ति कहते हैं। सूत्र और वृत्ति के परीक्षण को पद्धति कहते हैं। सूत्र और वृत्ति में बताये गये सिद्धांतों पर आक्षेप करके फिर उनका समाधान करके उन सिद्धांतों के स्पष्टीकरण को भाष्य कहते हैं। भाष्य के बीच में जो विषय प्रकृत हो उसे त्यागकर और दूसरे उसी से सम्बद्ध अप्रकृत विषयों का जो विचार किया जाता है उसे समीक्षा कहते हैं। इन सबमें बताये गये विषयों का टीकन या उल्लेख जिसमें हो उसे टीका कहते हैं। सिद्धांत मात्र का जिसमें प्रदर्शन हो उसे कारिका कहते हैं और मूल ग्रन्थ के कथन के औचित्य विचार को वार्तिक कहते हैं।”

—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 21

स्याद्वाद अमृत भोजन है

जैन दर्शन स्याद्वादी दर्शन है। इसके प्रत्येक वाक्य में ‘स्यात्’ शब्द लगा होता है। जो लोग जैन होकर भी ‘स्यात्’ शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं, वे अमृत-भोजन को छोड़कर विष-भक्षण करते हैं। वही कहा भी है—

सियसद्वेण विणा इह, विसयं दोण्हं पि जे वि गिण्हंति।

मोत्तूण अमियभोज्जं, विसभोज्जं ते विभुंजंति॥

—आचार्य माइल्लधवल, नयचक्र, 71

जो भी कोई व्यक्ति स्यात् शब्द के बिना प्रमाण या नय के विषय को ग्रहण करते हैं, वे लोग अमृत के भोजन को छोड़ कर विष भक्षण करते हैं।

‘प्रमाणादर्थसंसिद्धि’ में बहुत अर्थ भरा है

परीक्षामुख का प्रथम पद ‘प्रमाणादर्थसंसिद्धि’ एक बहुत ही अर्थगर्भित कथन है। इसमें तीन शब्द आये हैं— प्रमाण, अर्थ एवं संसिद्धि। तीनों के ही अनेक-अनेक अर्थ हैं। जैसे— ‘प्रमाण’ शब्द के अर्थ हैं— सम्यग्ज्ञान, आत्मा, आप्त, देव-शास्त्र-गुरु आदि। ‘अर्थ’ शब्द के अर्थ हैं— पदार्थ, प्रयोजन आदि। ‘संसिद्धि’ शब्द के अर्थ हैं— समीचीन सिद्धि, जानकारी, प्राप्ति, दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य आदि। हमें इन सब पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए, तभी इस पद का पूर्ण अर्थ, विशेष रहस्य समझ में आ सकता है।

स्यात्कार और एवकार का महत्त्व

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक ग्रन्थों में स्पष्ट कहा है कि ज्ञानियों के प्रत्येक वचन में स्यात्कार और एवकार का प्रयोग होता ही है, वे न कहें तो भी समझ लेना कि वे दोनों हैं ही। विचारणीय है कि आखिर ये दोनों निपात प्रत्येक वाक्य में क्यों अनिवार्य हैं और क्या कार्य करते हैं।

समाधान— स्यात्कार अनुक्त धर्मों की स्वीकृति कराता है, वस्तु को अपूर्ण या खण्डित नहीं होने देता और एवकार उसमें अनिष्ट अर्थ को नहीं जुड़ने देता, इष्ट अर्थ को दुर्बल नहीं रहने देता। यदि स्यात्कार को नहीं मानेंगे तो वस्तु स्व से एकत्व नहीं रहेगी और यदि एवकार को नहीं मानेंगे तो पर से विभक्त नहीं रहेगी। एकत्व-विभक्त सत्य के दर्शन हेतु स्यात्कार और एवकार दोनों का प्रयोग अनिवार्य है।

सामान्यतः कहा जा सकता है कि स्यात्कार मुख्यतः मण्डन करता है और एवकार मुख्यतः खण्डन करता है।

तज्ज्योति परंज्योति

अरिहंत भगवान भी अद्भुत ज्योति हैं। उनके पास तीन ज्योति हैं— वाग्ज्योति, देहज्योति और ज्ञानज्योति। उनकी वाग्ज्योति सप्ततत्त्व को प्रकाशित करनेवाली है, उनकी देहज्योति जीवों के सप्तजन्मों को प्रकाशित करनेवाली है और उनकी ज्ञानज्योति सप्तभंगात्मक तत्त्व को प्रकाशित करनेवाली है। वही कहा है—

यद्वाग्ज्योतिः सप्ततत्त्वप्रकाशि, देहज्योतिः सप्तजन्मावभासि।

ज्ञानज्योतिः सप्तभंगात्मभासि, ज्योतीरूपः सोस्तु मे मोहनाशी ॥

—सर्वोपयोगीश्लोकसंग्रह, (अजितसागरजी, सम्पादक डॉ. पन्नालालजी)

अर्थ— जिसकी वाग्ज्योति सप्ततत्त्व को प्रकाशित करनेवाली है, जिसकी देहज्योति सप्तजन्मों को अवभासित करनेवाली है और जिसकी ज्ञानज्योति सप्त-भंगात्मक तत्त्व को प्रकाशित करनेवाली है, वह ज्योतिस्वरूप देव मेरा मोह नाश करे।

आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अमृतचन्द्र

आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अमृतचन्द्र में प्रायः बहुत अधिक भिन्नता समझी जाती है। आचार्य समन्तभद्र न्याय के शिरोमणि विद्वान् समझे जाते हैं और आचार्य अमृतचन्द्र अध्यात्म के शिरोमणि विद्वान् समझे जाते हैं। एक एकदम तार्किक एवं नीरस समझे जाते हैं और दूसरे एकदम आध्यात्मिक एवं सरस। प्रायः लोग इन दोनों में पूर्व-पश्चिम जैसा अंतर समझते हैं। परन्तु यदि गहराई से देखें तो दोनों में बड़ी भारी समानता है, इतनी अधिक कि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू लगते हैं, क्योंकि दोनों ही वस्तुतः अध्यात्म एवं न्याय दोनों से समन्वित जैनविद्या के मूर्धन्य आचार्य हैं। कोई भी केवल न्याय अथवा केवल अध्यात्म का विद्वान् नहीं है। दोनों

ही आचार्यों के यहाँ दोनों विषयों का मणिकांचन संयोग है। आचार्य समन्तभद्र ने न्याय के आचार्य होते हुए भी एक पल को भी अध्यात्म का पल्ला नहीं छोड़ा है और आचार्य अमृतचन्द्र ने अध्यात्म के आचार्य होते हुए भी एक पल को भी न्याय का पल्ला नहीं छोड़ा है। दरअसल जैन विद्या है ही ऐसी, न्याय और अध्यात्म से समन्वित, किन्तु जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते, वे आज या तो अकेले आचार्य समन्तभद्र को पढ़ते हैं या अकेले आचार्य अमृतचन्द्र को। जो आचार्य समन्तभद्र को पढ़ते हैं वे आचार्य अमृतचन्द्र को नहीं पढ़ते हैं और जो आचार्य अमृतचन्द्र को पढ़ते हैं वे आचार्य समन्तभद्र को नहीं पढ़ते। यह बड़ी विडम्बना है। जिस दिन इन दोनों का समन्वय होगा उस दिन जैन दर्शन ठीक से समझ में आएगा, जैन दर्शन की आराधना और प्रभावना दोनों ही बहुत उन्नति करेगी।

जन्मना क्षत्रिय और पंचाक्षरी नामवाले ये दोनों आचार्य जैन विद्या के सूर्य-चन्द्र हैं। इन दोनों ने न्याय का पुष्ट आधार देकर जैन धर्म-दर्शन-अध्यात्म की रक्षा करने में जो अप्रतिम योगदान दिया है, वह कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। ध्यान से देखा जाए तो इन दोनों आचार्यों की भाषा-शैली भी लगभग समान ही है। दोनों के ग्रन्थों में अनेक श्लोक समान भाव एवं भाषा वाले उपलब्ध होते हैं। भक्ति-अध्यात्म-न्याय की पावन मन्दाकिनी प्रवाहित करने वाले ये दोनों आचार्य हमारे आदर्श बनें। ❖❖

न्याय में किसी का भी पक्षपात नहीं चलता

बन्धुर्न स भगवान् रिपवोऽपि नान्ये,
साक्षात् न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषां।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं,
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः॥

—(हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय 1/32)

अर्थ— ये वीर (महावीर) भगवान् मेरे कोई बन्धु नहीं हैं और अन्य कोई मेरे शत्रु नहीं हैं। मैंने तो इनमें से किसी को साक्षात् देखा तक नहीं है। परन्तु उनके वचनों को सुनकर और उनमें अलग ही विशेषता देखकर गुणातिशयता की लाभ-भावना से वीर भगवान् का आश्रय लिया है।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

—(हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38)

अर्थ— मुझे वीर (महावीर) से कोई पक्षपात नहीं है और कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है, परन्तु जिसके वचन युक्तिसंगत हों, उसी का ग्रहण करना चाहिए।

जैन न्याय का संक्षिप्त लक्षणकोश

किसी भी विषय को भलीभांति समझने-समझाने का प्रथम सोपान होता है—लक्षणज्ञान। यदि वही नहीं है तो आगे की सारी बात निरर्थक या अनर्थक हो जाती है। अतः यदि हमें अपनी बात को सफल-सार्थक बनाना है तो सर्वप्रथम लक्षण जानना चाहिए। न केवल जानना चाहिए, उसे कंठस्थ भी करना चाहिए, ताकि आगे होने वाले सम्पूर्ण विवेचन को स्पष्ट रूप से समझा जा सके।

लक्षणज्ञान की ऐसी ही महती उपयोगिता का विचार कर यहाँ एक जैन न्याय का संक्षिप्त लक्षणकोश प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, इससे जैन न्याय के विद्यार्थियों को बड़ा लाभ होगा।

इस लक्षणकोश में कुछ अति आवश्यक लक्षणों का ही संग्रह किया जा रहा है, तथा उनमें भी केवल एक-एक प्रसिद्ध लक्षण का ही संग्रह किया जा रहा है, जबकि शास्त्रों में अनेक-अनेक लक्षण भी किञ्चित् भाषादि-परिवर्तन के साथ उपलब्ध होते हैं, अतः इन्हें तो हम सबको अवश्य ही कंठस्थ कर लेना चाहिए, इनसे विषय को समझने में बड़ी सुविधा होगी और इनके बिना बड़ी असुविधा होगी।

सभी लक्षण संस्कृत भाषा में ही यथावत् रखे गये हैं, क्योंकि अनुवाद में वह बात नहीं आ पाती है। लक्षणों को मूलतः ही कंठस्थ करना उचित रहता है। तथापि जिन्हें उनका हिन्दी-अनुवाद देखने की अभिलाषा हो, वे ‘न्यायमन्दिर’ पुस्तक में देख लें, वहाँ सब लिखा जा चुका है।

सभी लक्षण यहाँ वर्णानुक्रम से प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यथा—

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास— ‘अप्रयोजको हेतुरकिञ्चित्करः।’ —(न्यायदीपिका, 3/63)

अतिव्याप्त— ‘लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्।’ —(न्यायदीपिका, 1/5)

अनध्यवसाय— ‘किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः।’ —(न्यायदीपिका, 1/9)

अनुमान— ‘साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/14)

अनेकांत— ‘एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।’
—(समयसारटीका आत्मख्याति, कलश 247 के बाद)

- अनैकान्तिक**— ‘पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः ।’ —(न्यायदीपिका, 3/62)
- अवग्रह**— ‘इन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनानन्तरभावी सत्तावांतर-जातिविशिष्टवस्तुग्रही ज्ञानविशेषोऽवग्रहः ।’ —(न्यायदीपिका, 2/11)
- अवाय**— ‘विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः ।’ —(न्यायदीपिका, 2/11)
- अव्याप्त**— ‘लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम् ।’ —(न्यायदीपिका, 1/5)
- असम्भव**— ‘बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि ।’ —(न्यायदीपिका, 1/5)
- असिद्ध**— ‘असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 6/22)
- आगम**— ‘आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम् 3/82)
- आगमाभास**— ‘रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 6/51)
- आत्मभूत**— ‘यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम् । यथाग्नेरौष्ण्यम् ।’ —(न्यायदीपिका, 1/4)
- अनात्मभूत**— ‘तद्विपरीतमनात्मभूतम् । यथा दण्डः पुरुषस्य ।’ —(न्यायदीपिका, 1/4)
- आप्त**— ‘यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः ।’ —(प्रमेयरत्नमाला, 3/95)
- ईहा**— ‘अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिरासाय यत्नमीहा ।’ —(न्यायदीपिका, 2/11)
- उद्देश**— ‘विवेक्तव्यवस्तुनाममात्रकथनमुद्देशः ।’ —(न्यायदीपिका, 1/3)
- उपनय**— ‘हेतोरुपसंहारः उपनयः ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/46)
- तर्क**— ‘व्याप्तिज्ञानं तर्कः ।’ —(न्यायदीपिका, 3/15)
- तर्काभास**— ‘असंबद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 6/1)
- धारणा**— ‘कालान्तराविस्मरणयोग्यतया तस्यैव ज्ञानं धारणा ।’ —(न्यायदीपिका, 2/11)
- नय**— ‘अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः ।’ —(प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 676)
- नय**— ‘प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः ।’ —(धवला, 1/1/1/1, पृष्ठ 83)
- निगमन**— ‘प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/47)
- नैगम**— ‘तत्र संकल्पमात्रग्राहको नैगमो नयः ।’ —(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1/33)
- न्याय**— ‘नयप्रमाणात्मको न्यायः ।’ —(प्रमेयरत्नमाला, टिप्पण-2, पृष्ठ 3)
- परीक्षा**— विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा । —(न्यायदीपिका, 1/6)
- परोक्ष**— ‘अविशदप्रतिभासं परोक्षम् ।’ —(न्यायदीपिका, 3/1)

- पारमार्थिक प्रत्यक्ष**— ‘सर्वतो विशदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम् ।’ —(न्यायदीपिका, 2/13)
- प्रतिज्ञा**— ‘पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा ।’ —(न्यायदीपिका, 3/33)
- प्रत्यक्ष**— ‘विशदं प्रत्यक्षम् ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 2/3)
- प्रत्यभिज्ञान**— ‘दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/5)
- प्रमाण**— ‘सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।’ —(न्यायदीपिका, 1/8)
- प्रामाण्य**— ‘प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वम् ।’ —(न्यायदीपिका, 1/18)
- बाल**— ‘ये यत्रानभिज्ञास्ते तत्र बालाः ।’ —(न्यायदीपिका, टिप्पण, मंगलाचरणश्लोक)
- युक्ति**— ‘सुणयपमाणा जुत्ती ।’ —(माइल्लधवल, नयचक्र, 261)
- लक्षण**— ‘व्यतिकर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् ।’ —(न्यायदीपिका, 1/3)
- विकलप्रत्यक्ष**— ‘तत्र कतिपयविषयं विकलम् ।’ —(न्यायदीपिका, 2/13)
- विचार**— ‘प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ।’
—(सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत 15/2)
- (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम से यथावस्थित वस्तु का सही ज्ञान करने को विचार कहते हैं ।)
- विचारज्ञ**— ‘स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ।’
—(सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत 15/6)
- (वही पुरुष विचारशील है जो प्रत्यक्ष उपलब्ध वस्तु को भी भलीभाँति परीक्षा करके जानता है ।)
- विजिगीषु कथा**— ‘वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा ।’ —(न्यायदीपिका, 3/36)
- विपर्यय**— ‘विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः ।’ —(न्यायदीपिका, 1/9)
- विरुद्ध हेत्वाभास**— ‘साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः ।’ —(न्यायदीपिका, 3/61)
- वीतराग कथा**— ‘गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णय-पर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा ।’ —(न्यायदीपिका, 3/36)
- वैशद्य (विशदता)**— ‘प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।’
—(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/4)
- व्याप्ति**— ‘साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्ध-विशेषो व्याप्तिः ।’ —(न्यायदीपिका, 3/15)
- संशय**— ‘विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः ।’ —(न्यायदीपिका, 1/9)
- सकल प्रत्यक्ष**— ‘सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम् ।’ —(न्यायदीपिका, 2/14)

- सप्तभंगी**— ‘प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी ।’
—(तत्त्वार्थवार्तिक, 1/6)
- सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष**— ‘इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतो सांव्यवहारिकम् ।’
—(परीक्षामुखसूत्रम्, 2/5)
- साधन (हेतु)**— ‘साध्याविनाभावित्वेन निश्चतो हेतुः ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/11)
- साध्य**— ‘इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/16)
- स्मृति**— ‘संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/3)
- स्याद्वाद**— ‘अनेकान्तात्मार्थकथनं स्याद्वादः ।’
—(लघीयस्त्रय, कारिका 62 की टीका)
- हेतु**— ‘साध्याविनाभावित्वेन निश्चतो हेतुः ।’ —(परीक्षामुखसूत्रम्, 3/11)
- हेत्वाभास**— ‘हेतुलक्षणरहिताः हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः ।’
—(न्यायदीपिका, 3/60)
- जैन न्याय की कतिपय प्रमुख व्युत्पत्तियाँ-**
- अनेकान्त**— ‘अनेके अन्ताः धर्माः सामान्यविशेषगुणाः यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः ।’
—(न्यायदीपिका 3/78)
- प्रत्यक्ष**— ‘अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिकं प्रत्यक्षमिति ।’
—(न्यायदीपिका 2/19)
- प्रमाण**— ‘प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् ।’
—(प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 1/1/1 —प्रमेयरत्नमाला, सूत्र 1/1, पृष्ठ 14)
- न्याय**— ‘नितरामीयते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः ।’ —(प्रमेयरत्नमाला, टिप्पण-2, पृष्ठ 3)
- स्याद्वाद**— ‘स्यात्पदेन वदनं स्याद्वादः ।’



जमीन से पहले मीटर नापना उचित है

“प्रो. मेक्समूलर अपने "Systems of Indian Philosophy" में न्यायदर्शन की चर्चा करते हुए एक बात कहते हैं कि भारतीय दार्शनिक प्रमेय तत्त्व की चर्चा करने से पहले प्रमाण तत्त्व की चर्चा कर लेते हैं। यदि सर्वत्र यह मार्ग अपनाया जाता तो बहुत सी गलतफहमियाँ दूर हो जाती।”

—पं. सुखलाल संघवी, भारतीय तत्त्वविद्या, पृष्ठ 41
(ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, सन् 1960)

जैन न्याय का संक्षिप्त शब्दकोश

जैन न्याय वैसे ही बहुत कठिन होता है, ऊपर से कभी-कभी उसमें बड़े ही अपरिचित शब्दों का प्रयोग और आ जाता है, जिससे न्यायशास्त्र के विद्यार्थियों को बड़ी कठिनाई होती है, अतः यहाँ जैन न्याय के कतिपय कठिन शब्दों के अर्थ बतानेवाला एक अति संक्षिप्त शब्दकोश प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, इससे भी न्यायग्रन्थों के अध्ययन में कुछ सहायता मिलेगी। यद्यपि इसमें भी स्वविवेक की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि कभी-कभी प्रसंगानुसार कोई शब्द किसी भिन्न अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

अंजसा— विशद, निर्मल, स्पष्ट।

अक्ष— आत्मा, इन्द्रियां।

अखिलज्ञ— सर्वज्ञ

अधिगत— ज्ञात।

अधिगम— ज्ञान।

अध्यक्ष— प्रत्यक्ष।

अध्यवसाय— निर्णय।

अनधिगत— अज्ञात।

अनध्यवसाय— अनिर्णय।

अनभिप्रेत— अनिष्ट, अनिच्छित।

अनभिलाष्य— अकथ्य, अवाच्य।

अनभ्यस्त— अपरिचित।

अनिन्द्रिय— मन।

अनुपपन्न— अनुचित, गलत।

अनुमापक— अनुमान करानेवाला।

अनुमिति— अनुमान की क्रिया या फल।

अनुमेय— अनुमान का विषय।

अनुभव— ज्ञान।

अन्यतम— सब में से कोई एक।

अन्यतर— दो में से कोई एक।

अन्वीक्षा— न्याय।

अपरिणामी— नित्य, कूटस्थ।

अभिलाष्य— कथ्य, वाच्य।

अभ्यस्त— परिचित।

अर्थ— पदार्थ, वस्तु, प्रयोजन।

अविसंवाद— निर्विवाद, सत्य।

अव्युत्पन्न— अज्ञानी, नासमझ।

आप्त— सत्य वक्ता।

आर्हत— जैन।

आलाप— कथन।

आलापपद्धति— कथन की विधि।

औष्ण्य— उष्णता, गर्माहट।

उपपन्न— उचित, सहित, प्राप्त।

उपेक्षा— वीतरागता।

उपेत— सहित।

ऊह— तर्क।

करण— साधन, इन्द्रियाँ ।
 कापिल— सांख्य ।
 कुलाल— कुम्हार ।
 कृतक— किया गया, कृत्रिम ।
 गमक— बतानेवाला, ज्ञापक ।
 चाक्षुष— चक्षु इन्द्रिय का विषय ।
 तत्त्वाधिगम— तत्त्वज्ञान ।
 तर्कशास्त्र— न्यायशास्त्र ।
 ताथागत— बौद्ध ।
 धर्म— गुण ।
 धर्मी— गुणी, धर्म का आधार ।
 धूमध्वज—अग्नि ।
 निःश्रेयस— परमकल्याण, मोक्ष ।
 निदर्शन— दृष्टांत, उदाहरण ।
 निबन्धन— कारण ।
 निराकृति— निराकरण, खंडन ।
 निरास— निराकरण, खंडन ।
 निश्चायक— निश्चय करानेवाला ।
 परिच्छिन्ति— ज्ञान ।
 परिच्छेदय— ज्ञेय ।
 परिणामी— अनित्य, क्षणभंगुर ।
 परिहार— निराकरण, खंडन ।
 परीक्षा— न्याय ।
 परीक्षामुख— न्याय का प्रवेशद्वार ।
 प्रतिज्ञा— पक्ष का वचन ।
 प्रतिपत्ति— ज्ञान, प्राप्ति ।
 प्रतिपाद्य— प्रतिपादनयोग्य विषय/श्रोता ।
 प्रतिवादी— निराकरण करनेवाला ।
 प्रतिविहित— निराकरण किया गया ।
 प्रतीति— ज्ञान ।
 प्रत्यय— ज्ञान ।

प्रत्ययांतर— ज्ञानांतर, अन्य ज्ञान ।
 प्रत्यायन— ज्ञापन ।
 प्रपंच— विस्तार ।
 प्रमा— ज्ञान, ज्ञान का फल ।
 प्रमाण— सम्यग्ज्ञान ।
 प्रमाता— ज्ञाता ।
 प्रमिति— ज्ञप्ति, प्रमाण का फल ।
 प्रमेय— प्रमाण का विषय ।
 प्रसिद्ध— प्रमाण से सिद्ध ।
 बाल— अज्ञानी ।
 महानस— रसोईघर ।
 महाहृद— महासागर ।
 मान— ज्ञान, प्रमाण ।
 मित— सीमित, अल्प ।
 मुग्धबुद्धि— अज्ञानी ।
 मेय— प्रमेय ।
 यमलक— जुड़वां, जोड़ी का ।
 युक्ति— न्याय ।
 यौग— नैयायिक-वैशेषिक, योगमती ।
 रजत— चाँदी ।
 रथ्यापुरुष— सड़कछाप आदमी, अज्ञानी ।
 लक्ष्म— लक्षण, चिह्न ।
 लिंग— चिह्न, साधन ।
 लोकायत— चार्वाक ।
 वह्नि— अग्नि ।
 वाद— न्याय, कथन, मान्यता ।
 वादी— वक्ता, प्रस्तोता, माननेवाला ।
 विच्छिन्ति— नाश ।
 विशद— निर्मल, स्पष्ट ।
 विहित— कहा गया है ।
 वेदन— ज्ञान ।

वैशद्य— विशदता, निर्मलता, स्पष्टता।	संवेदन— ज्ञान।
व्यभिचार— अन्यथा सिद्धि, नियमोल्लंघन।	समक्ष— प्रत्यक्ष।
व्यवधान— सहायता।	समीक्षा— न्याय।
व्यवसाय— निर्णय।	साक्षात्— प्रत्यक्ष।
व्यवसायात्मक— निर्णयात्मक।	सुधादीधिति— चन्द्रमा।
व्याप्ति— अविनाभाव का नियम।	सूक्ति— सीप।
व्यावृत्ति— निराकरण, खंडन।	सौगत— बौद्ध।
व्युच्छेद— निराकरण, खंडन।	हान— त्याग।
व्युत्पन्न— ज्ञानी, समझदार।	हुतभुज— अग्नि।
शिशपा— सीसम।	हेतु— साधन, ज्ञापक कारण।
शैत्य— शीतलता।	हेतुविद्या— अनुमानशास्त्र, न्यायशास्त्र।
श्रावण— कर्ण इन्द्रिय का विषय।	हृद— समुद्र, जलाशय।
संवित्ति— ज्ञान।	

जैन न्याय के कतिपय प्रमुख पर्यायवाची शब्द—

1. आन्वीक्षिकी, न्याय, परीक्षा, समीक्षा, युक्ति, हेतुविद्या, तर्कशास्त्र।
2. ज्ञान, प्रत्यय, अनुभव, मान, अधिगम, प्रतीति, संवित्ति, परिच्छित्ति।
3. निराकरण, निरास, व्यवच्छेद, खंडन, परिहार, व्यावृत्ति।
4. अक्ष, इन्द्रिय, करण।
5. प्रत्यक्ष, अध्यक्ष, समक्ष, साक्षात्।
6. विशद, निर्मल, स्पष्ट, साकार, अंजसा।
7. हेतु, साधन, लिंग, चिह्न।
8. अग्नि, वह्नि, धूमध्वज, वैश्वानर, पावक।
9. सौगत, बौद्ध, ताथागत।
10. विहितं, उदितं, कथितं, प्रथितं, गदितं, निगदितं, वर्णितं।



आचार्य माणिक्यनंदि को प्रणाम हो

अकलंकवचोम्भोधेरुद्ग्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥

—(आचार्य अनंतवीर्य, प्रमेयरत्नमाला, मंगलाचरण, 2)

अर्थ— जिन्होंने आचार्य अकलंक के वचनरूपी समुद्र को मथकर न्यायविद्यारूपी अमृत का उद्धार किया है, उन बुद्धिमान आचार्य माणिक्यनंदी को मेरा नमस्कार हो।

परिशिष्ट

विद्यार्थी के षट् आवश्यक

वाचनं श्रवणं भक्त्या, स्मरणं पृच्छनं पुनः।
लेखनं पाठनञ्चापि, षट्कर्माणि दिने दिने ॥

यह श्लोक मैंने अपने प्रिय विद्यार्थियों के लिए लिखा है। इसमें विद्यार्थी के दैनिक षट् आवश्यक कर्म बताने का प्रयास किया गया है। शास्त्रों में श्रावक एवं श्रमण (साधु) के षट् आवश्यक कर्म बताये गये हैं और उनके नित्य अनिवार्यरूप से पालन करने की बारम्बार प्रेरणा भी दी गई है। यहाँ मैंने उसी तर्ज पर विद्यार्थी के षट् आवश्यक कर्मों का विधान बनाने का प्रयास किया है। मुझे विश्वास है कि जो विद्यार्थी इन षट् आवश्यक कर्मों का नित्य पालन करेगा, वह अवश्य ही उत्तम विद्यार्थी सिद्ध होगा, अतः सभी विद्यार्थियों को इन षट् आवश्यकों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। विद्यार्थी के षट् आवश्यक कर्म निम्नलिखित हैं— 1. वाचन (अध्ययन), 2. श्रवण, 3. स्मरण, 4. पृच्छन, 5. लेखन और 6. पाठन।

मैंने प्रायः देखा है कि कुछ विद्यार्थी सुनते तो बहुत हैं, पर हमेशा केवल सुनते ही सुनते रहते हैं बस, कभी मूल ग्रन्थों को उठाकर आद्योपांत पढ़ते नहीं हैं, जबकि पढ़ने से ही मूल विषयवस्तु सांगोपांग भलीभांति समझ में आती है, मात्र दूसरों से सुनने से काम नहीं चलता। अतः उत्तम विद्यार्थी का प्रथम आवश्यक कर्म है कि वह नित्य कुछ क्रमबद्ध रीति से अध्ययन करे, शास्त्रों का निर्दोष वाचन करे। इससे विद्यार्थी में अनेक गुण विकसित होते हैं।

इसी प्रकार कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं जो पढ़ते तो हैं, पर हमेशा केवल पढ़ते ही पढ़ते रहते हैं, कभी किसी विद्वान् को सुनते नहीं हैं, जबकि ज्ञानी जनों को सुनने से बहुत गहरा ज्ञान प्राप्त होता है, शास्त्रों में लिखित शब्दों की गूढ़ता और व्यापकता का अनुमान विद्वान् वक्ताओं को सुनने से ही लगता है। अतः उत्तम विद्यार्थी का यह भी एक आवश्यक कर्म है कि वह नित्य विद्वज्जनों के व्याख्यान आदि का श्रवण भी अवश्य करे। इससे भी विद्यार्थी में अनेक गुण विकसित होते हैं। तथा यह श्रवण भी यदि किसी एक ही वक्ता का न होकर अनेक विविध वक्ताओं का हो तो विशेष लाभदायक सिद्ध होता है, क्योंकि उससे हमारे अन्दर अनाग्रही एवं समीक्षात्मक दृष्टि का विकास होता है।

कुछ विद्यार्थी पढ़ते भी हैं, सुनते भी हैं, पर कभी लक्षण, परिभाषा, भेदोपभेद, गाथा, श्लोक आदि कुछ कंठस्थ नहीं करते हैं। यह बहुत बड़ी कमी है। इसके कारण वे विषयवस्तु की ठीक से परीक्षा, तुलना आदि नहीं कर पाते हैं। पिछला पाठ याद रहे तभी अगला ठीक से समझ में आता है। अतः स्मरण करना, कंठस्थ करना भी उत्तम विद्यार्थी का एक दैनिक आवश्यक कर्म होना चाहिए।

कुछ विद्यार्थी पढ़ते भी हैं, सुनते भी हैं, कुछ-कुछ स्मरण भी करते हैं, पर कभी कुछ पूछते ही नहीं हैं। या तो वे बहुत संकोची होते हैं या विषय पर गहरा चिन्तन ही नहीं करते हैं। ऐसे ही शांत, उदास भाव से सब कुछ पढ़ते-सुनते रहते हैं, उन्हें कभी कोई जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं होती। परन्तु इससे उनके अंतर्मन की शल्य दूर नहीं होती। अतः संकोच छोड़कर सक्रिय होकर बारम्बार अनेक प्रश्न पूछना चाहिए। इससे विषय स्पष्ट होता है। कुछ विद्यार्थी कहते हैं कि हमें विषय समझ में आ गया अतः हम कुछ नहीं पूछते; परन्तु गहराई से देखो तो ऐसा नहीं होता है, कहीं-न-कहीं कुछ कमी रहती ही है, यदि वे गहराई से चिन्तन करें तो अवश्य कुछ जिज्ञासा उत्पन्न होती है। तथा यदि समझ में आ गया हो तब भी उसे यदि फिर से पूछा जाए तो विषय का विशेष स्पष्टीकरण होता है, अतः पूछना भी अवश्य चाहिए। हाँ, केवल किसी वक्ता की परीक्षा लेने की दुर्भावनावश कुछ नहीं पूछना चाहिए।

कुछ विद्यार्थी पढ़ते भी हैं, सुनते भी हैं, स्मरण भी करते हैं, पूछते भी हैं, पर कभी कुछ लिखते नहीं हैं, इसलिए उन्हें अपने ज्ञान का कच्चापन पता नहीं चलता है। किसी भी विषय को जब हम स्वयं लिखने बैठते हैं, तब हमें पता चलता है कि हम कितने गहरे पानी में हैं। अतः प्रतिदिन थोड़ा-बहुत लिखना भी अवश्य चाहिए। लिखने से हमारा ज्ञान सुव्यवस्थित होता है। अतः लेखन को भी उत्तम विद्यार्थी का एक आवश्यक कर्म समझना चाहिए। लेखन से तात्पर्य यहाँ कोई यूँ ही इधर-उधर से कुछ भी लिख लेना या सामान्य नोट्स बना लेना मात्र नहीं है, अपितु किसी शीर्षक से लेख, निबन्ध आदि व्यवस्थित रचना तैयार करना है। इसी से विद्या परिपक्व होती है। (पुनश्च, यदि कदाचित् कोई विद्यार्थी बिल्कुल ही कुछ नहीं लिख पा रहा हो तो उसे नित्य अपनी डायरी में लिखते रहना चाहिए कि आज उसने क्या पढ़ा-सीखा।)

कुछ विद्यार्थी पढ़ते भी हैं, सुनते भी हैं, स्मरण भी करते हैं, पूछते भी हैं, लिखते भी हैं, पर कभी कुछ दूसरों को पढ़ाते नहीं हैं, किन्तु पढ़ाना भी उत्तम विद्यार्थी का एक दैनिक आवश्यक कर्म है, क्योंकि पढ़ाने से विद्या बहुत वृद्धिगत होती है। पढ़ाना पढ़ने का ही एक उत्तम प्रकार है— **Teaching is the best way of learning**. दूसरों को पढ़ाने से विषय पर पर्याप्त ऊहापोह होता है और उससे विषय का हर पक्ष भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, उसमें कहीं कोई शंका शेष नहीं रहती। अतः उत्तम विद्यार्थी को प्रतिदिन थोड़ी देर दूसरों को पढ़ाना भी अवश्य चाहिए। पढ़ाने के लिए यदि अन्य कोई न मिले तो अपने ही मित्रों या परिवार जनों को पढ़ाना चाहिए, पर पढ़ाना अवश्य चाहिए। इससे अनेकानेक लाभ होते हैं।

इस प्रकार मेरा अनुभव है कि जो विद्यार्थी उक्त षट् आवश्यक कर्मों का नित्य सेवन करेगा वह निश्चय ही उच्च कोटि का विद्वान् बनेगा और भलीभाँति स्व एवं पर दोनों का हित सम्पादन करेगा। ऐसा विद्यार्थी जगत् में मंगलस्वरूप होगा, त्रिलोकपूज्य बनेगा। ऐसे विद्यार्थी को मेरा भी विनम्र प्रणाम हो।



